इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ

BHIC-133

भारत का इतिहास
C. 1206-1707

“शिक्षा मानव को बन्धनों से मुक्त करती है और आज के युग में तो लोकतंत्र की भावना का आधार भी है। जन्म तथा अन्य कारणों से उत्पन्न जाति एवं वर्गगत विषमताओं को दूर करते हुए मनुष्य को इन सबसे ऊपर उठाती है।”

– इन्दिरा गाँधी

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

“Education is a liberating force, and in our age it is also a democratising force, cutting across the barriers of caste and class, smoothing out inequalities imposed by birth and other circumstances.”

- Indira Gandhi

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ

BHIC-133

भारत का इतिहास
C. 1206-1707

सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

विशेषज्ञ समिति

पाठ्यक्रम संयोजक : प्रो. आभा सिंह

पाठ्यक्रम संयोजन दल

प्रो. आभा सिंह **डॉ. दिव्या सेठी**

पाठ्यक्रम निर्माण दल

इकाई सं.	इकाई लेखक	अनुवादक
1	प्रो. आभा सिंह सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली	श्रीमती अनीता चौधरी नई दिल्ली
2	डॉ. इफ्तिखार अहमद खां, इतिहास विभाग, एम.एस. बड़ौदा विश्वविद्यालय, बड़ौदा; डॉ नीलांजन सरकार, फैलो, स्कूल ऑफ ओरिएन्टल एंड अफ्रीकन स्टडीज, लंदन और प्रो. रविंद्र कुमार, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली	श्री मोज़ेज़ माइकेल एवं श्रीमती ऊषा मलिक नई दिल्ली
3	डॉ फिरदौस अनवर, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली; प्रो. सुनीता ज़ैदी, इतिहास तथा संस्कृति विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली और प्रो. आभा सिंह, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली	श्रीमती सीमा कुमारी; श्री जफ़र नकवी; श्रीमती ऊषा मलिक; और श्री आरिफ सम्मा नई दिल्ली
4	डॉ. संगीता पांडे और प्रो. आभा सिंह, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली	श्रीमती सीमा कुमारी; श्री जफ़र नकवी; श्रीमती ऊषा मलिक; श्री आरिफ सम्मा; और श्री ऋषि कांत चतुर्वेदी, नई दिल्ली
5	प्रो. इक्तिदार हुसैन सिद्दीकी, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़; डॉ. मीना भार्गवा, इंद्रप्रस्थ कॉलेज, दिल्ली	श्रीमती सीमा कुमारी और श्री ऋषि कांत चतुर्वेदी, नई दिल्ली
6	डॉ. मीना भार्गव, इंद्रप्रस्थ कॉलेज, दिल्ली; प्रो. मंसूरा हैदर और प्रो. आर. ए. अलवी, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ; प्रो. इनायत अली ज़ैदी, इतिहास एवं संस्कृति विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली; प्रो. सीमा अलवी, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली और प्रो. आभा सिंह, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली	श्रीमती सीमा कुमारी नई दिल्ली
7	डॉ. किरण दत्तार, जानकी देवी महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली और डॉ. राजीव शर्मा, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़	श्री जफ़र नकवी; श्री मोज़ेज माइकेल और श्रीमती ऊषा मलिक, नई दिल्ली
8	प्रो. अनिरुद्ध रे, इस्लामिक इतिहास तथा संस्कृति विभाग, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, कोलकाता और प्रो. आभा सिंह, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली	श्रीमती अनीता चौधरी; और श्रीमती ऊषा मलिक नई दिल्ली
9	प्रो. अनिरुद्ध रे, इस्लामिक इतिहास तथा संस्कृति विभाग, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, कोलकाता; प्रो. शीरीन भूमवी, इतिहास विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़ और डॉ. किरण दत्तार, जानकी देवी महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	श्री जफ़र नकवी; श्री आरिफ सम्मा; और श्रीमती ऊषा मलिक नई दिल्ली

10	प्रो. शीरीन मूसवी, इतिहास विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़; प्रो. सुनीता ज़ैदी, इतिहास तथा संस्कृति विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली; डॉ. किरण दत्तार, जानकी देवी महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली और प्रो. ए. आर. खान, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली	श्री जफ़र नकवी; श्री आरिफ सम्मा; और श्रीमती सीमा कुमारी नई दिल्ली
11	प्रो. शीरीन मुसवी, इतिहास विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़; प्रो. सुनीता ज़ैदी, इतिहास तथा संस्कृति विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली और प्रो. ए. आर. खान, इतिहास संकाय, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली	श्री जफ़र नकवी; श्री आरिफ सम्मा; और श्रीमती सीमा कुमारी
12	प्रो. शीरीन मूसवी, इतिहास विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़; और प्रो. ए. आर. खान, इतिहास संकाय, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली	श्री आरिफ सम्मा; श्री जफ़र नकवी; और श्रीमती सीमा कुमारी
13	प्रो. शीरीन मूसवी, इतिहास विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़; प्रो. के. एस. मैथ्यू, इतिहास विभाग, पांडिचेरी विश्वविद्यालय, पांडिचेरी और प्रो. ए. आर. खान और प्रो. आभा सिंह, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली	श्री आरिफ सम्मा; श्री जफ़र नकवी; श्रीमती सीमा कुमारी और श्री ऋषि कांत चतुर्वेदी नई दिल्ली
14	प्रो. ए. जान कैसर इतिहास विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़	श्री आरिफ सम्मा; श्री जफ़र नकवी; और श्रीमती सीमा कुमारी, नई दिल्ली
15	प्रो. शीरीन मूसवी, इतिहास विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़; और प्रो. ए. आर. खान, प्रो. रविन्द्र कुमार तथा प्रो. आभा सिंह, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली	श्री आरिफ सम्मा; श्री जफ़र नकवी; और श्रीमती सीमा कुमारी नई दिल्ली
16	प्रो. आर. पी. बहुगुणा इतिहास तथा संस्कृति विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली; और डॉ. फिरदौस अनवर, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	श्रीमती सीमा कुमारी; श्री आरिफ सम्मा; श्री मनीश्वर यादव; श्री चन्द्रशेखर; और कु. शहनाज़ बानो, नई दिल्ली
17	प्रो. रविन्द्र कुमार इतिहास संकाय, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली	श्रीमती सीमा कुमारी; श्री आरिफ सम्मा; श्री मनीश्वर यादव; श्री चन्द्रशेखर; और कु. शहनाज़ बानो, नई दिल्ली
18	डॉ. प्रियंका खन्ना हयूमेनिटीस एंड सोशल सांइसेज़, जी. डी. गोयनका यूनिवर्सिटी, हरियाणा	श्रीमती अनीता चौधरी नई दिल्ली

सामग्री एवं प्रारूप संपादन

प्रो. आभा सिंह
इतिहास संकाय
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

डॉ. दिव्या सेठी
इतिहास संकाय
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

हिन्दी संयोजक : प्रो. आभा सिंह और डॉ. दिव्या सेठी

आवरण सज्जा साभार

फोटो साभार : Stevekc (हज़ारा रामा मंदिर पैनल)
सोहम बैनर्जी (कुव्वत-उल इस्लाम मस्जिद)

फोटो स्रोत : विकीमीडिया कॉमन्स
https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Quwwat-al-Islam_Mosque,_Delhi.jpg
https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Evidence_of_Vijaynagar_pomp.jpg

मुद्रण प्रस्तुति

श्री तिलक राज
सहायक कुलसचिव (प्रकाशन)
एम.पी.डी.डी., इग्नू, नई दिल्ली

श्री यशपाल
सहायक कुलसचिव (प्रकाशन)
एम.पी.डी.डी., इग्नू, नई दिल्ली

आवरण सज्जा

सुश्री अरविन्दर चावला
ग्राफिक डिज़ाइनर
नई दिल्ली

फरवरी, 2021

ISBN: 978-93-90773-85-5

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों से सम्बन्धित और अधिक सूचना मैदान गढ़ी, नई दिल्ली स्थित विश्वविद्यालय के कार्यालय से प्राप्त की जा सकती है।

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली की ओर से कुलसचिव, एमपीडीडी, इग्नू द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेज़र टाइपसेट : डी. के. प्रिंटर्स, 5/37 ए, कीर्ति नगर, इंडस्ट्रियल एरिया, नई दिल्ली-110 015

मुद्रक : डी. के. प्रिंटर्स, 5/37 ए, कीर्ति नगर, इंडस्ट्रियल एरिया, नई दिल्ली-110 015

पाठ्य विवरण

पाठ्यक्रम अध्ययन संबंधी दिशानिर्देश

इस पाठ्यक्रम में हमने अध्ययन सामग्री के प्रस्तुतिकरण का समरूप पैटर्न अपनाया है। यह पाठ्यक्रम परिचय से प्रारम्भ होता है, जिसमें कालक्रमानुसार विकास के महत्वपूर्ण चरणों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें 4 विशिष्ट खंड हैं जिन्हें 18 इकाइयों में बांटा गया है। अध्ययन की सुविधा के लिए इकाइयों की संरचना एक समान रखी गई है। इकाई के प्रथम भाग, उद्देश्य का प्रयोजन आपको इकाई के अध्ययन से संबंधित विशिष्ट मुद्दों से अवगत कराता है। कृपया इन उद्देश्यों को ध्यान से पढ़िए और प्रत्येक इकाई के भाग को पढ़ने के बाद खुद पुनः उस पर चिन्तन कीजिए। इकाई की प्रस्तावना आपको इकाई की विषय-वस्तु से परिचित कराती है तथा आपको इकाई की विषय-वस्तु के संबंध में दिशा-निर्देश देती है। तत्पश्चात् पाठ्यक्रम की सुगमता के लिए विभिन्न भागों तथा उपभागों में मुख्य विषय की चर्चा की गई है। इकाई के बीच में बोध प्रश्न दिए गए हैं। हमारा निवेदन है कि आप जब भी इन प्रश्नों तक पहुँचें, इन्हें अवश्य पढ़ें तथा हल करें। यह न केवल आपको, आपके स्वयं अध्ययन के मूल्यांकन में सहायक होगा, बल्कि इससे आप यह भी जांच सकेंगे कि आपने विषय विशेष को कितना समझा। अपने उत्तर की जांच आप सारांश के बाद दिए गए उत्तर संबंधित मुख्य बिंदुओं से कीजिए। प्रत्येक इकाई के अंत में शब्दावली प्रदान की गई है, जिसे इकाई में बोल्ड में दर्शाया गया है। प्रत्येक इकाई के अंत में संदर्भ ग्रंथ सूची प्रदान की गई है। इस सूची में उन स्रोतों तथा ग्रंथों की चर्चा की गई है जो आपके अध्ययन के लिए उपयोगी हैं अथवा अध्ययन सामग्री के निर्माण के दौरान प्रयुक्त की गयी है। आप उन पर अवश्य नज़र डालें। हमने कुछ शैक्षणिक वीडियो अध्ययन समझ को बढ़ाने के लिए दिए हैं। कृपया आप इन वीडियो को देखें, यह आपकी संबंधित विषय-वस्तु की व्यापक समझ को बढ़ाने में सहायक होगा।

पाठ्यक्रम परिचय

भारतीय इतिहास का प्राचीन, मध्यकाल एवं आधुनिक भागों में किए जाने वाले कालक्रम आधारित विभाजन पर कोई विवाद नहीं है, वास्तव में हम इस विभाजन को छोड़ ही नहीं सकते। लेकिन उस समय मुश्किलें पैदा होती हैं जब हम प्राचीन काल का अभिप्राय ''हिन्दू'', मध्यकाल का ''मुसलमान'' तथा आधुनिक को ''ब्रिटिश'' कालों से समझते हैं। लेकिन कालक्रम का विभाजन करते समय सबसे कठिन समस्या उस ''तारीख'' को सुनिश्चित करने में होती है कि अमुक काल का प्रारम्भ किस से हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन भारत का अन्त कब हुआ और मध्यकाल का प्रारम्भ कब? आधुनिक युग के प्रारम्भ की क्या तारीख होगी? यह स्वीकार्य है कि इस समस्या का समाधान करने के लिए कोई वैज्ञानिक तारीख नहीं बतायी जा सकती। सम्भवतः यही कारण है कि कालक्रम की इस गंभीर समस्या का सरलता के साथ समाधान करने के लिए, जानबूझकर अथवा अन्य रूप से, कुछ लोग इस तरह के कालक्रम को अपना लेते हैं जिसके अनुसार हिन्दू, मुस्लिम एवं ब्रिटिश कालों को श्रेणीबद्ध करने में कोई विशिष्ट अन्तर नहीं होता। घटनात्मक तौर पर इन तीनों कालों को विदेशी आक्रमणों – आर्यों, तुर्कों, एवं अंग्रेजों के आक्रमणों के रूप में विभाजित किया जा सकता है!

इस बहस को छोड़ते हुए हम अपने विवेचन के साथ आगे बढ़ते हैं कि भारत पर सबसे पहला महत्वपूर्ण मुस्लिम सैनिक आक्रमण सन् 712 में किया गया, जबकि मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध के शासक दाहिर को पराजित किया। इस विजय को हम उस नये 'युग' का आगमन मान सकते हैं जिसके बाद – महमूद गजनवी से शहाबुद्दीन मुहम्मद गौरी तक – आक्रमणों की एक लम्बी श्रृंखला का प्रारम्भ हुआ। यदि तराइन का 1192 का दूसरा युद्ध भारत के राजनीतिक भाग्य के लिए अमंगल का सूचक था, वहीं सन् 1206 भारतीय इतिहास में एक निर्णायक मोड़ साबित हुआ जब कुतबुद्दीन ऐबक प्रथम सुल्तान बना।

जब दोनों संस्कृति-समूह आमने-सामने आये तब उसके कई बार आश्चर्यजनक तो कभी-कभी आशा के विपरीत परिणाम हुए। इस तरह के सांस्कृतिक टकराव इससे पूर्व की सदियों में भी हो चुके थे, लेकिन तुर्कों और उस समय के भारतवासियों के बीच जो अन्तः क्रिया हुई वह भिन्न प्रकृति की थी। जिस समय भारत में सल्तनत की शक्ति का सुदृढ़ीकरण हो रहा था उस समय राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में अति महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। यद्यपि हमारी साम्प्रदायिकता जैसी कुछ वर्तमान समस्याओं की जड़ों को उसी काल में निहित माना जाता है लेकिन हम इस वास्तविकता की भी अनदेखी नहीं कर सकते हैं कि साम्प्रदायिक सौहार्द के तत्वों और प्रवृत्तियों का मिलन भी इसी काल की मुख्य विशेषता थी। बहुत से अन्य पक्षों सहित इन कृत्रिम विपरीत परिणामों के इतिहास को आप इस पाठ्यक्रम से संबंधित खंडों में पढ़ेंगे।

वास्तविकता यह है कि एक विदेशी सांस्कृतिक समुदाय (तुर्क, अफगान और मुगल) जो कि अपनी समस्त विशेषताओं के साथ भारतीय उपमहाद्वीप के पश्चिमी सीमांतों से ताल्लुक रखता था, भारतीयों के संपर्क में आया और धीरे-धीरे उसने राजनीतिक सर्वोच्चता पाई। इस स्थिति में विदेशी और देशीय सांस्कृतिक ढ़ांचे और मूल्यों में स्वाभाविक रूप से आदान-प्रदान हुआ और सामंजस्य और टकराव की परस्पर विरोधी प्रवृत्ति सामने आई। बाबर द्वारा 1526 में पानीपत के युद्ध में सुल्तान इब्राहिम लोदी को हराकर मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद भी यह प्रक्रिया चलती रही।

यह पाठ्यक्रम दिल्ली सल्तनत के उद्भव की चर्चा करता है। यह पाठ्यक्रम आपको मुगल साम्राज्य के इतिहास से भी परिचित करायेगा। कुछ लेखनों में 'मुगल' शब्द को शक्ति, ऐश्वर्य और चमक-दमक के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया है। इस काल में कला और स्थापत्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय विकास हुआ। इस काल में भारत का एकीकरण हुआ

और कई गैर-मुगल राज्य एक केन्द्रीकृत सत्ता के अधीन लाए गये, चाहे उन पर नियंत्रण कितना ही शिथिल और कमजोर रहा हो, यह भारतीय इतिहास का अन्य महत्वपूर्ण पहलू है। 1526 में मुगल साम्राज्य की स्थापना और 1492 में समुद्री मार्ग से प्रथम यूरोपीय राष्ट्र (पुर्तगालियों) का आगमन विशिष्ट रूप से महत्वपूर्ण है। यह दूसरा अन्य अवसर था, अपने में अनूठा, जब पहली बार भारत और यूरोप के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ।

प्रथम खंड आपको मध्यकाल में इतिहास लेखन की धारा से अवगत कराता है। यह आपको दिल्ली सल्तनत की स्थापना; तुर्की सत्ता की स्थापना के समय भारत की राजनीतिक तथा सामाजिक-आर्थिक स्थिति से परिचय कराता है। चूंकि इसके संस्थापक तुर्क थे, यहां मध्य एशिया के उन भौगोलिक स्थानों का भी चित्रण किया गया है जहां पर तुर्क तथा मंगोल रहते थे। यह खंड भारत में नवीन राजनीतिक शक्ति की स्थापना तथा दिल्ली सल्तनत के क्षेत्रीय प्रसार तथा इसके सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया का भी अध्ययन कराता है। यह पाठ्यक्रम उत्तर भारत के अनेक भागों में दिल्ली सल्तनत के कमजोर पड़ने पर क्षेत्रीय शक्तियों के उदय पर भी प्रकाश डालता है। यह विजयनगर तथा बहमनी राज्य की राजनीति पर भी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करता है। मुगल राजनीति पर आधारित इकाइयाँ मुगलों के भारत आगमन से ठीक पहले उपमहाद्वीप के पश्चिमी सीमांत प्रदेशों की स्थिति और राजनीतिक पृष्ठभूमि से परिचित कराती हैं। बाबर को किन-किन समस्याओं का सामना अपनी मातृभूमि में करना पड़ा; उत्तरी भारत में उसकी सफलता तथा राजपूतों, अफगानों आदि के साथ उसके संबंधों के बारे में आप जान सकेंगे। इस इकाई में उसके पुत्र हुमायूँ की तीन प्रमुख समस्याओं का भी विवरण दिया गया है – उसका शेरशाह, गुजरात के बहादुरशाह एवं उसके स्वयं के भाइयों के साथ संघर्ष। इस इकाई में उन परिस्थितियों का भी विवरण दिया गया है जिनके कारण उसको भारत छोड़कर ईरान में शरण लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। इसके अतिरिक्त किस प्रकार उसने स्वयं को दिल्ली में पुनः स्थापित किया, इसकी भी चर्चा की गई है। इसमें 1707 तक मुगल साम्राज्य के उद्भव, विस्तार तथा सुदृढ़ीकरण की विवेचना की गई है। इसमें ईरान और मध्य एशिया के साथ मुगलों के संबंधों का भी परीक्षण किया गया है। मुगलों और दक्खनी राज्यों के संबंधों का भी परीक्षण किया गया है। इसमें दक्खनी राज्यों के प्रति मुगलों की सोच और उनसे निपटने में उनके उद्देश्यों की चर्चा की गयी है। धीरे-धीरे ही सही पर दक्खन में परिस्थितियों ने कुछ इस तरह करवट ली कि मुगलों ने अंततः तीनों राज्यों (अहमदनगर बीजापुर, गोलकोंडा) को मुगल साम्राज्य में मिला लिया। मुगलों और राजपूत राज्यों के संबंधों के कई स्वरूपों से आप् परिचित होंगे; इनमें से कई अवलोकन असामान्य भी लगेंगे।

दूसरे खंड में सल्तनत और मुगल प्रशासन का वर्णन किया गया है। **इकाई 7** में केन्द्रीय, प्रांतीय और स्थानीय स्तर के सल्तनत और मुगल प्रशासन का संक्षिप्त ब्यौरा प्रस्तुत किया गया है। इस क्रम में आप उन महत्वपूर्ण अधिकारियों के बारे में जान सकेंगे जिनकी कार्यकुशलता पर साम्राज्य की नींव टिकी हुई थी। अगली दो **इकाइयों (8-9)** में सल्तनत तथा मुगल राज्य व्यवस्था की आधारभूत संस्थाओं *इक्ता, मनसब* और *जागीरदारी* की जानकारी दी गई है। इन्हीं संस्थाओं पर सल्तनत तथा मुगल शासक वर्ग का अस्तित्व निर्भर था। *इक्ता, मनसब* तथा *जागीर* व्यवस्थाएँ सल्तनत तथा मुगल भू-राजस्व प्रणाली तथा प्रशासन का अंतरंग हिस्सा थीं। वस्तुतः जब तक भू-राजस्व व्यवस्था सुचारू रूप से कार्य करती रही तब तक यह सल्तनत और मुगल शक्ति, समृद्धि और प्रसार का आधार बनी रही। इसमें दरार उत्पन्न होते ही इस पर आधारित व्यवस्था अर्थात् – *इक्ता, मनसब* तथा *जागीर* और इसके साथ-साथ साम्राज्य की सैन्य शक्ति पर भी संकट आ गया।

खंड 3 में आपका परिचय कृषि व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों, शहरी अर्थव्यवस्था के स्तर में वृद्धि तथा व्यापार, वाणिज्य एवं मुद्रा के प्रसार जैसे महत्वपूर्ण विषयों से कराया गया है। इस खंड में आपको नयी शिल्पकला, विशेषकर तकनीकी के उन साधनों की

भी जानकारी होगी जिनको तुर्क भारत में लाये थे। **इकाई 11** में कृषीय और गैर-कृषीय उत्पादन की चर्चा की गई है। आप कृषि उत्पादन के क्षेत्र में विभिन्न फसलों के बारे में पढ़ेंगे। यूरोपीय भारत में कुछ नयी फसलें (उदाहरण के लिए तम्बाकू) लेकर आए थे। यूरोप में माँग बढ़ने के कारण नील जैसी स्थापित फसलों के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई। यह गौर करने की बात है कि अधिकांश 'गैर-कृषि' क्षेत्र का उत्पादन कृषि क्षेत्र पर निर्भर करता था। मसलन कपड़ा के लिए कपास, नीले रंग के लिए नील, चीनी के लिए गन्ना, तिलहन से तेल आदि। कृषक समुदायों की स्थिति और उनके आपसी सम्बन्धों के बारे में भी आप जानेंगे। यहाँ आप *ज़मींदार, चौधरी, मुकद्दम* और *पटवारी* के विषय में जानेंगे। आप किसानों के अधिकारों और ग्रामीण समुदायों के बारे में भी अध्ययन करेंगे।

इकाई 10-11 में दिल्ली सुल्तानों तथा मुगल साम्राज्य की भू-राजस्व प्रणाली तथा कृषि संबंधों का वर्णन किया गया है। इसमें सल्तनत तथा मुगल प्रशासन की वित्तीय और मुद्रा संबंधी नीतियों पर भी प्रकाश डाला गया है। इसमें दिल्ली सल्तनत तथा मुगल भू-राजस्व व्यवस्था के विभिन्न आयामों – किसानों द्वारा देय राजस्व राशि की निर्धारण विधि, राजस्व की मांग, भुगतान का माध्यम (नगद या वस्तु के रूप में), राजस्व वसूल करने में संलग्न कार्मिक, राजस्व में राहत, आदि का उल्लेख किया गया है। यह यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों के आगमन तथा भारत के देशी और विदेशी व्यापार की गाथा भी प्रस्तुत करती है। **इकाई 12** में आंतरिक (प्रांतीय और अंतर-प्रांतीय) व्यापार की चर्चा की गई है। इसमें विभिन्न व्यापारिक समुदायों (महाजनों, सर्राफों, दलालों, छोटे और बड़े व्यापारियों) पर विचार किया गया है। इस अध्ययन के दौरान आप ब्याज की दर, बीमा और साझेदारी जैसी वाणिज्यिक प्रथाओं और अन्य व्यापारिक संस्थाओं की भी जानकारी प्राप्त करेंगे। **इकाई 13** पुर्तगालियों के आगमन तथा एशिया के व्यापारिक संसार की गतिविधियों से संबंधित है।

इस खंड की अन्य **इकाई 14** मध्यकालीन विज्ञान और तकनीकी के विकास के स्तर की जानकारी देती है। हालांकि विज्ञान में कोई बहुत महत्वपूर्ण विकास देखने को नहीं मिलता, किंतु तकनीकी के क्षेत्र में कई महत्वपूर्ण सुधार और प्रयोग किए गए। हमने यूरोपीय तकनीकी के प्रति भारतीयों की प्रतिक्रिया पर भी प्रकाश डाला है। मध्यकालीन नगरीकरण संबंधी अध्ययन, जो कि एक नवीन प्रवृत्ति है, पर भी **इकाई 15** में चर्चा की गई है। **इकाई 15** में सोलहवीं शताब्दी के अंत में नगरीय जनसांख्यिकी की रूपरेखा को समझने की भी कोशिश की गई है। मध्यकालीन भारत में जनसंख्या संबंधी प्रत्यक्ष आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं इसलिए इतिहासकारों ने इस समस्या के समाधान के लिए कई प्रविधियों का सहारा लिया है।

आखिरी **खंड (चार)** में आपको धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों की जानकारी दी गई है। इसके अन्तर्गत भक्ति आंदोलन तथा सूफीवाद, कला एवं स्थापत्य कला, और महिलाओं की स्थिति का वर्णन किया गया है। धार्मिक विचार और आन्दोलनों की चर्चा **इकाई 16** में की गई है। आप धार्मिक विचारों और विभिन्न पंथों, विशेषकर हिन्दू और मुस्लिम रहस्यवादियों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। वे अपना अलग पंथ बनाने के लिए क्यों प्रेरित हुए इसकी संतोषजनक व्याख्या नहीं की जा सकती है। कुल मिलाकर रहस्यवादी ईश्वर में विश्वास रखते हुए मानवीय मूल्यों की बात करते थे। आप महसूस करेंगे कि 'सत्य' पर किसी एक समूह का एकाधिकार नहीं था। इन धार्मिक विचारों और आन्दोलनों में विभिन्नता थी पर आपको यह नहीं भूलना चाहिए कि इनका मूल उद्देश्य शांति और सद्भाव स्थापित करना था। **इकाई 17** में हम स्थापत्य के विभिन्न आयामों की चर्चा करेंगे। क्षेत्रीय विभिन्नताओं तथा उपलब्ध इमारतों के उदाहरणों के साथ उनकी विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया है। इकाई में चित्रकला तथा ललित कलाओं का भी अध्ययन किया गया है। इस इकाई में आप पढ़ेंगे कि किस प्रकार मुगल चित्रकला शैली का जन्म और विकास हुआ तथा यह परिपक्वता को पहुंची। मुगल शैली पर यूरोपीय शैली

के प्रभाव की भी चर्चा की गई है। क्षेत्रीय शैलियों (विशेषकर दक्खनी तथा राजपूत) की विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया है। महिलाओं तथा जैंडर (**इकाई 18**) के विषय पर विवरण के साथ पाठ्यक्रम-चर्चा समाप्त होती है।

खंड I

राजनीतिक संरचनाएँ

समय रेखा

दिल्ली सल्तनतः 1206-1526

इलबरीः 1210-1290

खलजीः 1290-1320

तुगलकः 1320-1414

सैय्यदः 1414-1451

लोदीः 1451-1526

क्षेत्रीय राज्यः 14-15वीं सदी

मालवा,जौनपुर, बंगाल,असम

ओडिशा, कश्मीर, राजपूताना, गुजरात, सिंध

विजयनगर साम्राज्यः 1336-1565

बहमनी:1347-1538

मुगल साम्राज्यः 1526-1540

बाबरः 1526-1530

हुमायूंः 1530.40; 1555-1556

सूर अंतरालः 1530-1555

मुगल साम्राज्यः 1556-1707

अकबरः 1556-1605

जहांगीरः 1605-1627

शाहजहांः 1628-1658

औरंगज़ेबः 1658-1707

इकाई 1 इतिहास लेखन की प्रवृत्तियाँ*

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

वर्तमान इकाई का उद्देश्य आपको मध्यकालीन भारत के ऐतिहासिक लेखन की परंपरा की एक व्यापक झलक प्रस्तुत करना है। इकाई को पढ़ने के बाद आप जानेंगेः

- अरबी और फारसी इतिहासलेखन की परम्पराओं और उनकी लेखन की शैलियों में अन्तर,
- भारत में/पर लिखे गए कुछ अरबी और फारसी के ऐतिहासिक ग्रंथ,
- राजवंशीय इतिहास लेखन की विशेषताएँ,
- भारत पर लिखे गए विदेशी वृत्तांतों की समझ,
- *मलफूज़ात* साहित्यक परंपरा,
- *इंशा* तथा विभिन्न कालों में *इंशा* परंपरा कैसे विकसित हुई,
- किस प्रकार मुगलों का इतिहास लेखन सल्तनत परपंरा से भिन्न था,
- आधिकारिक दस्तावेजों और आदेशों की उपलब्धता ने किस प्रकार मध्यकाल की हमारी समझ को समृद्ध किया, और
- यूरोपियों के आगमन और मध्यकालीन भारतीय इतिहास की समझ पर उनका प्रभाव।

1.1 प्रस्तावना

वर्तमान इकाई का उद्देश्य तीन बुनियादी सवालों को सम्बोधित करना हैः क) मध्यकालीन इतिहासकारों की इतिहास की समझा। इस संदर्भ में बरनी और अबुल फज़ल का बहुत महत्व है;

***प्रो. आभा सिंह, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली**

ख) दूसरा सवाल यह है कि उन्होंने क्यों लिखा? उनके लेखन का उद्देश्य क्या था? ये लेखन या तो प्रसिद्धि की इच्छा के लिए लिखे गये थे; या अपने संरक्षकों को खुश करने के लिए; और कई बार पुरस्कारों के लिए; जबकि कुछ ने भावी पीढ़ियों के लिए रिकार्ड छोड़ने के लिए लिखा; ग) तीसरा प्रमुख पहलू यह था कि उनके लेखन पर धार्मिक चर्चाओं का विशेष प्रभाव था; 'ईश्वर'; 'सर्व-शक्तिमान की इच्छा' सभी घटनाओं के लिए केन्द्रीय थी। इसका मतलब यह नहीं है कि साजिश, प्रशासन, आदि उनके लेखन का हिस्सा नहीं था।

कोई इतिहास कैसे लिखे? मध्यकाल के कुछ इतिहासकारों/इतिवृत्तकारों, विशेष रूप से ज़िया बरनी और अबुल फज़ल, को इतिहास लेखन के महत्व के बारे में पता था (हम उनके बारे में अलग भागों में चर्चा करेगें); अगर इतिहास के साथ ईमानदारी से पेश ना आया जाए तो वे इसके खतरों के बारे में जानते थे। मुगलों के साथ और भी गुणात्मक परिवर्तन आए – विशेषरूप से इस अवधि के दौरान अबुल फज़ल का व्यक्तित्व उसके द्वारा इतिहास लेखन के तर्कसंगत और धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण पर जोर देने के साथ छाया रहा।

इतिहास से तात्पर्य परिवर्तनों से है। हालांकि मध्यकालीन इतिहासकारों का ध्यान वंशवादी इतिहास पर था, फिर भी वे एक वंश से दूसरे में होने वाले परिवर्तनों के बारे में जागरूक थे और वे अक्सर विचारों, संस्थाओं और बहुधा (समूहों के बीच) सम्बन्धों के बारे में चर्चा और टिप्पणी करते हैं।

वर्तमान इकाई में, विषय की विशालता को ध्यान में रखकर, हम अपना ध्यान थोड़ा संकुचित करके व्यापक रूप से अरबी और फारसी इतिहास लेखन और विदेशी वृत्तान्तों पर केन्द्रित कर रहे हैं। हम यहाँ पुरालेख और अभिलेखों और संस्कृत की रचनाओं और प्रेमाख्यान पर भी चर्चा नहीं कर रहे हैं जो निःसंदेह इस अवधि के विकासों को समझने के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं।

1.2 अरबी और फारसी ऐतिहासिक परंपराएँ

अरबी इस्लामी विश्व की भाषा थी इसलिए इस काल में सबसे पहले उपलब्ध ऐतिहासिक लेखन अरबी में लिखा गया। के. ए. निजामी ने ठीक ही कहा है कि 'अरब परंपरा... ने लोकतान्त्रिक आदर्शों को संजोया और वह इतिहास को *राष्ट्रों की जीवन गाथा* के रूप में मानती है'। इस प्रकार उनके आख्यान न केवल शासकों, राजनैतिक घटनाओं और शिविरों की कहानी के इर्द-गिर्द घूमते हैं; बल्कि वे आम आदमी के जीवन की बात करते हैं। अरबी ऐतिहासिक परंपरा राजनैतिक और सैन्य घटनाओं के साथ-साथ सामाजिक-आर्थिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन को भी सम्मिलत करती है। और इस प्रकार यह दृष्टिकोण में अधिक लोकतान्त्रिक थी। अरबी इतिहास परंपरा को वास्तव में 'युग' के इतिहास के रूप में संदर्भित किया जा सकता है। 'वर्णनकर्ताओं की श्रृंखला' (*इसनाद*) अरबी इतिहास लेखन की एक और महत्वपूर्ण विशेषता थी। पवित्र *कुरान* को अपने मौलिक रूप में कलमबंद करने के लिए, इकट्ठी की गई परंपराओं की आलोचनात्मक रूप से छानबीन करने की आवश्यकता थी ताकि 'सबसे पवित्र सत्य' तक पहुँचा जा सके। इस सत्यापन की आवश्यकता और 'सत्य और एकमात्र सत्य' को प्रस्तुत करने की गहरी इच्छा के लिए *इसनाद* की परंपरा विकसित हुई और इसका विकास हुआ। इस संदर्भ में अल-बालादुरी (मृत्यु 892) की रचना *फुतुह-उल बुलदान* उत्कृष्टतम है। बालादुरी हर घटना का वर्णन, वर्णनकर्ताओं की श्रृंखला और प्रत्येक विश्वसनीय स्रोत के संदर्भ में करता है (सिद्दिकी 2014: 3)। अल-मसूदी (मृत्यु 956-857) ने इतिहास के साथ भूगोल को जोड़ने का एक नया आयाम शुरू किया। मसूदी, स्वयं एक महान् यात्री थे, जिन्होंने भारत और श्रीलंका का भी भ्रमण किया था, उन्होंने अपनी रचनाओं को कलमबद्ध करते हुए अपनी यात्राओं के अनुभव और विभिन्न क्षेत्रों के भौगोलिक ज्ञान को उसमें जोड़ा। इस प्रकार भौगोलिक वातावरण को उन्होंने इतिहास की पृष्ठभूमि का एक महत्वपूर्ण घटक बना दिया जिसमें उन्होंने मानवीय ऐतिहासिक विकास के साथ भौगोलिक तथ्यों को सह-सम्बन्धित किया और इस प्रकार 'कारण और प्रभाव' का प्रयोग कर 'व्याख्या' को जोड़ा जो वैज्ञानिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण घटक है। 11वीं शताब्दी में अरबी इतिहास लेखन में एक और आयाम जुड़ गया। वह यह था कि दरबार से जुड़े अधिकारियों और विद्वानों ने अपने शासकों और उनसे संबंधित घटनाओं का इतिहास लिखना शुरू किया। इसने अरबी इतिहास लेखन के स्वर और रूप को काफी बदल दिया; इसने शासक अभिजात्य वर्ग के व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों, ईर्ष्या, पसंद और नापसंद के घटक को जोड़ा और इतिहास लेखन का ध्यान आम लोगों की बजाय

'दरबार' की राजनीति और अभिजात्य वर्ग पर केन्द्रित होने लगा। यह अल-मुसाब्बिह (मृत्यु 1029; मिस्त्र का इतिहास) और अल-कुर्तुबी (मृत्यु 1076-77; अन्दुलेसिया (स्पेन) का इतिहास) के लेखनों में स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित होता है। धीरे-धीरे शाही संरक्षण के साथ, अरबी इतिहास का झुकाव भी अधिक से अधिक वंशवादी इतिहास की तरफ हो गया जिसमें अपने संरक्षकों की उपलब्धियों की प्रशंसा की गई और जिसने एक और तत्व, अलंकारिकता के लिए मार्गप्रशस्त किया। यह विशेष रूप से अल.उत्बी (मृत्यु 1035) के लेखन में स्पष्ट है विशेषकर उनकी *तारीख-ए यमीनी* में, जो गजना के सुल्तान महमूद और सुबुक्तिगीन के बारे में वर्णन करती है। हालांकि अल-बिरूनी, जो दरबार से भी जुड़े थे, उन्होंने इतिहास लेखन की पुरानी शास्त्रीय परंपरा का अनुसरण किया। अरब इतिहास लेखन के संदर्भ में इब्न खलदून (मृत्यु, 1404) की रचना *मुकद्दिमा* मानव समाज, मानव संबंधों (*इज़तिमा*) की गतिशीलता को कार्य-कारण संबन्ध के साथ जोड़ती है। वह शासकों/राजवंशों की ताकत के पीछे मुख्य कारक के रूप में कबीले की एकजुटता (*असबिया*) की भावना को उत्तरदायी मानता है।

फारसी इतिहास लेखन ने इतिहास के दायरे को संकुचित कर दिया और इसे उस युग के सामाजिक, धार्मिक इतिहास की तुलना में राजनैतिक इतिहास और शासकों और कुलीनों के जीवन के इर्द-गिर्द केन्द्रित कर दिया। इस प्रकार फारसी इतिहास 'वंशवादी इतिहास' थे; 'राजाओं' और 'अभिजात्य वर्ग' के इतिहास। फारसी इतिहासकारों ने 'अपनी रचना का महत्व बढ़ाने के लिए' शासकों को अपनी रचनाएं समर्पित करना पंसद किया। मिन्हाज-ए सिराज जुज़जानी ने अपनी *तबकात-ए नासिरी* को नासिरूद्दीन महमूद को, ज़ियाउद्दीन बरनी ने अपनी *तारीख-ए फिरोज़शाही* को फिरोजशाह तुगलक को, आरिफ कून्धारी ने अपनी *तारीख-ए अल्फी* अकबर को, और इसी तरह मौतमदखान ने अपनी *इकबालनामा-ए जहाँगीरी*, जहाँगीर को समर्पित की थी। फारसी इतिहास में अधिकांशतः शिक्षित वर्ग, विद्वानों और सन्तों पर चर्चा का अभाव पाया जाता है और उनका उल्लेख आमतौर पर शासकों के संदर्भ में किया जाता है। मिन्हाज का काल महान् चिश्ती और सुहरावर्दी संतों (मुइनुद्दीन चिश्ती, बख्तियार काकी, हमीदुद्दीन नागौरी) की सूफी गतिविधियों के कारण जीवंत था लेकिन वे काफी हद तक उसके वर्णन से गायब हैं। हालांकि बरनी का इतिहास भी काफी हद तक फारसी ऐतिहासिक परंपरा में आता है लेकिन उसके लेखन में एक सूक्ष्म बदलाव स्पष्ट है। वह विद्वानों और सूफियों का उल्लेख करता है, हालांकि कम परिमाण में। दरबार के जीवन के चित्रण में वह संगीतकार-नर्तकियों, नुसरत बीबी, मिहिर अफरोज़ का उल्लेख करता है। इसी प्रकार हालांकि वह निचले वर्ग में जन्म लेने वालों से घृणा करता था, पर इस प्रक्रिया में वह उनके बारे में बताता है जो सर्वोच्च स्थानों पर पहुँचे – लड्ढ़ा माली, बाबू नायक जुलाहा और मनका रसोइया। अबुल फज़ल ने अपने लेखन में अरबी और फारसी दोनों इतिहास लेखन की शैलियों को मौलिक रूप से संशोधित और संयोजित किया। बाद में, आमतौर पर सभी इतिहासकारों ने विद्वानों और साहित्यकारों और सूफियों को राजनैतिक वर्णनों के साथ शामिल करना शुरू कर दिया।

10वीं शताब्दी तक अरबी ऐतिहासिक परम्परा प्रमुख रही; फिरदौसी और बाद में शेख सादी के तहत् फारसी पुनर्जागरण ने धीरे-धीरे इतिहास लेखन की अरबी परंपरा पर अधिपत्य जमा लिया। जल्द ही फारसी ने अरबी परंपरा पर कब्जा कर लिया और संचार का माध्यम बन गई और सुल्तानों, कुलीनों और साहित्यकारों की भाषा बन गई। भारत में फारसी ऐतिहासिक परंपरा, फारसी लेखन पर हावी थी। *चचनामा* जो मुहम्मद बिन कासिम के भारत (विशेषकर सिंध की विजय) पर केन्द्रित है, अरबी शैली में लिखा गया था। हसन निजामी से जब फारसी में रचना करने (*ताज-उल मासिर*) करने के लिए कहा गया तो वह निराश हुए क्योंकि वह अरबी भाषा को लेखन की एकमात्र उचित भाषा मानते थे।

1.3 राजनैतिक वृत्तांतः दिल्ली सल्तनत

इस दौर की सभी समकालीन ऐतिहासिक रचनाओं पर चर्चा करना हमारे लिए मुश्किल होगा, इसलिए हम सल्तनत काल के मौलिक व्यक्तित्व, ज़ियाउद्दीन बरनी के साथ-साथ इस दौर के कुछ प्रतिनिधि इतिहासकारों के बारे में विस्तार से चर्चा करेंगे। ज्यादातर सल्तनत काल का लेखन फारसी में और फारसी परंपरा में लिखा गया था। इस तरह के लेखन में सबसे पहले हसन निजामी की *ताज-उल मासिर* और फ्रख-ए मुदब्बिर की *आदाब-उल हर्ब वा शुजात* थी।

हसन निजामी की रचना पहला आधिकारिक इतिहास कहा जा सकता है। इसमें दिल्ली सल्तनत की स्थापना (1191-1192) से लेकर 1229 सी ई तक का समय शामिल किया गया है। *मिन्हाज-ए* सिराज जुज़जानी की *तबकात-ए नासिरी* जो सुल्तान नसीरूद्दीन महमूद को समर्पित है उसे रोजन्थल ने 'वंशवादी' इतिहास की श्रेणी में रखा है। मिन्हाज अपना इतिहास आदम से शुरू कर पवित्र खलीफाओं तक लाता है। बाद में प्रत्येक वंश के लिए एक अलग अध्याय (*तबका*) समर्पित है। नसीरूद्दीन महमूद के शासन काल से यह एक वार्षिक वृत्तांत बन जाता है। हालांकि *तबकात* एक बहुत ही परिपूर्ण और विस्तृत रचना है, लेकिन इसमें ज्यादातर राजनैतिक घटनाओं का वर्णन है। अमीर खुसरों एक कवि-इतिहासकार था। उनकी रचना *किरान-उस सादैन* की विषय-वस्तु सुल्तान कैकुबाद और बुग़रा खां के बीच मुलाकात और उनके दिल्ली से अवध तक प्रयाण का वर्णन है। यह दिल्ली की विभिन्न भवन संरचनाओं, दरबारी जीवन, उत्सव-समारोहों, आदि के बारे में रोचक अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है। *देवल रानी खिज़्र खां* (*आशिका*) देवल रानी और अलाउद्दीन के पुत्र खिज़्र खां की एक त्रासदीपूर्ण प्रेम कहानी है। *नुह सिपहर* मुख्यतः मुबारक खलजी के दक्कन अभियानों से सम्बन्धित है। यह भारत और इसके निवासियों की प्रशंसा से भरी है। यह उस क्षेत्र में बोली जाने वाली बोलियों की चर्चा भी करती है। अमीर खुसरों का *तुगलकनामा* गियासुद्दीन तुगलक की विजयों की सराहना में रचित है। इसामी की *फुतुह-उस सलातीन* ग़ज़नी/गौरी के समय से लेकर 1349 तक का वर्णन करती है। हालांकि इसामी का वर्णन शासक वर्ष के क्रमानुसार व्यवस्थित है, लेकिन उसका वृत्तांत तिथि-क्रम की दृष्टि से कमजोर है; और कई बार उसके द्वारा गलत तिथि भी दर्ज की गई है। हालाँकि इसामी द्वारा दी गई कुछ सूचनाएं अनन्य हैं जो हमें कहीं और नहीं मिलतीं। बलबन द्वारा सुल्तान नसीरूद्दीन महमूद को जहर देने का उल्लेख केवल इसामी से मिलता है। शम्स सिराज अफीफ की रचना *तारीख-ए फिरोजशाही* फिरोज़ शाह तुगलक के शासन काल का वर्णन है। यह पाँच *किस्मों* और 18 *मुकद्दमों* में बँटा हुआ है। हालांकि एक *किस्म* और 4 *मुकद्दम* (15वाँ *मुकद्दम* आंशिक रूप से उपलब्ध) उपलब्ध नहीं है। यह पुस्तक फिरोज़ के लखनौती, जाजनगर, नगरकोट और थट्टा के अभियानों को समझने के लिए महत्वपूर्ण है। अफीफ का वृत्तांत इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि अफीफ 1398 में दिल्ली सुल्तानों की तैमूर के हाथों पराजय के कारणों का विश्लेषण करने का प्रयास करता है। यह फिरोज़ शाह तुगलक के प्रशासन की कार्यप्रणाली, भ्रष्टाचार की प्रधानता, आदि पर भी विस्तृत जानकारी देता है। अफीफ का वृत्तांत फिरोज़ द्वारा निर्मित भवनों, बागों और नहरों के संदर्भ में उपयोगी है। अफीफ सुल्तान फिरोज़ के कुल राजस्व के संदर्भ में पहली बार सल्तनत कालीन कुल राजस्व का खाका पेश करता है। याहया बिन अहमद सरहिन्दी अपनी *तारीख-ए मुबारक शाही* में मुइज़ुद्दीन ग़ौर से लेकर सैय्यद शासक मुहम्मद शाह (1438) के काल तक की चर्चा करता है। तुगलक काल से पहले का उसका वर्णन कुछ संक्षिप्त सा है। उसका इतिहास इस दृष्टि से वंशवादी है कि यह प्रत्येक राज्यकाल के बारे में अलग-अलग चर्चा करता है।

ज़ियाउद्दीन बरनी

ज़ियाउद्दीन बरनी एक सफल लेखक थे। उनकी रचनाएँ उनकी गहन विद्वता को दर्शाती हैं। उनकी प्राथमिक रचनाएँ हैः *तारीख-ए फिरोज़शाही* और *फतवा-ए जहाँदारी* (1335/1337; संशोधित) और *सहीफा-ए नात-ए मुहम्मदी*।

बरनी का बाजार मूल्यों संबंधी विवरण अलाउद्दीन के मूल्य नियन्त्रण उपायों पर बहुमूल्य प्रकाश डालता है। बरनी अलाउद्दीन की निर्माण गतिविधियों पर भी रोचक रोशनी डालता है – सीरी की दीवार की किलेबन्दी, जामा मस्जिद, कई शहरों और कस्बों, हौज़ खास, आदि पर। बरनी अलाउद्दीन द्वारा सजा के मामलों में *शरिया* के प्रति उपेक्षा दिखाने के लिए अपनी स्पष्ट नापसंदगी दिखाता है, हालांकि वह सामान्य रूप से अलाउद्दीन के तहत सल्तनत की प्रगति की प्रशंसा करता है, विशेष रूप से दिल्ली और इसके बाजारों, व्यापार और कारीगरों की। बरनी का अफगानपुरा की त्रासदी का वर्णन महत्वपूर्ण है। जहाँ मुहम्मद तुगलक को सामान्य रूप से अपने पिता की मृत्यु के लिए और उसके खिलाफ साजिश रचने के लिए जिम्मेदार माना जाता था, वहीं बरनी उसकी बेगुनाही पर जोर देता है और इसे एक आकस्मिक मृत्यु बताता है। उसने मुहम्मद बिन तुगलक के अधीन 17 वर्षों तक *नदीम* (सलाहकार/दरबारी) के रूप में कार्य किया। वह अपने संरक्षक की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है और उसे '*सुल्तान-ए सईद*' (पवित्र शासक) और एक *शहीद* बताता है। बरनी हमें सूचित करता है कि उन्होंने आध्यात्मिक और लौकिक शक्तियों (पैगंबर के खलीफा

और सुल्तान की) को अपने में आत्मसात करने का प्रयास किया। वह उसकी सैन्य नेतृत्व में प्रतिभा, शिक्षा और उदारता के लिए प्रशंसा करता है। बरनी उसकी महान् साहित्यक गतिविधियों, तर्क-संगत विज्ञानों (*इल्म-ए माकूल*) में उसकी अभिरुचि और दार्शनिकों और तर्कवादियों के प्रति उसके अनुराग और उसकी पारम्परिक विज्ञान (*मनकूल*), विशेष रूप से उबैद शायर (कवि) और साद मन्तकी (तर्कशास्त्री) के प्रभाव में की अवहेलना पर भी जोर देता है। बरनी बताता है कि मुहम्मद तुगलक तर्क का विशेष समर्थक था। अतः वह पवित्र और धार्मिक मानसिकता वाले रूढ़िवादी मुसलमानों, उलमा, मशायखों और सैय्यदों की हत्या करने से भी नहीं हिचकिचाता था, फिर भी वह पाँच वक्त की नमाज़ अदा करने वाला एक धर्मनिष्ठ मुसलमान था। मुहम्मद बिन तुगलक के व्यक्तित्व को समझने के लिए उसकी नीतियों की विफलता के बारे में बरनी की टिप्पणी भी बहुत महत्वपूर्ण है। उसका कहना है कि उसकी योजना की विफलताओं का कारण उसके द्वारा इस्लाम में विश्वास की कमी नहीं था, बल्कि यह इसलिए हुआ क्योंकि लोग उसकी प्रगतिशील नीतियों के कार्यान्वयन में सहयोग करने को तैयार नहीं थे। वह उसे 'इस्लाम के बौद्धिक अनुयायी के रूप में चित्रित करता है जो अपने द्वारा बनाये गये नये कानूनों और विनियमनों के माध्यम से अपने लोगों को प्रगति के पथ पर ले जाने के लिए उत्सुक था' (सिद्दिकी 2014: 213)। सुल्तान का *दबीर-ए खास*, इख्तिसान द्वारा उसको इस्लामिक कानून के बारे में उसके ज्ञान के लिए *नुमान-ए सानी* (उस दौर का अबु हनीफा) कहा।

उच्च कार्यालयों में निम्न वर्ग में जन्मे लोगों की नियुक्ति के बारे में बरनी का विस्तृत वर्णन अप्रतिय और विशिष्ट है। इसी प्रकार, सुल्तान फिरोज़शाह तुगलक द्वारा निर्मित नहरों के जाल से सम्बन्धित विवरण अप्रतिम और विशिष्ट है, इस विषय पर किसी अन्य समकालीन इतिहासकार का विश्लेषण इतनी पैनी दृष्टिवाला और विस्तृत नहीं है। उसका तर्क था कि सुल्तान द्वारा स्थापित नहरों का जाल भावी पीढ़ियों के लिए और क्षेत्र के समुचित सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए मूल्यवान सिद्ध होगा।

1.4 राजनैतिक वृत्तांतः मुगल

मुगलकाल के दौरान ज़ैनखान की *तुज़ुक-ए बाबरी* और ख्वांदमीर की *क़ानून-ए हुमायूँनी* से लेकर मुन्ना लाल की *तारीख-ए शाह आलम* तक इतिवृत्तकारों द्वारा भारी मात्रा में वृत्तांतों की रचना की गई। हालांकि, हम यहाँ केवल कुछ ही प्रमुख राजनैतिक रचनाओं की चर्चा करेंगे। साथ ही अबुल फज़ल अल्लामी पर विशेष व्याख्या की जायेगी।

अकबर के काल में ऐतिहासिक साहित्य का बड़े पैमाने पर सृजन किया गया था। अकबर ने इस्लामिक सहस्राब्दी के स्मरणोत्सव के लिए *तारीख-ए अल्फी* के लेखन को अधिकृत किया। इसमें 632 से लेकर अकबर के शासन काल तक की अवधि शामिल है। यह पुस्तक 1582 में अधिकृत हुई और 1592 में पूरी हुई। ख्वाजा निज़ामुद्दीन अहमद ने *तबकात-ए अकबरी* लिखी। इसका कालक्रम 1592-93 की तिथि प्रदान करता है लेकिन इसमें घटनाओं का वर्णन 1593-94 तक मिलता है। अक्टूबर 1594 में लेखक की मृत्यु हो जाती है। निज़ामुद्दीन ने अपने *तबकात* को नौ क्षेत्रों में विभाजित किया है, प्रत्येक का वर्णन एक अलग *तबका* (भाग) में किया गया हैः दिल्ली, गुजरात, बंगाल, मालवा, जौनपुर, सिंध, कश्मीर और मुल्तान। लेखक अकबर के साम्राज्य के शहरों और *कस्बों* के बारे में रोचक जानकारी प्रदान करता है। वह उल्लेख करता है कि अकबर के साम्राज्य में 3200 *कस्बे* और 120 शहर शामिल थे। वह उनमें से प्रत्येक पर अलग से लिखना चाहता था लेकिन वह इस कार्य को पूरा नहीं कर सका। बदायुनी ने अकबर के शासन काल में 'विद्यर्मिता' और 'नवाचारों' के खिलाफ *मुन्तखब-उत तवारीख* लिखा। उन्होंने तथाकथित रूप से घटनाओं के 'सत्य' विवरण को प्रस्तुत करने के लिए पुस्तक को गुप्त रूप में लिखा। पुस्तक तीन खंडों में लिखी गई है। पहला खंड सुबुक्तिगीन के समय से हुमायूँ तक और दूसरा अकबर के शासन काल से सम्बन्धित है। वह अकबर के शासन काल में 'इस्लाम के विनाश' पर शोक जताता है। तीसरा खंड *तज़किरा* के रूप में है जो अकबर के काल के मशायखों, उलमा, कवियों और चिकित्सकों की जीवनियों सम्बन्धि वृत्तांत उपलब्ध कराता है। बदायुनी इबादतखाना की कार्यवाही पर प्रत्यक्ष सूचना प्रदान करता है। बदायुनी अकबर के महज़र के पूरे ड्राफ्ट का वर्णन करता है, जो अन्यथा अबुल फज़ल में नहीं मिलता।

जहाँगीर के शासनकाल के दौरान मौतमद खान ने *इकबालनामा-ए जहाँगीरी* का संकलन किया। उसने इसकी रचना तीन खंडों में की थी। पहले खंड में तैमूर वंश का इतिहास हुमायूँ के शासन काल तक दिया गया है, जबकि दूसरा खंड अकबर के, और तीसरा खंड जहाँगीर के शासनकाल से शाहजहाँ के पदारोहण तक की चर्चा करता है। जो तीसरा खंड है (अन्य दो दुर्लभ हैं) उसे ही लोकप्रिय रूप से *इकबालनामा-ए जहाँगीरी* के नाम से जाना जाता है। जहाँगीर के शासनकाल के पहले 19 वर्षों का वृत्तांत *तुजुक* का संक्षेप सार है। हालांकि, अन्तिम भाग में वह नूरजहाँ के प्रति कटुता व्यक्त करता है। पुस्तक में मध्य एशियाई घटनाओं पर भी चर्चा की गई है जो मध्य एशियाई घटनाओं पर भारतीय परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है। इसी प्रकार उसका कृषि उत्पादन और कश्मीर के शॉल उद्योग पर वृत्तांत काफी दिलचस्प है।

शाहजहाँ ने अबुल फज़ल की शैली में अपने शासन काल के आधिकारिक इतिहास को लिखवाने का प्रयास किया, इसलिए उसने पहली बार मुहम्मद अमीन कज़वीनी को अपने शासन काल के 8वें वर्ष में इस कार्य को शुरू करने के लिए नियुक्त किया। कज़वीनी ने शाहजहाँ के शासन के पहले दस वर्षों का वृत्तांत संकलित किया। बाद में अब्दुल हमीद लाहौरी को शाहजहाँ के शासन काल के पहले 20 वर्षों (1648 तक) की अवधि का इतिहास (*पादशाहनामा*) लिखने का काम दिया गया। पहले दस साल का वृत्तांत काफी हद तक कज़वीनी के वृत्तांत पर आधारित है, हालांकि यह तुलनात्मक रूप से अधिक विस्तृत और स्पष्ट है। शाहजहाँ के शासन काल के बाद के दस वर्षों का (1656 तक) मुहम्मद सालिह कांबो ने शाहजहाँ के शासन काल के इतिहास को 1659-60 में *अमल-ए सालिह* के नाम से संकलित किया। सालिह द्वारा संकलित विद्वानों, कवियों, सैय्यदों, शेखों, कुलीन जनों (और उनके पदानुक्रम), आदि के जीवन संबंधी विवरण उपयोगी हैं। शाहजहानाबाद के किले के निर्माण का उसके द्वारा प्रस्तुत विवरण विस्तृत और दिलचस्प है।

औरंगजेब के शासन काल के दौरान मुहम्मद काज़िम ने औरंगजेब के शासन काल के पहले दस वर्षों (1658-1668) के इतिहास को संकलित किया। *आलमगीरनामा* बंगाल पर उपयोगी जानकारी प्रस्तुत करता है, जैसे कामरूप और असम पर मीर जुमला का आक्रमण और शाइस्ता खान द्वारा चटगाँव की विजय। बाद में औरंगजेब ने अपने शासन काल में आधिकारिक इतिहास लिखने की परियोजना को बन्द कर दिया। इस प्रकार उनके बाकी शासन काल से सम्बन्धित जानकारी हमें अन्य ग्रन्थों से प्राप्त होती है – साक़ी मुस्तैद खान की *माआसिर-ए आलमगीरी,* सुजान राय भंडारी की *खुलासत-उस सियाक़* और खाफी खान की *मुन्तखब-उल लुबाब,* आदि। जबकि भीमसेन की *नुस्खा-ए दिलकुशा* औरंगजेब के दक्कन के वर्षों का एक महत्वपूर्ण वृत्तांत है। *खुलासत* का संकलन 1695 (औरंगजेब का 40वाँ शासकीय वर्ष) में किया गया था। यह ग्रंथ हिन्दुस्तान के भूगोल को समझने के लिए महत्वपूर्ण है। यह विभिन्न *सूबों,* उनकी फसलों, प्रमुख *कस्बों,* सन्तों, आदि का विस्तृत विवरण प्रदान करती है। हालांकि सुजान ने बड़े पैमाने पर *आईन* से ग्रहण किया है, परन्तु कुछ प्रान्तों से सम्बन्धित वृत्तांत, विशेष रूप से पंजाब का, काफी परिपूर्ण और विस्तृत है। भीमसेन औरंगाबाद का प्रत्यक्ष वर्णन प्रदान करता है – इसकी समृद्धि, मराठों का उदय, मराठों के छापे और अनाज का मूल्य, आदि। वह इसका विश्लेषण करता है कि औरंगजेब के शासन काल में कैसे कुलीन वर्ग की संख्या में वृद्धि के कारण *जागीरदारी* संकट पैदा हुआ। भीमसेन ने *जज़िया* लगाने की भी आलोचना की। उसने दुख व्यक्त करते हुए कहा कि शायद ही इसका कोई अंश राजकोष तक पहुँचता था। औरगंजेब के अन्तिम सचिव, इनायतुल्लाह खान कश्मीरी (बाद में वह मुहम्मद शाह का *वज़ीर* बन गया था) ने साक़ी मुस्तैद खान से औरंगजेब के शासनकाल का इतिहास लिखने का अनुरोध किया। पूरे शाही अभिलेखागार तक उसकी पहुँच थी। यह पुस्तक (*माआसिर-ए आलमगीरी*) उन्होंने 1710 में पूरी की। यह सतनामी और जाट विद्रोह पर रोचक विवरण प्रदान करती है। खाफी खाँ ने 1722 में अपना ग्रंथ *मुंतखब-उल लुबाब* पूरा किया। इस ग्रंथ में सल्तनत काल से लेकर 1722 तक का इतिहास तीन खंडों में लिखा गया है। हालांकि, लेखक का दावा है कि आखिरी 53 वर्षों (1669-1722) का उसका वृत्तांत उनके व्यक्तिगत अवलोकनों पर आधारित है। मुगल-सिख सम्बन्धों को समझने के लिए यह ग्रंथ मूल्यवान है। यह विशेष रूप से गुरु गोविन्द सिंह के साथ औरंगजेब के टकराव और औरंगज़ेब के उत्तराधिकारियों (बाद के मुगलशासकों) के बन्दा बहादुर के साथ संघर्ष का जीवंत विवरण प्रस्तुत करती है।

अबुल फज़ल

फैज़ी के छोटे भाई और महान् विद्वान शेख मुबारक नागौरी के बेटे अबुल फज़ल न केवल साम्राज्य के 'सचिव' थे, बल्कि एक उदार विचारक और अकबर के करीबी दोस्त भी थे। इबादतखाना की स्थापना के एक वर्ष पहले, 1574 में, वे अकबर के दरबार में शामिल हुए। उनकी प्रसिद्धी का मुख्य आधार उनकी चिर-स्मरणीय रचना *अकबरनामा* है। *आइन-ए अकबरी* उनकी एक और महत्वपूर्ण रचना, जो अकबर के साम्राज्य का सांख्यिकीय ब्यौरा प्रस्तुत करती है, जो प्रारम्भ में *अकबरनामा* का तीसरा खंड था। *अकबरनामा* का वर्णन अकबर के 46वें शासकीय वर्ष पर खत्म होता है; अकबर के 47वें शासकीय वर्ष में अबुल फज़ल की बीर सिंह देव बुदेंला ने हत्या करवा दी थी। *आईन* 42वें शासकीय वर्ष में पूरी हुई और 43वें शासकीय वर्ष में इसमें एक भाग बरार पर जोड़ा गया। बाद में मुहिब अली खान *अकबरनामा* के वर्णन को अकबर के शासन काल के अन्त तक लाता है। हालांकि, जोड़ा गया भाग संभवतः शाहजहाँ के शासन काल के दौरान लिखा गया था और ऐसा प्रतीत होता है कि इसे मौतमद खान के वृत्तांत से बड़े पैमाने पर नकल किया गया था। अकबर के शासन काल से यह वृत्तांत एक वार्षिक वृत्तांत बन जाता है। *आईन* को पाँच पुस्तकों में बाँटा गया हैः पहली साम्राज्यीय प्रतिष्ठानों से सम्बन्धित है; दूसरी सेना की चर्चा करती है; तीसरी विभिन्न कार्यालयों/पदों, राजस्व दरों का विवरण और प्रत्येक *सूबे* के सांख्यिकीय आँकड़े पर आधारित है; चौथी मुख्य रूप से हिन्दू दर्शन, धर्म, चिकित्सा विज्ञान, रीति-रिवाजों और तौर-तरीकों को शामिल करती है; जबकि पाँचवी पुस्तक में अकबर के कथनों का समावेश है। जहाँ *अकबरनामा* लड़ाईयों और घटनाओं से परिपूर्ण है, वहीं *आईन* को एक गज़ेटियर के रूप में लिखा गया है।

हालांकि इतिहास लेखन की अबुल फज़ल की शैली फारसी इतिहास लेखन की संरचना के ढाँचे के अन्तर्गत आती है, परन्तु अबुल फज़ल ने अरबी परंपरा को भी शामिल करने का प्रयास किया। फिर भी, जैसा कि निज़ामी का मानना है, 'जन' को शामिल करने का उनका मंसूबा 'आंशिक और सीमित' थाः 'जन को एक इतिहासकार के अध्ययन के दायरे में एक अधिकार के रूप में शामिल नहीं किया गया था, जैसा कि अरब इतिहासकारों ने किया था, बल्कि यह एक आवश्यकता के रूप में किया गया क्योंकि उनके बिना अकबर की विविध गतिविधियों की चर्चा अधूरी और नीरस रह जाती' (निजामी 1982: 153)। फिर भी, अबुल फज़ल ने अकबर के प्रभुता के दायरे की राजनैतिक और प्रशासनिक वास्तविकताओं को सामने लाने के लिए नई पद्धतियों का इस्तेमाल किया। उनकी *आईन* अकबर के साम्राज्य की महानता का विस्तृत वर्णन प्रदान करती है। उनके प्रशासनिक नियमों और साम्राज्य तथा उसके प्रान्तों की भौगोलिक संरचनाओं के विवरण इतिहास लेखन के दायरे को विस्तार और समृद्धि प्रदान करते हैं। अबुल फज़ल ने राजतन्त्र को ईश्वर से निकले प्रकाश (*फर्र-ए इज़दी*) के रूप में स्पष्ट किया और बताया कि सम्प्रभु को एक 'न्याय संगत' शासक होना चाहिए और उसे लोगों के कल्याण के लिए काम करना चाहिए। उनके अनुसार अकबर एक 'आदर्श' सम्राट था जो आध्यात्मिक और लौकिक दोनों क्षेत्रो में नेतृत्व प्रदान करता था। *महज़र* की घोषणा के द्वारा अकबर ने एक *मुज़तहिद*, 'एक आदर्श पुरुष', *इमाम-ए आदिल* 'एक अपरिहार्य नेता' का स्तर प्राप्त किया। उसने अकबर के शासन काल को शांति, समृद्धि, स्थिरता, सुशासन और धार्मिक सहिष्णुता और स्वतंत्रता के काल के रूप में पेश किया।

हालांकि अबुल फज़ल के लेखन की सीमाएँ हैं, क्योंकि अकबर को एक 'आदर्श' सम्राट और 'आदर्श पुरुष' के रूप में चित्रित करने के उत्साह में और अकबर की उपलब्धियों का महिमामंडन करने के लिए वह उसकी कमजोरियों को नजरअंदाज करते हैं और तथ्यों को पेश करते हुए अपनी 'तर्क शक्ति' के इस्तेमाल में विफल रहते हैं और इस तरह से कई बार उनका वृत्तांत 'पक्षपातपूर्ण' हो जाता है। अकबर की विफलताओं को छिपाने के लिए, अकबर के कुछ प्रयोगों को अबुल फज़ल द्वारा सावधानी पूर्वक तैयार किए गए *अकबरनामा* में कोई जगह नहीं मिली – साम्राज्य की पूरी भूमि को *खालिसा* में बदलने के अकबर के प्रयोग की विफलता का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। ना ही उन्होंने यह उल्लेख किया कि अकबर ने अपने 24वें शासकीय वर्ष में *जागीरों* के अनुदान फिर से शुरू कर दिये थे। इस प्रकार अबुल फज़ल ने उन अनेक तथ्यों को छोड़ दिया जो अकबर को एक 'आदर्श' सम्राट के रूप में पेश करने की उनकी योजना के अनुरूप नहीं थे या जिससे अकबर की स्थिति दुर्बल नजर आती। इस प्रकार *अकबरनामा* 'अकबर की कहानी से कहीं अधिक' है।

बोध प्रश्न-1

1) इतिहास लेखन की अरबी परंपरा की विशेषताएँ क्या थीं?

....

....

....

....

2) इतिहास लेखन की फारसी परंपरा की विशेषताएँ क्या थीं?

....

....

....

....

3) इतिहास लेखन में बरनी के योगदान का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

4) इतिहास के स्रोत के रूप में *अकबरनामा* के महत्व पर चर्चा कीजिए।

....

....

....

....

1.5 संस्मरण

एक ऐतिहासिक वृत्तांत/जीवनी जो मुख्यतः व्यक्तिगत याददाशत के आधार पर लिखा जाता है वह संस्मरण की श्रेणी में आता है। मध्यकाल के दौरान चार प्रमुख वृत्तांत ऐसे हैं जो इस श्रेणी में आते हैं – सल्तनत काल से संबंधित फिरोज़शाह की *फुतुहात-ए फिरोज़शाही* और मुगलकाल के दौरान बाबर के संस्मरण, *बाबरनामा*, गुलबदन बेगम का *हुमायूँनामा/अहवाल-ए हुमायूँ बादशाह* और जहाँगीर की *तुज़ुक*। *फुतुहात-ए फिरोज़शाही* शुरू में फिरोज़ाबाद की जामी मस्जिद पर अंकित की गई थी, शायद अशोक के स्तम्भों के अभिलेखों से प्रेरित होकर लोगों के साथ संवाद करने के लिए। इसका मुख्य उद्देश्य सुल्तान फिरोज़ की उपलब्धियों, उदारता और कल्याणकारी गतिविधियों की सराहना करना था। के. ए. निज़ामी इसे 'अनिवार्य रूप से एक धार्मिक अभिलेख' मानते हैं क्योंकि इसका सम्बन्ध ज्यादातर धार्मिक गतिविधियों से है और यह शुरुआत में जामी मस्जिद की दीवारों पर अंकित की गई थी। *फुतुहात* में *मुलहिद* (विधर्मी) और *इबाहती* (*काफिर*) का ज़िक्र और अहमद बिहारी, रूक्न और मेंहदी को दी गई सजाओं से यह लगता है कि इस अवधि में विधर्मी रुझान प्रमुख हो चुके थे। यह फिरोज़ की भवन निर्माण गतिविधियों और यहाँ तक कि निज़ामुद्दीन औलिया की दरगाह के अन्तर्भाग के निर्माण कार्यों का विस्तृत वर्णन देती है। हालांकि उसके लौकिक निर्माण कार्यों जैसे कि नहरों के जाल-तन्त्र का वर्णन इसमें मौजूद नहीं है। फिरोज़, जलाश्यों (कुंडो) की यात्रा पर उसके द्वारा लगाये गए सामान्य प्रतिबन्ध और स्त्रियों पर विशेषरूप से सूफी दरगाहों की यात्रा पर लगाये प्रतिबन्धों का वर्णन करता है। इन सबसे फिरोज़ के धार्मिक विचारों के बारे में अन्तर्दृष्टि मिलती है। सुल्तान एक राजकीय अस्पताल के निर्माण का जिक्र भी करता है जहाँ मुफ्त भोजन और दवाइयाँ दी जाती थीं। यह, यह भी बताता है कि फिरोज़ को खलीफा से एक *मन्शूर* (अभिषेक पत्र) प्राप्त हुआ था।

बाबर के संस्मरण (*तुज़ुक-ए बाबरी/बाबरनामा*), जो मूल रूप से चग़ताई तुर्की में लिखें गये थे, उसे सही अर्थों में 'इस्लामी साहित्य की एकमात्र सच्ची आत्मकथा' कहा जा सकता है। यह

घटनाओं का अत्यधिक स्पष्ट और सार्वलौकिक वृत्तांत है। उन्होंने अपने दौर की घटनाओं का बिलकुल सच्चा और निष्पक्ष लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। बाबर मानते हैं 'मैंने जो कहा है वह सीधा-साधा सच है... मैंने घटनाओं के बारे में वैसा ही कहा है जैसे वो घटित हुई थीं। मैंने जो कुछ लिखा है... उसमें हर शब्द में मैंने निष्ठापूर्वक सच्चाई का अनुसरण किया है'। हालांकि बाबर की मृत्यु 1530 में हुई थी, पर उनका वृत्तांत यकायक 7 सितम्बर, 1529 पर रुक जाता है। यह घटनाओं की एक डायरी के रूप में लिखा गया है। बाबर फरग़ना और समरकंद में अपने संघर्ष के एक जीवंत वर्णन के साथ-साथ हिन्दुस्तान में अपने अल्पावास; अपने युद्धों और संघर्षों और विजयों का ब्योरा प्रदान करता है। वह अपने पदारोहण (1494) से लेकर जिस क्षेत्र पर उसने शासन किया उस क्षेत्र की राजनैतिक, सैन्य और सामाजिक-आर्थिक स्थिति के बारे में बताता है। बाबर भारतीयों की कमजोरी निम्नलिखित तरीके से देखता हैः 'उस समय पूरा हिन्दुस्तान किसी एक सम्राट के अधीन नहीं थाः प्रत्येक राजा अपने अनुसार अपने छोटे से भू-भाग में राजा के रूप में स्थापित था'। वह भारतीय शहरों और बस्तियों की क्षणभंगुर प्रकृति को भी देखता है। वह टिप्पणी करता हैः 'हिन्दुस्तान में, गाँव और बस्तियों यहाँ तक कि शहरों का भी, विनाश और निर्माण पल भर में किया जा सकता है। ऐसे बड़े शहर जिनमें लोग बरसों से रह रहे होते हैं, अगर उन्हें छोड़ना पड़े तो उन्हें एक ही दिन में छोड़ा जा सकता है, इस रूप में कि उनका कोई चिहन या निशान ही ना बचे। यदि उनके मन में शहर बसाने का विचार आता है, तो सिंचाई के लिए नहरों को खोदने या बाँध बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है... वे बस प्रचुर मात्रा में पराली और अनेक पेड़ों की टहनियों से झोपड़ियाँ बनाते हैं और तुरंत एक गाँव या शहर का जन्म हो जाता है'। लेकिन वह असंख्य कारीगरों की उपस्थिति से प्रभावित था। उन्होंने लिखा कि 'हर पेशे और व्यापार के कामगार बेइंतिहा असंख्य हैं'। वह इन व्यवसायों की वंशानुगत प्रकृति पर भी टिप्पणी करता हैः 'युगों से समान रोजगार और व्यापार पिता से पुत्र को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होता है'। उनके संस्मरण बाबर को एक सच्चे प्रकृतिवादी के रूप में इंगित करते हैं। स्थानीय पर्यावरण और प्राकृतिक भूगोल – वनस्पतियों, प्राणियों, नदी-तंत्रों और प्राणी जगत में उनकी गहरी रुचि असाधारण है। सिंचाई के लिए पानी खींचने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त विभिन्न प्रकार के उपकरणों पर उनका अवलोकन आश्चर्यजनक है, विशेष रूप से उनके द्वारा किया गया *रहट* और *चरस* का विस्तृत वर्णन। लेकिन, बाबर कभी भी भारत को अपनी मातृभूमि नहीं मान पाया। उसे वह हमेशा समरकंद के 'बागों वाले महल' और अपनी मातृभूमि के खरबूजों की लालसा रहती थी। वह टिप्पणी करता हैः 'बहुत से लोग आम की इतनी प्रशंसा करते हैं कि इसे प्रत्येक फल की तुलना में प्राथमिकता देते हैं, खरबूजे को छोड़कर, लेकिन मुझे उनकी इस प्रशंसा का औचित्य ठीक नहीं लगता'।

गुलबदन बेगम दिलदार बानू बेगम से बाबर की बेटी थी। गुलबदन बेगम का वृत्तांत अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि उनका अवलोकन राजप्रासाद में एक अंतरंग व्यक्ति की अभिव्यक्ति थी और वह भारत में मुगल सम्प्रभुता के आरंभिक निर्माण-काल की गवाह थीं। जब वह सिर्फ आठ साल की थीं, तब बाबर की मृत्यु हो गयी। उन्होंने हुमायूँ के उथल-पुथल वाले दौर का भी सामना किया। अबुल-फज़ल के *अकबरनामा* के लिए उस अवधि के इतिहास लेखन को सुसाध्य बनाने के लिए उन्होंने अपने संस्मरण लिखे। *हुमायूँ नामा* जन्म, विवाह और अन्य सम्बन्धित राजकीय समारोहों के बारे में अन्तर्दृष्टि से परिपूर्ण है। यह शासक की औपचारिक दरबार के बाहर एक आम इंसान के रूप में गतिविधियों की बात करता है। उनका वृत्तांत काफी हद तक याददाश्त पर आधारित है, जो उन्होंने सुना और याद रखा। फिर भी यह हरम में रहने वालों का आँखों-देखा वृत्तांत है। *हुमायूँ नामा*, बाबर और हुमायूँ पर प्रकाश डालता है और मुगल हरम के जीवन पर अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है – राजसी सत्ता के व्यक्तिगत/सामाजिक संबंधों, आन्तरिक टकराव/तनाव, *आदाब* (नियम/शिष्टाचार/राजसी आचरण) की भूमिका आदि पर। उनके वर्णन से पता चलता है कि शाही महिलाओं की शादी और सामाजिक शिष्टाचार के मामलों में विशेष स्थिति थी। यह, यह भी दर्शाता है कि महिलाएँ अक्सर राजनैतिक मध्यस्थों की भूमिका निभाती थी। यह वृत्तांत मुगलों के प्रारंभिक काल में हरम में पर्दा की स्थिति पर भी रोशनी डालता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका प्रचलन तुलनात्मक रूप से कम कठोर था। यह दर्शाता है कि हरम की प्रमुख महिला मुख्य रानी नहीं थी, बल्कि राजमाता थी, जो अक्सर राजा के सलाहकार के रूप में काम करती थी। हुमायूँ का बार-बार दिलदार बानू बेगम के यहाँ जाना इसकी पुष्टि करता

है। वास्तव में, गुलबदन बेगम का *हुमायूँ नामा* इस अवधि के 'जीवंत अनुभवों और सामाजिक, राजनैतिक वास्तविकताओं का चित्रण' है। गुलबदन का वृत्तांत न केवल मुगल घराने के घरेलू जीवन पर रोशनी डालता है बल्कि यह सार्वजनिक/निजी स्थानों और लिंग सम्बन्धों बनाम राजनैतिक शक्ति की सीमाओं के बारे में भी सुझाव भी देता है।

जहाँगीर ने अपने संस्मरण (*तुज़ुक-ए जहाँगीरी*) को वार्षिक वृत्तांतों के रूप में लिखा था। अपने संस्मरणों को कलमबंद करने के लिए उसने अपने परदादा बाबर से प्रेरणा ली। उनके संस्मरण दो भागों में लिखे गये हैं। पहला भाग उनके शासनकाल के बारह वर्षों का लेखा-जोखा है और दूसरा उनके शासनकाल के 19वें शासकीय वर्ष (1624) की शुरुआत तक का वर्णन करता है। उन्होंने पहले 17 साल का वर्णन स्वयं अपने हाथों से लिखा था, बाद में मौतमद खान द्वारा उसे लिखवाया। हालांकि, 18वीं शताब्दी में जहाँगीर के प्रारंभिक जीवन पर अपनी प्रस्तावना के साथ जहाँगीर के शासन काल की बाकी अवधि का वृत्तांत मुहम्मद हादी कंवर खान ने इसमें जोड़ा। *तुज़ुक* काफी हद तक जहाँगीर के शासनकाल का वर्णन है जो जहाँगीर के जन्म से शुरू होकर, उसके पदारोहण, उसके बारह आदेशों (*दस्तूर-उल अमल*), उसके द्वारा न्याय की सुनहरी जंजीर की स्थापना और विभिन्न प्रशासनिक और वित्तीय आज्ञप्तियों, *मनसब* और *जागीर* आवंटनों, खुसरों का विद्रोह, किलों, *सरायों* और सड़कों आदि के रख-रखाव का वर्णन करता है। जहाँगीर फतेहपुर सीकरी की स्थापना का सजीव चित्रण प्रदान करता है। वह पंडितों और हिन्दू तपस्वियों के साथ बातचीत करने की अपनी रुचि का वर्णन करता है। कई बार वह स्पष्ट रूप से अपनी कमजोरियों को स्वीकारता है। यह जहाँगीर द्वारा प्रदत्त कला और साहित्य के उदार संरक्षण पर भी प्रकाश डालता है। यह सार्वजनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा में उसकी दिलचस्पी के बारे में अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है। उसका पाँचवा आदेश साम्राज्य के सभी प्रमुख शहरों में मुफ्त अस्पतालों की स्थापना और चिकित्सकों की नियुक्ति के बारे में बताता है। यह वनस्पति शास्त्र और प्राणी शास्त्र में उसकी गहरी रुचि को भी दर्शाता है। यह जहाँगीर के प्राकृतिक इतिहास के असाधारण ज्ञान को दर्शाता है। निस्संदेह *तुज़ुक* जहाँगीर के व्यक्तित्व के गुणों को एक बहुत ही उदार मुस्लिम और तर्कसंगत विचारक के रूप में सामने लाता है।

1.6 *इंशा* (पत्र-लेखन) परंपरा

इंशा का शाब्दिक अर्थ है 'सृजन'। हालांकि, मध्यकाल के संदर्भ में यह व्यक्तिगत पत्रों और राज्य के पत्राचारों को दर्शाता है। वे मध्यकाल के दौरान प्रचलित सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों और विचारों के साथ-साथ प्रशासन के काम-काज के बारे में प्रत्यक्ष जानकारी देते हैं। सल्तनत काल के *इंशा* संग्रह जो आज प्राप्त होते हैं वे मात्र कुछ ही हैं और उनमें सबसे प्रमुख हैं अमीर खुसरो के *एजाज-ए खुसरवी* और आइन-उल मुल्क अब्दुल्ला बिन महरू की *इंशा-ए महरू*। 15वीं-16वीं शताब्दी में दक्कन में रचित सर्वश्रेष्ठ *इंशा संग्रह* ख्वाजा जहां महमूद गावां की *रियाज़-उल इंशा* और शाह ताहिर हुसैनी की *इंशा-ए ताहिर* है। सल्तनत काल के दौरान *कातिब* (लेखक), *दबीर* (आमतौर पर सल्तनत काल में इस्तेमाल किया जाने वाला शब्द) और *मुंशी* (मुगलों द्वारा आमतौर पर इस्तेमाल किया जाने वाला) के साथ *दीवान-ए इंशा* का एक अलग विभाग मौजूद था। वे आधिकारिक पत्रों के मसौदे तैयार करने के लिए जिम्मेदार थे। *इंशा* लेखन काफी हद तक *दीवानी* के संदर्भ में लिखा गया था। *इंशा* साहित्य का सीधा संबंध दिल्ली सुल्तानों और बाद में मुगलों की कार्यालयीय पद्धतियों (chancellery practices) से था। दिलचस्प बात यह है कि प्राप्त *इंशा* संग्रह उन लोगों के हैं जिनके पास *दीवान-ए इंशा* कार्यालय में कोई पद नहीं था। न तो आइन-उल मुल्क और न ही अमीर खुसरों ने कभी *दीवान-ए इंशा* विभाग में सेवा की, फिर भी उनके संग्रह में राज्य पत्राचार के साथ-साथ महत्वपूर्ण निजी पत्राचार भी शामिल हैं। ये दस्तावेज अक्सर विभिन्न स्रोतों से प्राप्त हुए हैं क्योंकि इन दस्तावेजों को लिखने का उद्देश्य बड़े पैमाने पर उपलब्ध सभी प्रकार के दस्तावेजों की शैलियों के नमूने प्रदान करने का था।

इस प्रकार दो प्रकार के *इंशा* थे, एक पत्र-लेखनशैली से सम्बन्धित लेखन, इस प्रकार वे आवश्यक रूप से वास्तविक नहीं हो सकते थे। ख्वाजा जहां महसूद गावां का *मनाज़िर-उल इंशा* ऐसा ही एक उदाहरण है। अन्य प्रकारों में वास्तविक दस्तावेज/पत्र/पत्राचार संरक्षित हैं। ये दूसरे प्रकार के *इंशा* विशिष्ट ऐतिहासिक महत्व के हैं।

जहां अमीर खुसरों की *इंशा* लेखन की शैली अत्यधिक अलंकृत है, वहीं *इंशा-ए महरू* अपेक्षाकृत सरल रूप में लिखा गया है। *एजाज-ए-खुसरवी* का संकलन 1292 सी ई के आसपास किया गया था। गद्य के नमूनों के अलावा इसमें *फतनामा, फरमान, परवाना, अर्ज़दाश्त* आदि के दस्तावेज भी शामिल हैं। अमीर खुसरो स्वयं स्वीकार करते हैं कि उन्होंने अपनी कल्पना का उपयोग तथ्यात्मक पत्रों के प्रारूप लेखन में भी किया था। हालांकि उनके कुछ पत्र समकालीन इतिहास/समाज पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। उनके द्वारा उल्लखित दो ऐसे महत्वपूर्ण पत्र हैं – अलाउद्दीन के पदारोहण पर जारी किया गया *फरमान* और लखनौती की विजय के बाद बलबन द्वारा जारी किया गया *फरमान*। अमीर खुसरों का *इंशा* संग्रह इस अर्थ में भी उपयोगी है कि इन पत्रों के माध्यम से हमें उस अवधि की विभिन्न साहित्यक और सामाजिक शख्सियतों के बारे में जानकारी मिलती है। यह समकालीन प्रशासन, सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों और उस समय की धार्मिक और साहित्यक परंपराओं पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है।

रशीदुद्दीन फज़्लुल्लाह की *मुकातबात-ए रशीदी*, हालांकि यह एक हमदानी द्वारा लिखी गई थी, जो इल-खानिद ईरान के एक शक्तिशाली *वजीर* थे, इल-खानिद-खलजी संबंधों को समझने के लिए महत्वपूर्ण रचना है। पत्र लगभग 1304-1307 के दौरान लिखे गये थे जब फज़्लुल्लाह ने इलखानिद शासक उल्जैतु (1304-1316) के दूत के रूप में यहाँ दौरा किया था। यह बताया जाता है कि अलाउद्दीन खलजी ने गरम जोशी से उसका स्वागत किया था और यहाँ तक कि उन्हें चार गाँव *सुयूरघाल* (राजस्व मुक्त अनुदान) के रूप में दिये थे। इसमें अलाउद्दीन का एक पत्र शामिल है जो फज़्लुल्लाह को भेजा गया था जो बताता है कि अलाउद्दीन की मध्य एशिया के मंगोलों से सम्बन्धित चिन्ताओं के बावजूद उसके इल-खानिदों के साथ सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध थे। उनके पत्रों के माध्यम से हमें उस काल के प्रतिष्ठित साहित्यक-वर्ग के बारे में भी पता चलता है। उन्होंने उस काल के एक विशिष्ट गणितज्ञ के रूप में दिल्ली के मौलाना शमसुद्दीन हिन्दी का विशेष रूप से उल्लेख किया है।

इंशा-ए महरू, महरू के व्यक्तिगत पत्राचार का एक संग्रह है। उनके विशेष रूप से महत्वपूर्ण पत्र वह हैं जो उन्होंने फिरोज़शाह तुगलक के शासन काल के दौरान मुल्तान के गर्वनर के रूप में लिखें थे, हालांकि कुछ पत्र मुहम्मद तुगलक के शासन काल से भी सम्बन्धित हैं। *इंशा* में कुल 134 दस्तावेज हैं जिनमें मुख्य रूप से *मंशूर, मिस्ल, अहद-नामा* (निष्ठा की शपथ), *अर्ज़दाश्त*, व्यक्तिगत पत्र और उद्घोषणाएँ शामिल हैं। यह इस अवधि के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और प्रशासनिक इतिहास पर विशिष्ट रोशनी डालते हैं। *इंशा* धार्मिक अनुदानों के उद्देश्य पर भी दिलचस्प जानकारी प्रदान करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आमतौर पर अनुदानों को व्यक्तिगत कृपा के लिए नहीं दिया जाता था, इसकी बजाए इसका उद्देश्य व्यक्तिगत पुण्य कमाना था, इस तथ्य की पुष्टि इब्नबतूता द्वारा भी होती है। महरू धार्मिक अनुदानों को प्रदत्त किए जाने की प्रकृति को भी समझने का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। महत्वपूर्ण है कि शिक्षकों, *मुअज़्ज़िनों* आदि को पूर्ववर्ती सुल्तानों की जैसे मुहम्मद बिन साम, प्रिंस मुहम्मद, गियासुद्दीन तुगलक आदि की आत्माओं की शांति के लिए दुआ करने के लिए भी अनुदान दिये जाते थे। *अहद-नामा* जो अमीरों की वफादारी के शपथ-पत्र थे, वह, जैसा के. ए. निजामी कहते हैं, 'ताकत के बजाए कमजोरी का संकेत थे'। ऐसे *अहद नामों* की उपस्थिति अलाउद्दीन या मुहम्मद तुगलक के काल के दौरान नहीं मिलती है। कुछ पत्र करों की गैर-प्राप्ति से सम्बन्धित हैं। एक पत्र बेगार की अस्वीकृति का सुझाव देता है। महरू के पत्रों से हमें राजस्व शब्दावली को समझने में भी मदद मिलती है, विशेष रूप से करों की प्रकृति को – जैसे कि *जज़िया, खराज, खेत, डांगना, शिक, इदरार, खराजी,* आदि। महरू के एक पत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि फिरोज़ ने इबाहती (किसी स्त्री से औपचारिक तलाक से पहले विवाह करना) के खिलाफ इतना कठोर कदम क्यों उठाया? यह बताता है कि इस तरह के रुझान बढ़ रहे थे इसलिए फिरोज़ ने इस दस्तूर के खिलाफ कठोर कदम उठाये। *ज़मींदार* वर्ग की संरचना से सम्बन्धित एक बहुत ही दिलचस्प पहलू को स्पष्ट किया गया है जो फिरोज़ की 1353 की उद्घोषणा की पुष्टि करता है कि *मुकद्दम* और *मफरोज़ियों* ने मिलकर *ज़मींदार* वर्ग का गठन किया।

मुगल काल के *इंशा* संग्रह बहुत अधिक हैं। हकीम यूसुफी (1533) के *बदाई-उल इंशा* से शुरू होकर मलिकज़ादा के (1683) *निगारनामा-ए मुंशी* तक। सभी *इंशा* संग्रहों में अबुल फज़्ल का

नाम सर्वोपरि है – *मुकतूबात-ए अल्लामी* (उनके भतीजे अब्दुस समद द्वारा एकत्र) और *रूक्कात-ए अबुल फज़ल* (उनके दूसरे भतीजे नूरूद्दीन मुहम्मद द्वारा एकत्र)। नुरूद्दीन मुहम्मद ने अबुल फज़ल के भाई फैज़ी का एक और *इंशा* संग्रह *लताइफ-ए फैज़ी* भी संकलित किया था। जहाँगीर के शासन काल के दौरान, मथुरा दास कंबोह के पुत्र हरकरण ने *इशा-ए हरकरण* की रचना की। औरगंजेब की स्वयं की *रूक्कात*, हालाँकि संक्षिप्त, लेकिन मूल्यवान है। औरंगजेब के पत्रों का भी बड़ा संग्रह मिलता है, *रकाइम-ए कराइम, कलमात-ए तैय्यबात*, आदि। अन्य *इंशा* संग्रहों में, मीर अब्दुल कासिम नमकीन (1598) का *मुशांत-ए नमकीन*, बाकिर खान नज़्म सानी का *इंशा-ए बाकिर खान* (1637), मुनीर लाहौरी का *इंशा-ए मुनीर* (1644) और चन्द्रभान का *मुंशात-ए ब्राह्मण* (1657) इस काल के सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक परिवेश को समझने के लिए महत्वपूर्ण हैं।

बोध प्रश्न-2

1) मुगल काल के कुछ संस्मरणों को सूचीबद्ध करें। इस अवधि के सामाजिक इतिहास के निर्माण के लिए गुलबदन बेगम का *हुमायूँ नामा* किन मायनों में महत्वपूर्ण है?

....

....

....

....

2) *बाबरनामा* पर पाँच पंक्तियाँ लिखिए।

....

....

....

....

3) *तुजुक-ए जहाँगीरी* पर एक टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

4) *इंशा* क्या हैं?

....

....

....

....

5) *इंशा-ए महरू* के महत्व पर संक्षेप में लिखिए।

....

....

....

....

1.7 आधिकारिक दस्तावेज

आधिकारिक दस्तावेजों का विस्तार इतना अधिक है कि गिनती करना भी मुश्किल है। इसमें ***फरमान*** (सम्राट के आदेश), ***निशान*** (राजकुमार द्वारा जारी किये गये आदेश), ***परवाना*** (शासक द्वारा अपने अधीनस्थों को जारी किये गये निर्देश), ***हस्ब-उल हुक्म*** (सम्राट के निर्देशों पर एक मन्त्री द्वारा जारी किये गये आदेश), ***दस्तूर-उल अमल*** (प्रशासनिक या राजकोषीय नियम) आदि शामिल हैं। यहाँ हम मुख्य रूप से *दस्तूर-उल अमल* पर ध्यान केन्द्रित करेंगे।

दस्तूर-उल अमल प्रशासन की वास्तविक कार्यप्रणाली को समझने के लिए महत्वपूर्ण स्रोत हैं। हमारे लिए उपलब्ध इस तरह का सबसे पुराना दस्तावेज *दस्तूर-उल अलबाब फी इल्म-इल हिसाब* है, जो फिरोज़शाह के समय में अब्दुल हमीद मुहरि्र गजनवी द्वारा लिखा गया था। उन्होंने इसकी रचना मुख्यतः अपने बेटे को बही-खाते की कला में निर्देश देने के लिए की थी। यह संकलन विभिन्न प्रशासनिक प्रक्रियाओं और मानदंडों के साथ-साथ इस अवधि के दौरान इस्तेमाल किये जाने वाले कई तकनीकी शब्दों पर रोशनी डालता है। लेकिन, सल्तनत काल के विपरीत मुगल अभिलेखों का पूरा भंडार मिलता हैं, विशेष रूप से शाहजहाँ और औरगंजेब के काल में। इनमें प्रमुख हैं – जवाहर नाथ बेकस का *दस्तूर-उल अमल, दस्तूर-उल अमल-ए आलमगीरी, दस्तूर-उल अमल-ए नविसिंदगी, ज़वाबित-ए आलमगीरी, खुलासत-उस सियाक, हिदायत-उल कवायद, फरहंग-ए करदानी*, आदि।

1.8 सूफी लेखन

सूफी वृत्तांतों में हमें तीन प्रकार के साहित्य मिलते हैं – ***मलफूज़ात***, *मक़तूबात* (पत्र) और सूफियों की जीवनी सम्बन्धित वृत्तांत। सूफी साहित्य में *मलफ़ूज़ात* सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। *मलफ़ूज़ात* सूफियों/फकीरों के मध्य के संवाद हैं। हालांकि, ये *मलफ़ूज़ात* मुख्य रूप से नैतिक और धार्मिक पहलुओं को संबोधित करते हैं, फिर भी वे सामान्य जीवन और आम लोगों की स्थितियों पर विशिष्ट रोशनी डालते हैं, वे पहलू जिन्हें अन्यथा आधिकारिक इतिहासकार और इतिवृतकार संबोधित करने में विफल रहे हैं। के. ए. निज़ामी (1982) ने ठीक ही कहा है कि 'अनेक मामलों में सूफी लेखन से मिली जानकारी अविरत और रचित राजनैतिक वृत्तांतों के लिए एक संशोधक के रूप में कार्य करती है'। भारत में इस तरह *मलफ़ूज़ात* लेखन की शुरुआत अमीर हसन सिज़्ज़ी के *फ़ुआद-उल फ़ुआद* (1307) से होती है। यह शेख निज़ामुद्दीन औलिया के मध्य संवाद का संकलन है।

मक़तूबात सूफी शिक्षकों के पत्र/पत्राचार हैं, जिनके माध्यम से वे अपने शिष्यों से दूर रहकर भी उन्हें प्रशिक्षित किया करते थे। यह उनके शिष्यों द्वारा विभिन्न प्रकार की समस्याओं का सामना करने संबंधी निर्देशों पर केन्द्रित हैं। इन *मक़तूबातों* में अब्दुल कुद्दूस गंगोही, शेख अहमद सरहिन्दी, शाह वलीउल्लाह और ख्वाजा मासूम के *मक़तूबात* सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं।

एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत सूफियों की जीवनियाँ हैं। हालांकि, उन्हें आलोचनात्मक रूप से देखा जाना चाहिए क्योंकि अक्सर उनमें अपने शिक्षक की प्रशंसा के लिए अतिरंजित वृत्तांत और चमत्कार आदि शामिल होते हैं। उदाहरण के लिए, अमीर खुर्द के शेख फरीदुद्दीन गंज-ए शकर के बारे में वृत्तांत में कालांतर में अनेक चमत्कारी कहानियाँ शामिल कर दी गईं और अन्त में अली असग़र चिश्ती के *जवाहिर-ए फरीदी* में ऐतिहासिक सत्य को ढूंढ़ना मुश्किल हो जाता है। इस प्रकार सूफी साहित्य का विश्लेषण करते समय स्रोत की सावधानीपूर्वक जाँच-पड़ताल और सम्बन्धित लेखक की पृष्ठभूमि को जानने की आवश्यकता है।

बोध प्रश्न-3

1) *दस्तूर-उल अमल* क्या हैं?

....

....

....

....

2) *मलफ़ूज़ात* क्या हैं?

....

....

....

....

3) क्या आप सहमत हैं कि उस काल के आम लोगों के जीवन का निर्माण करने के लिए *मलफ़ूज़ात* महत्वपूर्ण स्रोत हैं?

....

....

....

....

1.9 विदेशी यात्रियों के वृत्तांत

मध्यकाल के शुरुआती यात्रा वृत्तांतों में सबसे पहले अरब भूगोलवेत्ताओं की कलम से लिखे गये हैं, कुछ ने स्वयं भ्रमण किया था और कुछ ने उन लोगों से जानकारी ली थी जिन्होंने भ्रमण किया था। भारत-अरब सम्बन्धों को तब काफी बढ़ावा मिला जब अल-मामून ने बगदाद में *बैत-उल हिकमा* की स्थापना की और इस प्रकार कई संस्कृत ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद करने की प्रयोजना की शुरुआत हुई, जिसके परिणामस्वरूप संस्कृत और अरबी दोनों को जानने वाले विद्वानों की एक श्रृंखला का उदय हुआ जिसने भारतीय ज्ञान, संस्कृति और इतिहास में अभिरुचि को जन्म दिया। हमें भारत का वृत्तांत अल-मसूदी, इब्न खुर्दादबिह (मृत्यु 911; *किताब-उल मसालिक वल ममालिक*), सुलेमान ताज़िर (*अखबार-उस सिन्ध वल हिन्द*; 851) *अल-इस्तखरी* (951 में भारत का दौरा किया; उसकी *अल-मसालिक वल ममालिक* भारत के बारे में, विशेषकर इसके भूगोल के बारे में और समकालीन सिन्ध का एक मानचित्र भी प्रदान करती है), और इसके अतिरिक्त इब्न हौकल (*सूरत अल-अर्ज*, 989; सिन्ध के नक्शे के साथ भारत के शहरों का आकर्षक विवरण प्रदान करती है) की रचनाओं में मिलता है। यह अरबी लेखन अल-बरूनी (973-1050) के लेखन में चर्मोत्कर्ष पर पहुँचता है जो गज़ना के सुल्तान महमूद के साथ आया था। अपनी *किताब-उल हिन्द* में वह भारत का सुस्पष्ट विवरण प्रदान करता है। अल-उमरी (मृत्यु 1348) हालाँकि कभी भारत नहीं आया लेकिन भारत आने वाले यात्रियों की रचनाओं के आधार पर अपनी *मसालिक-उल अबसार फी ममालिक इल-अमसार* में भारत के बारे में विवरण प्रदान करता है। अरब वृत्तातों में सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक के प्रति विशेष आकर्षण दिखाई पड़ता है। दिलचस्प बात यह है कि, भारतीय वृत्तांतकारों की तुलना में मुहम्मद तुगलक को उनकी 'असीम उदारता, व्यापक शैक्षणिक और बौद्धिक उपलब्धियों और प्रशासनिक प्रतिभा के लिए' अरब वृत्तांतकरों की कलम से व्यापक प्रशंसा मिली (ज़की 2009: vi)। अल-उमरी, शेख मुबारक के वृत्तांत के आधार पर लिखता है कि 'सुल्तान की उदारता और परोपकारिता के कार्य ऐसे हैं कि उनका उल्लेख दुनियाँ के अच्छे कामों के रिकॉर्ड के पन्नों पर होना चाहिए' (ज़की 2009: 32)। वह आगे टिप्पणी करता है कि 'कोई भी सुसज्जित होकर सोने से जड़ित या नक्काशी किये हुए घोड़े की जीन के साथ सवारी नहीं कर सकता था सिवाय उनके जिन्हें स्वयं सुल्तान ने उन्हें दिया था' (ज़की 2009: 40)। ये वृत्तांत एक अफ्रीकी-एशियाई परिप्रेक्ष्य के साथ सल्तनत की हमारी समझ को व्यापक बनाते हैं। इन यात्रियों में मोरक्को का एक यात्री इब्न बतूता प्रमुख है। वह 1333 में भारत आया और 1344 में उसने भारत छोड़ा। उसने न केवल बड़े पैमाने पर भारत के विभिन्न क्षेत्रों की यात्राएँ कीं, बल्कि मुहम्मद बिन तुगलक के तहत् सात वर्षों की लम्बी अवधि तक दिल्ली के *काज़ी* का प्रमुख पद भी संभाला। इब्नबतूता का *रेहला* मुहम्मद बिन-तुगलक के काल के न्यायिक, राजनैतिक, सैन्य-संस्थाओं, कृषि-उत्पादों (इसमें आम और पान का विशेष उल्लेख है), व्यापार, नाप-तौल की पद्धतियों, सीमा-शुल्क और लोगों के दस्तूर और आचार-विचारों पर बहूमूल्य रोशनी डालता है।

मुगल काल पर यूरोपीय यात्रियों के वृत्तांतों का वर्चस्व है। यहाँ सबका उल्लेख करना मुश्किल है। इनमें से कुछ प्रमुख थे – फादर मॉनसरेट, पेलसर्ट, सर टॉमस रो, बर्नियर, टेवरनियर और मानुची। फादर एंटोनियो मॉनसरेट (मृत्यु 1600), एक जेसुईट मिशनरी, फादर एक्वाविवा के साथ प्रथम जेसुईट मिशन (1580-82) के साथ 1580 में बादशाह अकबर के दरबार में आगरा पहुँचे थे। वहाँ उन्होंने मुराद के शिक्षक के रूप में काम किया। 1590 में उन्होंने अपने संस्मरण लिखे। मिर्जा हाकिम के खिलाफ अकबर के अभियानों की घटनाओं का विवरण जानने के लिए मॉन्सेरेट की टिप्पणी एक महत्वपूर्ण स्रोत है। वह अकबर के धार्मिक समागमों/चर्चाओं पर भी बहुमूल्य रोशनी डालते हैं।

फ्रांसिसको पेल्सर्ट एंटवर्प के मूल निवासी थे जिन्होंने 1618 में पूर्व की ओर अपनी यात्रा शुरू की और 1627 तक वरिष्ठ फेक्टर के रूप में आगरा में रहे। यद्यपि उनकी रचना *रेमॉन्सत्रान्सी* (लगभग 1626) का मुख्य उद्देश्य डच वाणिज्यिक गतिविधियों को दर्ज करने का था परन्तु उनका वृत्तांत हिन्दुस्तान के लोगों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति पर बहुमूल्य प्रकाश डालता है। बयाना, सरखेज और मेवात क्षेत्र में नील के उत्पादन और मसाला व्यापार पर उनका वर्णन मूल्यवान है।

सर टॉमस रो (1615-1619) एसेक्स में पैदा हुए एक अंग्रेज़ यात्री थे जो 1615 में जहाँगीर के दरबार में आये थे। रो जहाँगीर के समय की भारत की राजनैतिक व्यवस्था पर उपयोगी अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं। उनका वृत्तांत जहाँगीर, आसफ खान, खुसरो और खुर्रम के चरित्र को समझने के लिए उपयोगी है। सम्राट के नौरोज़ समारोह और सम्राट के तुलादान समारोहों के बारे में उनका लम्बा विस्तृत विवरण पैनी दृष्टि वाला है।

जीन बेपटिस्ट टेवर्नियर (1640-1667), एक जौहरी और हीरा व्यापारी था जिन्होंने भारत की 6 यात्राएँ कीं, जिनमें से पहली यात्रा 1640 में शुरू हुई। टेवर्नियर का वृत्तांत इस अवधि की वाणिज्यिक गतिविधियों को समझने के लिए महत्वपूर्ण है, विशेष रूप से साहूकारों (श्रॉफ/सर्राफ) के छल-कपटों को। इसके अतिरिक्त उनका गोलकुंडा की हीरे की खानों और अन्य बहुमूल्य पत्थरों और मोतियों का वृत्तांत अत्यन्त मूल्यवान और विस्तृत है।

फ्रेंकोइस बर्नियर एक फ्रांसीसी यात्री था जिसने औरगंजेब के शासन काल (1658-1668 तक) के दौरान मुगल साम्राज्य का दौरा किया था। वह एक प्रमुख मुगल कुलीन दानिशमन्द खान की सेवा में सेवारत हुआ और औरंगजेब के दरबार में उसने 12 वर्षों तक एक चिकित्सक के रूप में काम किया। उत्तराधिकार के युद्ध के बारे में बर्नियर का वर्णन प्रत्यक्ष जानकारी प्रदान करने में समृद्ध है। उन्होंने व्यक्तिगत रूप से दारा की दिल्ली की सड़कों पर कराई गई परेड़ को देखा था। धर्मत के युद्ध का उनका वृत्तांत, जिसका वर्णन उन्हें औरंगजेब के एक तोपची द्वारा किया गया था, काफी रोचक है। वह दिल्ली और आगरा के शहरों, लोगों के रीति-रिवाजों और परंपराओं, साम्राज्य की समृद्धि, मुगल *कारखानों* की कार्य-प्रणाली, किसानों की स्थिति और मुगल *सूबेदारों, उमरा* और *जागीरदारों* के शोषण का विस्तृत विवरण प्रदान करता है। उन्होंने अवलोकन किया कि किसानों के शोषण के कारण वे अन्य राजाओं के क्षेत्रों में भाग जाते थे। वह मुगल *कारखानों* में कारीगरों की स्थिति का सजीव वर्णन भी प्रदान करता है। लेकिन, उनका यह वक्तव्य कि सम्राट भूमि का स्वामी था, सही नहीं है। मुगलों का भूमि की उपज पर नियंत्रण था, लेकिन किसानों को भू-स्वामित्व के अधिकार थे और जब तक वे राजस्व का भुगतान करते रहते थे, तब तक उन्हें बेदखल नहीं किया जा सकता था।

निकोलाओ मानुची (1656-1712), एक वेनेशियन यात्री था, जिसे शुरुआत में दारा शिकोह की सेना में एक तोपची के रूप में शामिल किया गया था। बाद में वह राजा जयसिंह (1664) की सेवा में शामिल हो गये और 1665 में शिवाजी से मिले। अपने चिकित्सा के ज्ञान के कारण उसने 1670 में लाहौर में एक चिकित्सक के रूप में सेवा की। और बाद में 1678 में शाह आलम की पत्नी के चिकित्सक बन गये। मानुची का *स्टोरिया डो मोगोर* औरंगजेब के समय के भारत का एक सजीव वृत्तांत प्रदान करता है। औरंगजेब के संबंधों और दक्कन के प्रति मुगल नीति को समझने के लिए मानुची का वृत्तांत उपयोगी है। 1700-1707 के दौरान औरंगजेब की गतिविधियों का विवरण भी महत्वपूर्ण और विस्तृत है। वह हिन्दुस्तान के लोगों के तौर-तरीकों और रीति-रिवाजों का विवरण भी प्रदान करता है। उसके बारे में विलियम इर्विन ने सत्य ही कहा हैः 'कान का कच्चा, अन्धविश्वासी और बातुनी जैसा भी रहा हो, लेकिन वह असामान्य मौकों के प्रति एक उत्सुक पर्यवेक्षक था'।

1.10 क्षेत्रीय ऐतिहासिक परंपरा

क्षेत्रीय ऐतिहासिक परंपरा में विभिन्न राजस्थानी बोलियों में अभिलेखीय प्रमाण राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में संरक्षित हैं। सबसे शुरूआती रिकार्ड 17वीं शताब्दी के हैं जिन्हें मुख्य रूप से जयपुर रिकॉर्ड्स के नाम से जाना जाता है। इसमें *फरमान, निशान, सनद* और *अखबारात-ए दरबार-ए मुअल्ला* शामिल हैं जो मुगलों के साथ जयपुर घराने के घनिष्ट सम्बन्धों पर रोशनी डालते हैं। इसके अतिरिक्त *वकील* रिपोर्ट (फारसी और राजस्थानी दोनों में) हैं जो मुगल दरबार की राजनीति से

सम्बन्धित हैं। *अड़सट्ठा* (आय और व्यय के रिकॉर्ड), जो 1663 से शुरू होते हैं, वह राज्य की आय और व्यय के बारे में विस्तृत जानकारी प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त *दस्तूर कौमवार* राज्य की जाति आधारित पदानुक्रमिक संरचना को समझने में मदद करते हैं। दस्तावेजों का एक और समूह जोधपुर रिकॉर्ड्स का है जो बड़े पैमाने पर *बहियों* के रूप में है (*सनद परवाना बही, कागद बही, हासिल बही, ज़कात बही*) जो 1630 के दशक से शुरू होते हैं। इस प्रवधि के राजस्व प्रशासन को समझने के लिए ये महत्वपूर्ण हैं। *विवाह बहियाँ* राज्य के व्यय के सामाजिक-सांस्कृतिक पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं। राजस्थान के इतिहास और विशेष रूप से मारवाड़ के इतिहास को समझने के लिए एक और महत्वपूर्ण स्रोत मुहणोत नैन्सी की *मारवाड़ रा परगना री विगत* है। अपनी *विगत* में विस्तृत आँकड़े दर्ज करने के कारण नैन्सी को राजस्थान का अबुल फज़ल कहा जाता है। नैन्सी खुद *देश दीवान* थे इसलिए क्षेत्र के गाँव के स्तर के रिकॉर्ड्स तक उनकी पहुँच थी। मारवाड़ क्षेत्र के लोगों के जन-सांख्यिकीय विवरण, बस्तियों, कुँओं, कृषि, बंजर भूमि और पशु शक्ति आदि के ब्यौरे को समझने के लिए यह अत्यन्त उपयोगी है।

पेशवा दफ्तर (अब पूणे अभिलेखागार) में पेशवा और ईस्ट इंडिया कम्पनी से सम्बन्धित मोढ़ी लिपि में 17वीं-19वीं शताब्दी के मराठी दस्तावेजों का एक विशाल संग्रह है, जिनमें से कुछ गुजराती और अंग्रेज़ी में भी हैं। पुणे अभिलेखागार के अभिलेखों को एशिया का सबसे बड़ा अभिलेखीय संग्रह माना जाता है। इसमें लगभग 50 मिलियन दस्तावेजों का विशाल संग्रह है, जिन्हें लगभग 39 हजार कपड़े के बंडलों में, जिन्हें *रूमाल* कहा जाता है, व्यवस्थित किया गया है, इनमें से तीन लाख दुर्लभ पांडुलिपियाँ हैं। कुछ दस्तावेज शिवाजी के काल के हैं। पेशवाओं के शासन के सामाजिक-आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक पहलुओं के साथ-साथ इस क्षेत्र में ब्रिटिश नीतियों को समझने के लिए भी ये दस्तावेज महत्वपूर्ण हैं। गाँव और तहसील स्तरों तक के अभिलेख यहाँ संरक्षित हैं। इसमें दक्कन कमीशन के रिकार्ड भी शामिल हैं। इनाम कमीशन के कागजात शिवाजी, आदिलशाही और निज़ामशाही काल के भूमि अभिलेखों का एक विशाल संग्रह है। यहाँ पेशवा रघुनाथ राव की एक डायरी भी है जो उनके लाहौर पर हमलों और विजय से सम्बन्धित है। इस प्रकार मुगलों से ब्रिटिश काल तक के संक्रमण काल को समझने और 18वीं शताब्दी की घटनाओं को जानने के लिए राजस्थान राज्य अभिलेखागार और पुणे पेशवा दफ़्तर दोनों के अभिलेखों का अत्यधिक महत्व है। मराठों के इतिहास निर्माण के लिए सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दियों में संग्रहित *बखर* एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत है। कई *बखर* शिवाजी के जीवन से संबंधित है। कुल मिलाकर ऐसी 200 *बखर* हैं इनमें से *सभासद बखर, अदनापत्र बखर, महाकवितीची बखर* सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। *महाकवितीची बखर* प्रारंभिक *बखरों* में जानी जाती है जिसका संकलन 15-16वीं शताब्दियों में हुआ। *सभासद बखर* लगभग 1694 में कृष्णजी अनंत सभासद, जो कि शिवाजी के मातहत अधिकारी था, द्वारा रचित थी। बाद में चित्रगुप्त द्वारा इसे विस्तारित किया गया। इसे शिवाजी पर लिखा गया प्रथम संकलन माना जाता है। रामचंद अमात्य (1716) द्वारा रचित *अदनापत्र बखर* में शिवाजी से शंभाजी के काल के मध्य के घटनाक्रम की चर्चा की गई है।

तेलुगु में काव्यात्मक शैली में कृष्णदेव राय द्वारा रचित *अमुक्तमाल्यदा* विजयनगर साम्राज्य की राज्य संरचनाओं को समझने के लिए काफी महत्वपूर्ण है जो मुख्य रूप से राज्य के राजतन्त्रीय सिद्धांतों, राजा के कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों, प्रशासनिक संरचना, सेना, वन और राज्य के राजस्व से सम्बन्धित है। मदुरई नायक द्वारा अधिकृत स्थानापति नयनि विश्वनाथ नायक की *रायवाचकमु* भी एक तेलुगु ग्रन्थ है, जो कृष्णदेव राय के शासनकाल (1509-1529) से सम्बन्धित है, हालांकि यह उनके शासन काल के लगभग 90 वर्ष बाद लिखा गया था। यह मदुरई राज्य की राजनैतिक वैद्यता का वैचारिक समर्थन करता है।

असम के *बुरंजी* साहित्य के अध्ययन के बिना असम के इतिहास को नहीं समझा जा सकता है। अहोम बोली में लिखी गई (बाद में असमिया भाषा में लिखे गये), *बुरंजी* राजाओं, पुजारियों और कुलीन वर्ग के लोगों और उनके समय की घटनाओं के रिकॉर्ड हैं। *देवधई असोम बुरंजी, तुंग खुनगिया बुरंजी, कछारी बुरंजी, जैनतिया बुरंजी, तुकलाई बुरंजी, त्रिपुरा बुरंजी, पदशा बुरंजी* और *असम बुरंजी* कुछ महत्वपूर्ण *बुरंजियाँ* हैं। *बुरंजी* साहित्य जैनतिया, कछार, कूच बिहार क्षेत्रों में होने वाले घटनाक्रमों पर प्रकाश डालता है। यह जय ध्वज और चक्र ध्वज के शासन काल के दौरान नारा, चूटिया, मोरान, बोराही, कोच और मुगलों के साथ अहोम संघर्षों पर दृष्टिपात भी करता है।

कश्मीर क्षेत्र के इतिहास का अध्ययन करने के लिए संस्कृत रचनाओं का बहुत महत्व है। क्षेमेन्द्र की *लोकप्रकाश* कश्मीर के प्रशासनिक ढाँचे और सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों के बारे में वर्णन करती है। इसी प्रकार, कल्हण की *राजतरंगिणी*, जो 1459 तक कश्मीर के इतिहास से सम्बन्धित है, और श्री विजय की *राजतरंगिणी*, जो 1486 तक कश्मीर के शासकों का वृत्तांत है, इस अवधि के राजनैतिक और सामाजिक-आर्थिक इतिहास को समझने के लिए काफी महत्वपूर्ण हैं। हालांकि बाद के समय के लिए फारसी ग्रन्थ *बहरिस्तान-ए शाही* और मिर्ज़ा हैदर दौगलत की *तारीख-ए शाही* उस काल की घटनाओं की प्रत्यक्ष सूचना प्रदान करती हैं।

बोध प्रश्न-4

1) इतिहास के एक महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में यूरोपीय यात्रियों के वृत्तांतों पर एक टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

2) क्षेत्रीय ऐतिहासिक परंपरा पर संक्षेप में लिखिए।

....

....

....

....

1.11 सारांश

उत्तर भारत में मध्यकालीन इतिहास लेखन की दो परंपराएँ मौजूद थीं – अरबी और फारसी। जहाँ अरबी इतिहास लेखन को वास्तव में 'युग' का इतिहास कहा जा सकता है; वहीं फारसी इतिहास परंपरा वंशवादी इतिहास पर केन्द्रित है। भारत में मुख्य रूप से फारसी इतिहास परंपरा की प्रधानता रही। दिल्ली सल्तनत के राजनैतिक इतिवृत्तों में मिन्हाज की *तबकात* हालांकि, राजनैतिक विवरणों और कालक्रम पर बेहद सटीक है लेकिन यह इलबरी वंश और उसके शासकों के बारे में नीरस विवरणों से भरी है। इसके विपरीत, हालांकि बरनी ने भी उसी फारसी इतिहास परंपरा में लिखा था परन्तु उनके इतिहास का विश्लेषण बहुत व्यापक है और आम जनता के जीवन पर प्रकाश डालता है और इतिहास के बारे में अधिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण प्रदान करता है। मुगलों के तहत राजनैतिक इतिवृत्तों की एक श्रृंखला रची गयी। लेकिन अबुल फज़ल के साथ नयी शुरुआत होती है। उनके द्वारा तर्क और तर्कसंगत विश्लेषण पर जोर देने के साथ इतिहास लेखन परंपरा में एक नया आयाम जुड़ गया। इतिवृत्तों के वृत्तांतों के अलावा मध्यकाल आधिकारिक दस्तावेजों (*दस्तूर-उल अमल*), *इंशा* और सूफी *मलफूज़* साहित्य में समृद्ध हैं। अरब भूगोलवेत्ताओं और यूरोपीय यात्रियों के वृत्तांत इस अवधि की ऐतिहासिक घटनाओं को नया अफ्रीकी-यूरोपीय परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हैं। ये रिकॉर्ड तब और भी महत्वपूर्ण हो जाते हैं जब किसी यात्री के वृत्तांत में अनन्य अवलोकन प्राप्त होते हैं, जो कहीं और नहीं मिलते हैं। हालांकि मध्यकालीन इतिहास लेखन में फारसी ऐतिहासिक परंपरा का वर्चस्व था, परन्तु क्षेत्रीय इतिहास और परंपराएं और भाटों के वृत्तांत अत्यन्त उपयोगी हैं, विशेष रूप से ग्राम्य स्तर के मुगल रिकॉर्डस की अनुपस्थिति में, राजस्थानी और मराठी अभिलेखीय रिकॉर्डों का अत्यधिक महत्व है।

1.12 शब्दावली

दस्तूर-उल अमल	प्रशासनिक या राजकोषीय नियम
हस्ब-उल हुक्म	सम्राट के निर्देश पर एक मन्त्री द्वारा जारी किया गया आदेश
फरमान	राजा के आदेश
मलफूज़ात	सूफी संतों के संवाद

निशान	शहजादे द्वारा जारी किये गये आदेश
परवाना	राजा द्वारा अपने अधीनस्थों को जारी किये गये आदेश/निर्देश

1.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) भाग 1.2 देखें
2) भाग 1.2 देखें
3) भाग 1.3 देखें
4) भाग 1.4 देखें

बोध प्रश्न-2

1) भाग 1.5 देखें
2) भाग 1.5 देखें
3) भाग 1.5 देखें
4) भाग 1.6 देखें
5) भाग 1.6 देखें

बोध प्रश्न-3

1) भाग 1.7 देखें
2) भाग 1.8 देखें
3) भाग 1.8 देखें

बोध प्रश्न-4

1) भाग 1.9 देखें
2) भाग 1.10 देखें

1.14 संदर्भ ग्रन्थ

हबीब, मोहम्मद, (1950) 'चिश्ती मिस्टिक रिकॉर्डस ऑफ द सल्तनत पीरियड', *मिडिवल इंडिया क्वाटरली,* भाग 1.

हार्डी, पीटर, (1966) *हिस्टोरियन्स ऑफ मिडिवल इंडिया* (लंदनः लूज़ाक एंड कंपनी).

हसन, मोहिबुल, (2018 {1982}) *हिस्ट्री एन्ड हिस्टोरियन्स ऑफ मिडिवल इंडिया* (दिल्लीः आकार बुक्स).

मुखिया, हरबंस, (2017 {1976}) *हिस्टोरियन्स एन्ड हिस्टोरियोग्राफी ड्यूरिंग द रेन ऑफ अकबर* (दिल्लीः आकार बुक्स).

निजामी, के. ए., (1982) *ऑन हिस्ट्री एन्ड हिस्टोरियन्स ऑफ मिडिवल इंडिया* (नई दिल्लीः मुंशीराम मनोहर लाल).

सिद्दीकी, आई. एच., (2014) *इन्डो-पर्शियन हिस्टोरियोग्राफी, टू द फोर्टिन्थ सेन्चुरी* (नई दिल्लीः प्राइमस बुक्स).

ज़की, मुहम्मद, (2009) *अरब एकाउटंस ऑफ इंडिया (ड्यूरिंग द फोर्टिन्थ सेन्चुरी)* (दिल्लीः इदाराह-ए अदबियात-ए दिल्ली).

1.15 शैक्षणिक वीडियो

हिस्टोरियोग्राफी एन्ड सोर्सिज़ ऑफ देहली सल्तनत

https://www.youtube.com/watch?v=LcL2c-NM0lA&t=47s

मुगल हिस्टोरियोग्राफी एन्ड सोर्सिज

https://www.youtube.com/watch?v=qODAcOrYsBg&t=923s

इकाई 2 दिल्ली सल्तनत की स्थापना, प्रसार और सुदृढ़ीकरण*

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आपः

- दिल्ली सल्तनत के इतिहास के रचनात्मक और सबसे चुनौतीपूर्ण काल को समझ सकेंगे,
- मंगोल समस्या का विश्लेषण कर सकेंगे,
- सल्तनत कालीन शासक वर्ग के संघर्ष, प्रकृति और सत्ता के आधार की भी जानकारी प्राप्त करेंगे,
- दिल्ली सल्तनत की सीमाओं में 14वीं शताब्दी में उत्तर, उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर-पूर्व में होने वाले प्रसार का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे, और
- दक्षिण भारत की ओर होने वाले दिल्ली सल्तनत के प्रसार की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

***डॉ. इफ्तिखार अहमद खां, इतिहास विभाग, एम. एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा; प्रो. रविन्द्र कुमार, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली; और डॉ. नीलांजन सरकार, स्कूल ऑफ ओरिएन्टल एंड अफ्रीकन स्टडीज़, लंदन। यह इकाई इग्नू के पाठ्यक्रम ई एच आई-03: *भारतः 8वीं सदी से 15वीं सदी तक,* खंड 4, इकाई 13, 14 और 15 तथा एम एच आई-04: *भारत में राजनैतिक संरचनाएं,* खंड 3, इकाई 8, 'दिल्ली सल्तनत के अन्तर्गत राज्य' से ली गई है।**

2.1 प्रस्तावना

10वीं शताब्दी में एशिया महाद्वीप के पूर्वी अंचलों में रहने वाले लड़ाकू खानाबदोशों का पश्चिम की ओर गमन देखने में आया। वे लहर पर लहर की तरह आए, उनका हर एक आक्रमण पहले के आक्रमण से कहीं अधिक शक्तिशाली और विस्तृत था। बहुत कम समय में ही बर्बर समूहों ने मध्य और पश्चिम एशिया के कभी संपन्न रहे साम्राज्यों और राज्यों को ध्वस्त कर दिया, वे भूमध्यसागर और काले सागर के तटों तक जा पहुंचे। जहाँ 10वीं और 12वीं शताब्दी के बीच आक्रमण करने वाले मुख्य तौर पर 'तुर्क' थे, वहीं 13वीं से 15वीं शताब्दियों के बीच आक्रमणों में तुर्कों की तरह की ही, लेकिन उनसे कहीं अधिक खूंखार कौम मंगोल शामिल थी।
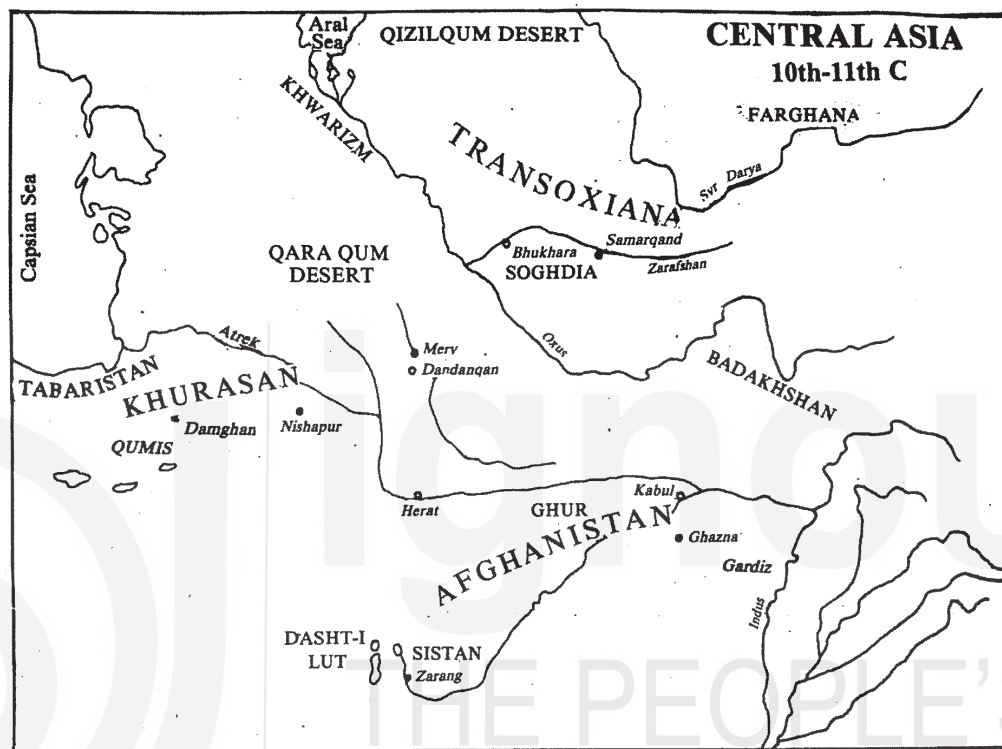
मानचित्र 1.1: 10वीं और 11वीं शताब्दी के दौरान मध्य एशिया
स्रोत: *भारत: 8वीं सदी से 15वीं सदी तक,* खंड 4, इकाई 13, पृ. 11

तुर्क और मंगोल

तुर्क और मंगोल उन घास के मैदानों और रेगिस्तानों की पैदाइश थे जो मध्य एशिया को ट्रांसऑक्सियाना के उत्तर और पूर्व के एक विशाल क्षेत्र में घेरे हुए हैं। और स्पष्ट कहा जाए तो, वे उन खानाबदोशों के वंशज थे जो बैकल झील के दक्षिण में अलताई पहाड़ों के क्षेत्र में घूमते थे। यह क्षेत्र अब बाहरी मंगोलिया का हिस्सा है। उनकी एक आदिम गतिशील सभ्यता थी जिसका आधार कबीलाई संगठन और मवेशियों, भेड़ों और घोड़ों का स्वामित्व था। इसके अलावा, इन कबीलों के पास अक्सर ऊंट, खच्चर और गधे भी होते थे। यह जानवर ही खानाबदोशों की भोजन, कपड़े और बसेरे जैसी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन थे। इन जानवरों के दूध और मांस से उन्हें पोषण मिलता था। जानवरों की खाल का इस्तेमाल कपड़े के तौर पर, और उन तंबुओं (*युर्ता*) को बनाने के लिए भी होता था जिनमें यह खानाबदोश रहते थे (विस्तृत जानकारी के लिए पाठ्यक्रम **बी एच आई सी-102**, **इकाई 11** देखें)।

10वीं शताब्दी के अंत में महमूद गज़नवी के भारत पर आक्रमण और कोई दो सौ साल बाद भारत पर गौरी के आक्रमण इन व्यापक खानाबदोशी अभियानों के दूरगामी रूप थे (ग़ज़ना [आधुनिक गज़नी] और ग़ौर दोनों अफगानिस्तान में हैं)। जैसा एशिया के दूसरे हिस्सों में हुआ, भारत में तुर्कों के आक्रमण के परिणामस्वरूप 13वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में 'दिल्ली सल्तनत' नामक एक स्वाधीन राजनीतिक सत्ता का निर्माण हुआ। 'दिल्ली सल्तनत' शब्द से दिल्ली में तुर्कों की राजधानी दिल्ली से उत्तरी भारत के बड़े हिस्सों पर उनके राज्य का पता चलता है। दिल्ली सल्तनत ने अपने दो सौ वर्षों से अधिक समय के अस्तित्व में नई

राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं को जन्म दिया, हालांकि यह संस्थाएं पहले से विद्यमान संस्थाओं से बहुत भिन्न थीं। लेकिन दरअसल तुर्क अपने साथ जो कुछ लेकर आए थे और जो कुछ भारत में उन्होंने पाया, ये संस्थाएँ, उनका मिश्रण थीं। राजनीतिक और सैनिक संदर्भ में महमूद गज़नवी के आक्रमण दिल्ली सल्तनत के वास्तविक अग्रदूत थे (विस्तृत जानकारी के लिए पाठ्यक्रम **बी एच आई सी-132, इकाई 12** देखें)।

इस इकाई में हम भारत पर तुर्की विजय का अध्ययन करेंगे जिसके परिणामस्वरूप 13वीं सदी सी ई के प्रारंभ में दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई। दिल्ली सल्तनत के शासकों ने सैन्य विजय प्राप्त करने के पश्चात् सल्तनत को सुदृढ़ता प्रदान करने का प्रयास किया।

2.2 संघर्ष एवं सुदृढ़ीकरण: 1206-1290

दिल्ली सल्तनत के इतिहास में 1206 से 1290 तक का समय निर्माणात्मक एवं अत्यधिक चुनौतियों से भरपूर रहा। इस काल की विशेषता यह थी कि जहाँ एक ओर ग़ौर वंश के शासक वर्ग में आंतरिक बहु-केंद्रित संघर्ष था, वहीं तुर्कों को नव-उदित राजपूत विद्रोहों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा।
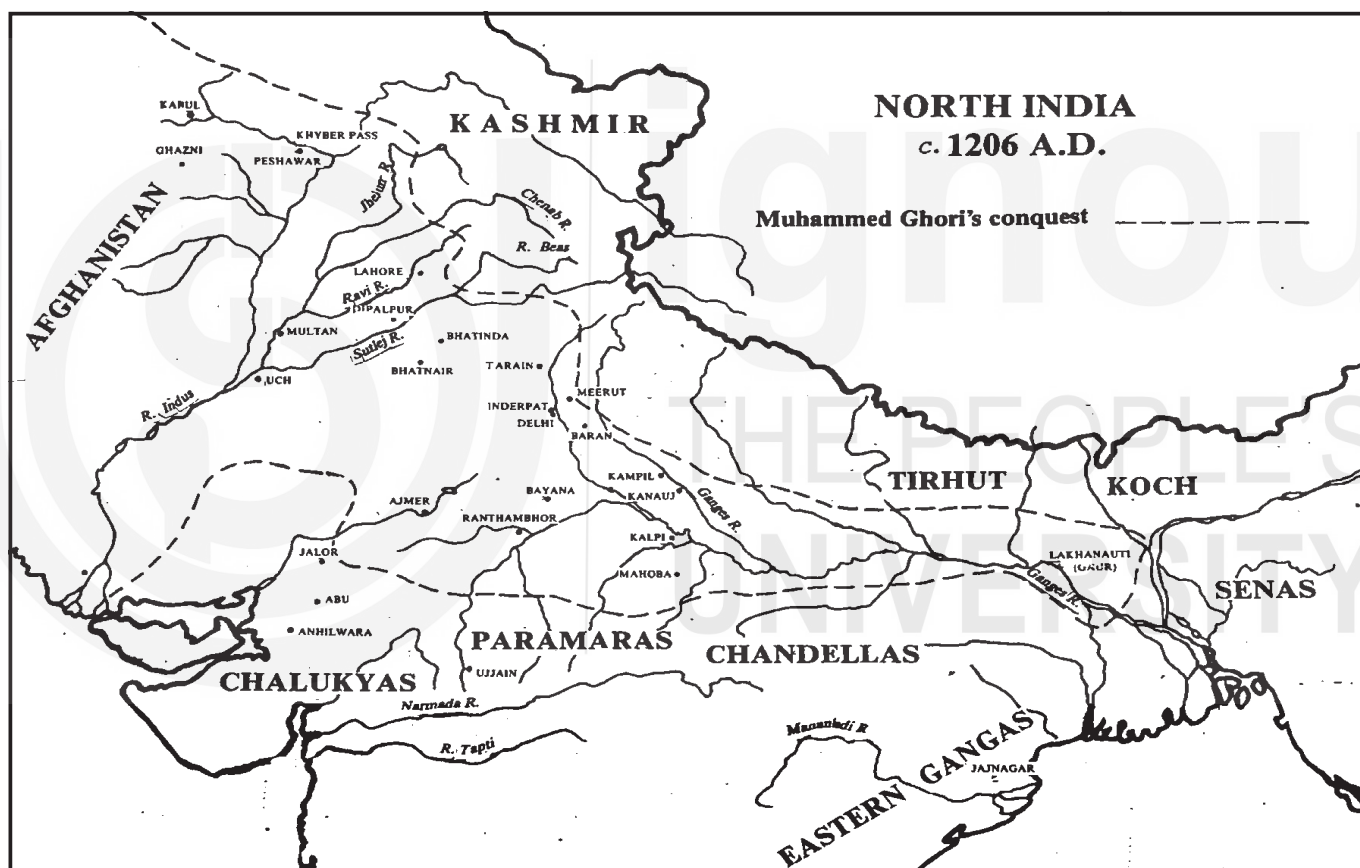
मानचित्र 2.2: गौर आक्रमणों के समय उत्तर भारत

स्रोत : *भारत 8वीं सदी से 15वीं सदी तक,* खंड 4, इकाई 14, पृ. 24

1206 में मुहम्मद गौरी की अचानक मृत्यु के पश्चात् उसके तीन महत्वपूर्ण सेनापतियों ताजुद्दीन यल्दूज़, नासिरुद्दीन कुबाचा एवं कुतबुद्दीन ऐबक के बीच सर्वोच्चता के लिए संघर्ष शुरू हो गया। यल्दूज़ के पास अफगानिस्तान और सिंध के बीच के मार्ग पर स्थित करमन तथा संकूरन के क्षेत्र थे। कुबाचा का उच्छ पर महत्वपूर्ण नियंत्रण था। जबकि ऐबक को पहले से ही मुहम्मद गौरी द्वारा 'वायसराय' के रूप में नियुक्त किया जा चुका था और वह भारत स्थित तुर्क सेना का सेनापति भी था। तकनीकी तौर पर वह अभी भी एक गुलाम ही था, किंतु उसके मालिक मुहम्मद गौरी की मृत्यु के तुरंत बाद उसको 'सुल्तान' की उपाधि प्रदान की गई। औपचारिक तौर पर दिल्ली सल्तनत की स्थापना एक स्वतंत्र पहचान के रूप में इस घटना से ही की जाती है। आगामी घटनाक्रम ने इसे वास्तविक स्वरूप प्रदान किया।

अपने चार वर्ष के संक्षिप्त शासनकाल में पंजाब पर अधिकार करने की यल्दूज की अभिलाषा को निष्क्रिय करने के लिए ऐबक (मृत्यु 1210) अपनी राजधानी को लाहौर ले गया। ख्वारिज़्म शाह के दबाव के कारण, जो दृढ़ता के साथ गौर की ओर बढ़ रहा था, यल्दूज़ स्वयं को भारत में स्थापित करने के लिए बाध्य था।

ऐबक के उत्तराधिकारी के रूप में उसके दामाद इल्तुतमिश ने गद्दी संभाली और वह अपनी राजधानी वापस दिल्ली ले आया। तुर्कों द्वारा विजित क्षेत्र उनके नियंत्रण से बाहर हो गए थे और अधीनस्थ किए गए राजपूत सरदारों ने 'नजराना देना बंद कर दिया था तथा उनकी प्रभुसत्ता मानने से इंकार' कर दिया था। इल्तुतमिश के शासनकाल की एक चौथाई शताब्दी (1210-1236) के दौरान उन क्षेत्रों पर सल्तनत के प्रभुत्व को स्थापित करने पर बल दिया गया, जिनको वे खो चुके थे। इल्तुतमिश ने 1215 में यल्दूज़ को तराइन में पराजित कर दिया और 1217 में कुबाचा से लाहौर प्राप्त कर लिया और इसे अपने गवर्नर के अधीन कर दिया।

इस घटना के तीन वर्ष के अंदर ही, जलालुद्दीन मंगबरनी का पीछा करते हुए मंगोल चंगेज़ खां के नेतृत्व में सिंधु नदी पर प्रकट हुए। जलालुद्दीन ख्वारिज़्म शासक का पुत्र था जिसने पंजाब में शरण ले रखी थी। इसके बाद से ही मंगोल दिल्ली सल्तनत के शासकों के लिए चिंता का विषय बने रहे। 13-14वीं सदी के दौरान मंगोलों द्वारा किए गए आक्रमणों के विषय में हम इसी इकाई के आगामी भाग में विवेचन करेंगे।

यद्यपि मंगोलो की उपस्थिति ने उत्तर-पश्चिम में सल्तनत को सुदृढ़ करने की इल्तुतमिश की योजना को असफल कर दिया था, लेकिन इसने उन परिस्थितियों को उत्पन्न किया जिससे कुबाचा, जिसके नियंत्रण में उच्छ था, का राज्य नष्ट हो गया। उसको मंगबरनी के आक्रमण का सामना करना पड़ा। फलस्वरूप इल्तुतमिश ने भटिंडा, कुहराम तथा सरसुती पर अधिकार कर लिया। 1228 के आसपास उसने मुल्तान एवं उच्छ पर दो तरफा प्रहार भी किया। कुबाचा पराजित हो गया और स्वयं को सिंधु नदी में डुबो दिया। दिल्ली सल्तनत के लिए उत्तर-पश्चिम पर अधिकार करना अब संभव हो गया। राजपूताना में रणथंभोर, मंदौर, जालौर, बयाना एवं थानगीर को पुनः प्राप्त करने में भी तुर्क सफल रहे। 1225 के बाद इल्तुतमिश पूर्व की ओर अग्रसर हुआ। यदा-कदा सैनिक सफलताओं के अतिरिक्त, बंगाल में लखनौती तथा बिहार के शासक सल्तनत के प्रभुत्व की अवहेलना करते रहे।

इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद तुर्कों के मध्य गुटबाजी एवं कलह और अधिक तेजी से स्पष्ट हुई। लगभग तीस वर्षों के दौरान चार शासकों (इल्तुतमिश के उत्तराधिकारी के रूप में) ने दिल्ली सल्तनत पर शासन किया। इन वर्षों के दौरान उच्च राजनीति में निर्णय लेने वाले अति महत्वपूर्ण समूह को ***तुर्कान-ए चिहिलगानी बन्दागान-ए शमसी*** (इल्तुतमिश के 'चालीस' तुर्क गुलाम 'अधिकारीगण') के नाम से जाना जाता है। 14वीं सदी के इतिहासकार ज़ियाउद्दीन बरनी ने इन संकटकालीन वर्षों का संक्षिप्त एवं रोचक वर्णन किया है। वह लिखते हैं:

> शमसुद्दीन (इल्तुतमिश) के शासन्काल में...अति महत्वपूर्ण *मलिकों, वज़ीरों,* जो शिक्षित, बुद्धिमान एवं योग्य थे, की उपस्थिति के कारण सुल्तान (शमसुद्दीन) के दरबार में स्थिरता आई...किंतु सुल्तान की मृत्यु के बाद...उसके 'चालीस' गुलाम 'अधिकारियों' ने दरबार की राजनीति में सर्वोच्चता प्राप्त कर ली...सर्वोच्चता प्राप्त करने वाले ये तुर्क गुलाम अधिकारी जो कुलीन वर्ग से संबंधित थे...शमसुद्दीन के उत्तराधिकारियों के शासनकाल में...विभिन्न बहानों द्वारा नष्ट कर दिए गए।

बरनी ने अपने मुख्य विवरण में तत्कालीन घटनाक्रमों पर भी प्रकाश डाला है। 1235-1265 के बीच राजनीतिक घटनाक्रम सिंहासन एवं सैन्य अभिजात वर्ग, जो अपनी विशिष्ट स्थिति को बनाए रखने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ था, के बीच संघर्ष के इर्द-गिर्द घूमता रहा। और अक्सर संतुलन इस सैन्य अभिजात वर्ग के पक्ष में ही रहा।

इन परिस्थितियों में सल्तनत के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लग गया। राजनीतिक अस्थिरता उस समय और अधिक तीव्र हो गई जब छोटे-छोटे राजपूत सरदारों एवं स्थानीय सरदारों ने केंद्र की अवज्ञा प्रारंभ कर दी। इसके अतिरिक्त, मंगोल आक्रमणकारी अभी भी पंजाब तथा उसके आसपास के क्षेत्र में लगातार सक्रिय थे।

1265 में बलबन के सिंहासनारोहण के साथ ही सल्तनत को एक 'लौह-इच्छाशक्ति वाला' शासक प्राप्त हुआ। बलबन ने स्वयं के लिए दो उद्देश्य निर्धारित किए:

1) दरबारी उत्सवों की शान-शौकत द्वारा ताज की प्रतिष्ठा को स्थापित करना तथा सासानिद परंपराओं का पालन करना, जिससे शासक का स्थान आम जनता में विशिष्ट हो और सुल्तान उनके लिए भय का प्रतीक बन सके।

2) तुर्कों की शक्ति को और सुदृढ़ करनाः विद्रोहों का दृढ़ता के साथ दमन करना और प्रशासनिक तंत्र को चुस्त करना।

बलबन की मृत्यु के बाद सिंहासन के लिए एक बार फिर संघर्ष शुरू हो गया। बलबन ने अपने बड़े पुत्र मुहम्मद के पुत्र कै खुसरो को अपना उत्तराधिकारी नामज़द किया था, लेकिन कुलीनों ने बुगरा खां के पुत्र कैकूबाद को सिंहासन पर बैठाने में मदद की। दो वर्षों से भी अधिक समय तक सिंहासन के लिए संघर्ष चलता रहा। अंततः जलालुद्दीन खलजी, जो उस समय कुलीन वर्ग में प्रमुख था, ने सिंहासन प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की। उसकी इस कार्यवाही का कड़ा विरोध हुआ, क्योंकि उस समय यह समझा जाता था कि खलजी तुर्क नहीं हैं, बल्कि वह एक अन्य जाति से संबंधित हैं। 1206-1290 के बीच खलजी महत्वपूर्ण पदों पर आसीन रहे। उदाहरण के लिए, बख्तियार खलजी बंगाल का *मुक्ती* था। यहाँ तक कि जलालुद्दीन खलजी स्वयं पश्चिमी पंजाब में सुनाम का *मुक्ती* था।

जलालुद्दीन खलजी ने अपने राज्य को सुदृढ़ता प्रदान करना शुरू किया, किंतु 1296 में उसके भतीजे अलाउद्दीन खलजी ने उसका वध कर सिंहासन पर अधिकार कर लिया। लगभग बीस वर्षों तक अलाउद्दीन खलजी के अधीन सल्तनत ने विजय की नीति का अनुसरण किया (इसके विषय में आप **भाग 2.5** में पढ़ेंगे)।

2.3 मंगोल समस्या

इस भाग में हम भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर उत्पन्न मंगोल खतरे एवं उसके परिणामों को मुख्य रूप से रेखांकित करेंगे। हिंदुकुश पर्वत द्वारा विभाजित काबुल-गज़नी-कंधार रेखा पर दिल्ली सल्तनत का नियंत्रण न केवल 'प्राकृतिक सीमाओं' ('scientific frontier') के स्थायित्व के लिए महत्वपूर्ण था, अपितु यह भी एक सत्यता थी कि यह मार्ग भारत को उस बड़े सिल्क मार्ग (Silk-route) से जोड़ता था, जो चीन से मध्य एशिया एवं ईरान होकर गुजरता था। लेकिन मध्य एवं पश्चिम एशिया में होने वाले परिवर्तनों के कारण नव-स्थापित तुर्की राज्य इस कार्य को न कर सका। मंगोल आक्रमणों के कारण उत्पन्न स्थिति ने दिल्ली के सुल्तानों के प्रसार को चिनाब नदी तक ही सीमित रखा, जबकि सतलज का क्षेत्र संघर्षों का मुख्य केंद्र बन गया। इस प्रकार 'सिंधु' नदी भारत की एकमात्र 'सांस्कृतिक सीमा' बनकर रह गई और सभी व्यावाहरिक उद्देश्यों के लिए नियंत्रण रेखा केवल सिंधु नदी के पश्चिम तक ही सीमित थी।

प्रो. के. ए. निजामी ने सल्तनत द्वारा मंगोल खतरे की ओर अपनाए गए दृष्टिकोण को तीन भागों में बांटा हैः क) पृथकता, ख) तुष्टीकरण, और ग) विरोध।

इल्तुतमिश ने 'पृथकता' की नीति का अनुसरण किया। दिल्ली के सुल्तानों को मंगोलो के खतरे का सामना तभी से करना पड़ा जब 1221 में मंगोलों ने ख्वारिज़्म साम्राज्य का अंत कर दिया और चंगेज खां राजकुमार जलालुद्दीन मंगबरनी का पीछा करते हुए भारत की सीमाओं पर आ पहुंचा था। जलालुद्दीन को जब कोई विकल्प दिखाई नहीं पड़ा, तब उसने सिंधु नदी को पार किया और सिंधु के खादर क्षेत्र में घुस गया। इल्तुतमिश मंगोलों को, भारत की सीमा तक पहुंच जाने के कारण, नजरअंदाज नहीं कर सकता था। लेकिन उसके लिए सिंधु के खादर क्षेत्र में मंगबरनी की उपस्थिति भी समान रूप से महत्वपूर्ण थी। सुल्तान को भय था कि कुबाचा तथा खोखर मंगबरनी के साथ मिलकर कहीं गठजोड़ ना कर ले। लेकिन राजनीतिक सत्ता के लिए कुबाचा एवं मंगबरनी के मध्य गठबंधन नहीं हो सका, बल्कि वे सत्ता के लिए आपस में ही भिड़ गए। परंतु इसी बीच उसने खोखरों से वैवाहिक संबंध स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। इससे उत्तर-पश्चिम में मंगबरनी की स्थिति और मज़बूत हो गई। अता मलिक जुवैनी ने अपनी

पुस्तक *तारीख-ए जहांगुशा* में लिखा है कि इल्तुतमिश ने मंगबरनी की उपस्थिति से उस खतरे का अनुमान कर लिया था जिसके अनुसार 'मंगबरनी उसके ऊपर अपनी सत्ता को स्थापित कर उसको नष्ट कर सकता था'। इसके अतिरिक्त इल्तुतमिश भली-भांति सल्तनत की कमजोरियों से भी परिचित था। इन्हीं कारणों से बाध्य होकर इल्तुतमिश ने 'पृथकता' की नीति का अनुसरण किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि चंगेज़ खां ने अपने दूत को इल्तुतमिश के दरबार में भेजा था। सुल्तान के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ कह पाना कठिन है, लेकिन इतना निश्चित है कि जब तक चंगेज़ खां जीवित रहा (मृत्यु 1227), तब तक इल्तुतमिश ने उत्तर-पश्चिम की ओर कोई सैन्य अभियान नहीं भेजा। यह संभव हो सकता है कि दोनों के मध्य एक-दूसरे पर आक्रमण न करने का कोई समझौता हुआ हो। इल्तुतमिश ने कूटनीतिक तरीके से ख्वारिज़्म राजकुमार के साथ राजनीतिक गठबंधन करने की अवज्ञा की। ख्वारिज़्म राजकुमार ने आइन-उल मुल्क को इल्तुतमिश के दरबार में अपने राजदूत के रूप में इस प्रार्थना के साथ भेजा कि वह उसको राजनीतिक शरण दे। किंतु इल्तुतमिश ने यह कहते हुए इंकार कर दिया कि ठहरने के लिए यहाँ की जलवायु उसके अनुकूल नहीं है। दूसरे, उसने, उसके दूत का वध कर दिया। मिनहाज सिराज उल्लेख करता है कि इल्तुतमिश ने मंगबरनी के विरुद्ध सैनिक अभियान भेजा। किंतु मंगबरनी ने किसी तरह से युद्ध को टाल दिया और वह 1224 में अंततः भारतीय भूमि को छोड़ गया।

इल्तुतमिश की 'पृथकता' की नीति से 'तुष्टीकरण' की नीति की ओर बदलाव, उस समय हुआ जब सल्तनत की सीमाओं को लाहौर एवं मुल्तान तक बढ़ा दिया गया। इस नीति के कारण मंगोल आक्रमणों के सम्मुख सल्तनत प्रत्यक्ष तौर पर आ गई क्योंकि अब दोनों के मध्य मध्यवर्ती राज्य (buffer state) नहीं रहा था। बमयान के हसन क़रलग ने रज़िया सुल्तान के सम्मुख मंगोल विरोधी गठबंधन बनाने का प्रस्ताव रखा, किंतु उसने प्रस्ताव को मानने से इंकार कर दिया। इससे स्पष्ट है कि उसने मंगोलों के प्रति 'तुष्टीकरण' की नीति का अनुसरण किया। हमको इस तथ्य को भी ध्यान में रखना चाहिए कि मंगोलों द्वारा अनाक्रमण की इस नीति का अनुसरण चंगेज खां के पुत्रों के बीच साम्राज्य के बंटवारे का परिणाम था, क्योंकि इससे उनकी शक्ति कमज़ोर हो गई थी। दूसरा कारण यह भी था कि उस समय मंगोल पश्चिम एशिया में व्यस्त थे।

चाहे कोई भी कारण रहे हों, किंतु 1240-1266 के मध्य मंगोलों ने प्रथम बार भारत पर अधिकार करने की नीति का अनुसरण किया और इसी के साथ परस्पर एक-दूसरे पर 'आक्रमण न करने के समझौते' के स्वर्णिम युग का अंत हो गया। इस दौरान सल्तनत को मंगोलों से गंभीर खतरा बना रहा। इसका मुख्य कारण मध्य एशिया में होने वाला परिवर्तन था। ट्रांसऑक्सियाना के मंगोल खाकान के लिए शक्तिशाली ईरानी शासक का सामना करना कठिन था। इसलिए उसने अपने भाग्य को परखने के लिए भारत की ओर कूच किया।

1241 में तैर बहादुर ने लाहौर पर आक्रमण किया और नगर को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया। इसी के साथ 1245-1246 में दो और आक्रमण किए गए। नसीरुद्दीन के शासनकाल में बलबन द्वारा किए गए विशेष प्रयासों के बावजूद 1241-1266 के बीच सल्तनत की सीमाएँ सिमटकर व्यास नदी तक रह गईं। इसके बावजूद भी कुछ समय तक 'तुष्टीकरण' की नीति जारी रही। 1260 में हलागू के दूत का दिल्ली में उचित सम्मान किया गया और इसी तरह के कूटनीतिक सम्मान का परिचय हलागू ने भी दिया।

दिल्ली सल्तनत की नीति में विशेष परिवर्तन बलबन के सत्ताकाल से हुआ। कुल मिलाकर यह 'विरोध' का समय था। बलबन अधिकतर समय दिल्ली में ही रहा, उसकी मुख्य ताकत मंगोलों को रोकने में ही लगी रही और उसने उनको व्यास नदी से दूर रखने में सफलता भी प्राप्त की। बरनी लिखता है कि तमार खां तथा आदिल खां जैसे कुलीनों ने बलबन को मालवा एवं गुजरात पर आक्रमण करने का सुझाव दिया और उसे प्रसारवादी नीति का अनुसरण करने की सलाह दी। किंतु बलबन ने उत्तर दियाः

> जबकि मंगोलों ने इस्लाम की संपूर्ण भूमि पर अधिकार कर लिया है, लाहौर को नष्ट कर दिया है और इसे आधार बनाकर प्रत्येक वर्ष हमारे देश पर आक्रमण करते हैं...तब मैं अपनी राजधानी को कैसे छोड़ सकता हूं। मंगोल निश्चय ही इस अवसर का लाभ उठाते हुए दिल्ली

पर अधिकार कर लेंगे और दोआब को रौंद डालेंगे। अपने ही राज्य में शक्ति बनाए रखना और अपनी शक्ति सुदृढ़ करना दूसरे देशों के क्षेत्रों पर आक्रमण करने से कहीं बेहतर है, जबकि अपना स्वयं का राज्य असुरक्षित हो।

बलबन ने मंगोलों के विरुद्ध 'बल एवं कूटनीति' दोनों का उपयोग किया। उसने अपनी सुरक्षा रेखा को मजबूत करने के लिए प्रयत्न किए। व्यास नदी के पार मंगोलो के विस्तार को रोकने के लिए भटिंडा, सुनाम तथा समाना के किलों की मरम्मत कराई। बलबन ने मुल्तान एवं उच्छ पर अधिकार करने में भी सफलता प्राप्त की, किंतु पंजाब में उसकी सेनाओं पर मंगोलों का भारी दबाव बना रहा। बलबन के पुत्र राजकुमार मुहम्मद को प्रत्येक वर्ष मंगोलों के विरुद्ध सैनिक अभियान भेजने पड़ते थे। मंगोलों से मुल्तान की रक्षा करते हुए 1285 में राजकुमार की मृत्यु हो गई। परंतु एक वास्तविकता यह भी थी कि 1295 तक मंगोलों ने दिल्ली पर अधिकार करने के प्रति कोई विशेष उत्सुकता नहीं दिखाई।

खलजियों के शासनकाल में मंगोल आक्रमणों का क्षेत्र और आगे की ओर बढ़ गया। 1299 में मंगोलों ने कुतलग़ ख्वाजा के नेतृत्व में प्रथम बार दिल्ली पर आक्रमण किया। तब से दिल्ली मंगोल आक्रमणों का एक स्थायी लक्ष्य बन गई। दूसरी बार कुतलग़ ख्वाजा ने दिल्ली पर 1303 सी ई में उस समय आक्रमण किया जब अलाउद्दीन चित्तौड़ के अभियान में व्यस्त था। यह आक्रमण इतना भयंकर था कि मंगोलों ने दिल्ली में व्यापक स्तर पर सर्वनाश किया। दिल्ली में उनके रहते अलाउद्दीन खलजी नगर में प्रवेश करने की हिम्मत न कर सका।

मंगोलों के लगातार होने वाले आक्रमणों ने अलाउद्दीन को स्थायी समाधान ढूंढने के लिए बाध्य किया। उसने व्यापक स्तर पर सैनिकों की भर्ती की और सीमावर्ती किलों को मजबूत किया। फलस्वरूप मंगोलों को पहले 1306 में तथा फिर 1308 में पराजय का सामना करना पड़ा। मंगोलों की इस पराजय का एक कारण 1306 में मंगोल सरदार दावा खां की मृत्यु और उसकी मृत्यु के बाद वहां गृह युद्ध का शुरू हो जाना भी था। इससे मंगोल बहुत अधिक कमजोर पड़ गए और अब उनका अस्तित्व एक शक्ति के रूप में समाप्त हो गया। इससे दिल्ली के सुल्तानों को अपनी सल्तनत की सीमाओं का प्रसार करने में सहायता मिली। मंगोलों का अंतिम महत्वपूर्ण आक्रमण तरमाशीरीन (1326-27) के नेतृत्व में मुहम्मद तुगलक के शासन काल में हुआ।

इस तरह दिल्ली के सुल्तान मंगोल समस्या का समाधान करने में सफल रहे और मंगोलों से अपने राज्य को बचाए रखने में सफलता प्राप्त की। इससे सल्तनत की शक्ति भी स्पष्ट होती है। इसके अतिरिक्त, मंगोलों द्वारा मध्य एवं पश्चिमी एशिया में किए गए सर्वनाश के कारण बड़ी संख्या में विद्वान, दार्शनिक, कलाकार एवं अन्य लोग भागकर दिल्ली आ गए और उन्होंने इसको मुस्लिम संस्कृति के एक महान् नगर के रूप में रूपांतरित किया।

2.4 भारत में तुर्की विजय के राजनीतिक परिणाम

भारत की तुर्की विजय के कारण भारत की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों में दूरगामी परिवर्तन हुए।

तुर्की विजय का पहला बड़ा परिणाम यह हुआ कि 'सामंती' एवं बहु-केंद्रित राजनीति का स्थान एक ऐसी केंद्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था ने ले लिया, जिसके अंतर्गत राजा को असीमित अधिकार प्राप्त थे। जिस मुख्य संस्था के कारण सल्तनत संभव हो सकी, वह *इक्ता* व्यवस्था थी जो हस्तांतरित राजस्व भू-अनुदान थे। इस संस्था को सैलजुकों ने अपने अब्बासी शासन क्षेत्रों में अपनाया था, जिसमें उन्होंने अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तन किए। अगले खंड में आप *इक्ता* के इतिहास के बारे में विस्तृत रूप से अध्ययन करेंगे। यहाँ पर हम इसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करेंगे, जिससे कि आप यह चित्रित कर पाएं कि कैसे इसने विभिन्न प्रकार की राजनीतिक प्रणाली को आधार उपलब्ध कराया। इस व्यवस्था के अंतर्गत राजा के अधिकारियों को राजस्व एकत्रित करने तथा सेना एवं अश्वरोहियों के रख-रखाव के लिए भू-क्षेत्र अनुदान दिए जाते थे। इन अधिकारियों को *मुक्ती* कहा जाता था। तुर्कों से पूर्व भूमि-अनुदान प्राप्तकर्ताओं को स्थायी मालिकाना अधिकार प्राप्त थे, किंतु *इक्ता* के अंतर्गत इनका स्थानांतरण होता रहता था और एक विशेष स्थान पर आमतौर पर वे तीन या चार वर्ष तक ही रहते थे।

अगर संपूर्ण सल्तनत के दृष्टिकोण से देखें तो प्रतीत होता है कि यह व्यवस्था अनुदान प्राप्तकर्ता को केंद्रीय सत्ता पर काफी हद तक निर्भर बना देती थी, जो कि परवर्ती राजनीतिक प्रणालियों में संभव नहीं था। जहाँ एक ओर *राय, राणा* एवं *ठाकुर* देश की एकता बनाए रखने में असफल रहे, वहीं पर तुर्कों ने 'अखिल भारतीय स्तर के प्रशासन की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की और ऐसा उन्होंने दिल्ली प्रशासन के नियंत्रण में मुख्य नगरों एवं बड़े व्यापारिक मार्गों को लाकर किया'।

इक्ता व्यवस्था ने जहाँ एक ओर निरंकुश राज्य के लिए आधार उपलब्ध कराया, वहीं यह कृषि के अतिरिक्त उत्पाद को एकत्रित करने का एक साधन भी बन गया। तुर्क अपने साथ नगरों में रहने की परंपरा को लेकर आए थे। इसका परिणाम यह हुआ कि देश के ग्रामीण अंचलों से उत्पादन भू-कर अधिशेष के रूप में नगरों में पहुंचने लगा। इससे पर्याप्त मात्रा में शहरी अर्थव्यवस्था में वृद्धि हुई। तुर्क अपने साथ **रहट** एवं **चरखे** को लेकर आए। रहट से कृषि उत्पादन बढ़ाने में काफी सहायता मिली (विस्तृत जानकारी के लिए **खंड III**, **इकाई 14** देखें)।

बोध प्रश्न-1

1) कुतबुद्दीन ऐबक ने यल्दूज़ की शक्ति को कैसे कुचला?

....

....

....

....

2) 'भारत में तुर्की शासन का वास्तविक संस्थापक इल्तुतमिश था'। व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

3) 'मंगोलों के आक्रमणों का सामना करने के लिए दिल्ली के सुल्तानों ने पृथकता, तुष्टीकरण तथा विरोध, इन तीन शस्त्रों का अनुसरण किया'। व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

4) तुर्कों की भारत विजय के राजनीतिक परिणामों की विवेचना कीजिए।

....

....

....

....

2.5 खलजी शासन का प्रसार

13वीं सदी के मध्य में तुर्की सुल्तानों द्वारा प्रारंभिक विस्तार करने की लहर के शांत हो जाने के पश्चात्, बाद के सुल्तानों का मुख्य उद्देश्य सल्तनत को सुदृढ़ता प्रदान करना था। अतः खलजी वंश की स्थापना तक सल्तनत की प्रारंभिक सीमाओं में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हो पाई। 13वीं सदी के अंत में तुर्की शासन का खलजी वंश द्वारा तख्त पलट दिया गया। इससे शासक वर्ग के जातिगत चरित्र में काफी बदलाव आया। यह एक अति महत्वपूर्ण घटना थी। सल्तनत की उन्मुक्त विस्तारवादी नीति और सल्तनत के मामलों का प्रबंध करने के लिए विभिन्न शासक समूहों की भूमिका के फलस्वरूप क्षेत्रीय प्रसार करना संभव हो सका। जलालुद्दीन फिरोज़ खलजी

द्वारा सत्ता प्राप्त करने के बाद झाइन एवं रणथंभोर में हुई लूटमार ने यह सिद्ध कर दिया कि क्षेत्रीय प्रसार एक राजनीतिक आवश्यकता थी। पड़ोसी राज्य शक्तिशाली हो गए थे और उनके द्वारा किया गया कोई भी संगठित प्रयत्न दिल्ली सल्तनत के लिए महंगा साबित हो सकता था। इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन खलजी के शासन् काल में जहाँ एक ओर इन हमलों का कारण क्षेत्रीय प्रसार था वहीं धन एकत्रित करने का लालच भी इसके साथ मिश्रित हो गया। 14वीं सदी के प्रारंभ में इन दोनों कारकों ने क्षेत्रीय प्रसार की गति को सुनिश्चित किया।

क्षेत्रीय प्रसार के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए प्रथम खलजी सुल्तान जलालुद्दीन के पास न तो इच्छाशक्ति थी और न ही संसाधन। उसके छः वर्ष के शासन को सुल्तान की नीतियों तथा उसके समर्थकों के स्वार्थों के बीच सामंजस्य बनाए रखने के अतिरिक्त विरोधाभासों ने मानों जकड़ लिया था। इस समस्या का समाधान सुल्तान जलालुद्दीन की दुर्भाग्यपूर्ण हत्या के रूप में हुआ। अलाउद्दीन, जलालुद्दीन का हत्यारा एवं उत्तराधिकारी, की साम्राज्य प्रसार की विभिन्न योजना थी। वह क्षेत्रीय अधिग्रहण तथा सल्तनत के प्रसार के उस युग का अग्रदूत था, जिसके शासनकाल के दौरान, 14वीं सदी के मध्य तक, सल्तनत की सीमाएँ दक्षिणी प्रायद्वीप के अंतिम छोर तक फैल गईं।
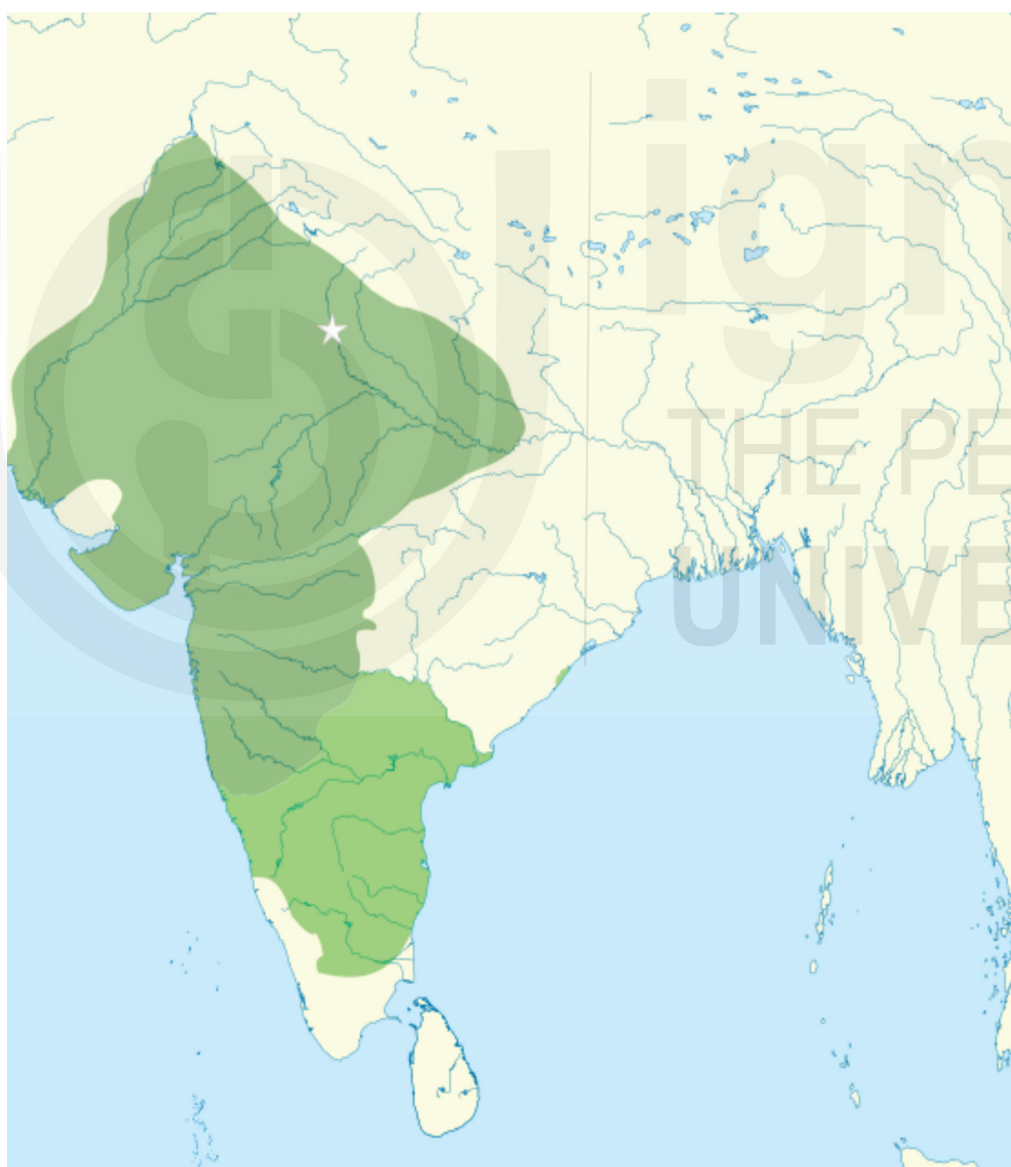
मानचित्र 2.3: खलजी राजवंश के अधीन दिल्ली सल्तनत की अधिकतम सीमा
साभार: यूज़र यूवी डेडरिंग
स्रोत: https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Delhi_Sultanate_under_Khalji_dynasty_-_based_on_A_Historical_Atlas_of_South_Asia.svg

2.5.1 पश्चिम तथा मध्य भारत

अलाउद्दीन खलजी ने दिल्ली में अपनी स्थिति को सुदृढ़ तथा स्वयं को मजबूती से स्थापित करने के बाद 1299 में गुजरात प्रदेश में अपने प्रथम सैनिक अभियान का प्रारंभ किया। उसके अधीन यह प्रथम क्षेत्रीय प्रसार भी था। शायद गुजरात, जिसके संपन्न व्यापार ने सदैव ही आक्रमणकारियों को ललचाया था, की संपन्नता की ओर भी अलाउद्दीन आकर्षित हुआ था।

शाही सेना का नेतृत्व संयुक्त रूप से अलाउद्दीन के दो सर्वश्रेष्ठ सेनापतियों, उलुग खान एवं नुसरत खान, के अधीन था। गुजरात को सरलता के साथ जीत लिया गया। प्रदेश को लूटा गया। राजधानी अन्हिलवाड़ा को नष्ट कर दिया गया। गुजरात का प्रशासनिक नियंत्रण अल्प खान को गवर्नर के रूप में सौंप दिया गया।

साम्राज्य का पश्चिम की ओर प्रसार तथा उस पर नियंत्रण करने के लिए अलाउद्दीन ने 1305 में मालवा को अपने अधीन कर लिया। यह एक विशाल प्रदेश था। इस राज्य की राजधानी माण्डू से राजा राय महालक देव अपने एक शक्तिशाली मंत्री कोका प्रधान की सहायता से शासन करता था। राय की सेना शाही सेना से संख्या में कहीं अधिक थी लेकिन शाही सेना ने अंततः सफलता प्राप्त कर ली और माण्डू के किले पर अधिकार कर लिया गया। मालवा के पतन के बाद प्रशासन के लिए उसको आइन-उल मुल्क को सौंप दिया गया और उसने शीघ्र ही उज्जैन, धार तथा चन्देरी को अपने नियंत्रण में ले लिया।

मालवा का अनुसरण करते हुए सिवाना, जो जोधपुर से दक्षिण-पश्चिम की ओर लगभग 80 किलोमीटर की दूरी पर स्थित था, पर आक्रमण किया गया। अलाउद्दीन की सेना ने 1304-1305 से लगभग छः वर्षों तक सिवाना पर बिना कोई विशेष सफलता प्राप्त किए घेराव डाले रखा। किले पर अंततः 1309 सी ई में अधिकार कर लिया गया। सिवाना का शासक राय शीतल देव सैनिक अभियान के दौरान मारा गया। किले तथा प्रदेश को कमालुद्दीन गुर्ग के नियंत्रण में सौंप दिया गया।

उसी वर्ष (1309 में) जालौर पर आक्रमण किया गया। युद्ध में इसके शासक कन्हार देव का वध कर दिया गया। किले को सल्तनत में मिला लिया गया और कमालुद्दीन गुर्ग के नियंत्रण में दे दिया गया।

2.5.2 उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर भारत

अलाउद्दीन द्वारा सत्ता प्राप्त करने के बाद अलाउद्दीन को जलालुद्दीन के परिवार द्वारा, जो भाग कर मुल्तान चले गए थे, संभावित विद्रोह के दमन की समस्या का सामना करना पड़ा। उलुग खान तथा ज़फ़र खान को मुल्तान में अरकली खान को नष्ट करने का कार्य सौंपा गया। अरकली खान को बंदी बना लिया गया और सुरक्षित रूप से दिल्ली लाया गया। वास्तव में, मुल्तान एक बार फिर दिल्ली के नियंत्रण में आ गया। वास्तव में, मुल्तान अभियान किसी भी तरह से क्षेत्रीय प्रसार का कार्य न था, अपितु सुदृढ़ीकरण की नीति का ही एक भाग था।

1300 में अलाउद्दीन ने रणथंभोर पर आक्रमण करने के लिए उलुग खान को भेजा। इस समय रणथंभोर का शासक राय हमीर था। उलुग खान के अभियान में अवध का गवर्नर नुसरत खान भी सम्मिलित हो गया। रणथंभोर जाते हुए मार्ग में शाही सेनाओं ने झाइन पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् रणथंभोर के किले पर घेराव डाला, जिसका नेतृत्व अलाउद्दीन ने स्वयं अपने हाथ में लिया। यह घेराव लगभग छः माह तक चला। अंततः किले के अंदर महिलाओं ने ***जौहर*** द्वारा अपनी जान दे दी और एक रात स्वयं राय हमीर देव ने किले के फाटकों को खोल दिया और लड़ते-लड़ते मारा गया।

इस नीति का अनुसरण करते हुए अलाउद्दीन ने 1303 में चित्तौड़ पर भी आक्रमण किया। कई आक्रमणों के बाद चित्तौड़ के राजा ने अचानक स्वयं सुल्तान के सम्मुख आत्मसमर्पण का प्रस्ताव प्रेषित किया। उत्तराधिकारी युवराज खिज़्र खान को इस क्षेत्र का गवर्नर नियुक्त किया गया। लेकिन शीघ्र ही किले को चित्तौड़ के पूर्व शासक के भांजे मालदेव को सौंप दिया गया जो अलाउद्दीन के शासन के अंत तक दिल्ली के प्रति वफादार बना रहा।

अलाउद्दीन के शासन के प्रथम दशक के अंत में दिल्ली सल्तनत की सीमाओं का प्रसार लगभग संपूर्ण उत्तर, पश्चिम तथा मध्य भारत में हो चुका था। उत्तर-पश्चिम में मुल्तान से मध्य भारत में विंध्य पर्वत तक, और संपूर्ण राजपूताना का क्षेत्र दिल्ली सल्तनत के अधीन हो गया।

2.5.3 दक्खन एवं दक्षिण की ओर प्रसार

देवगिरी पहले ही 1296 में, जब अलाउद्दीन खलजी कड़ा का गवर्नर था, उसकी लूट का शिकार हो चुका था। दक्खन में दूसरे सैनिक अभियान की योजना भी अलाउद्दीन ने 1306-1307 में राय रामचंद्र देव के विरुद्ध ही बनाई। इस आक्रमण का तात्कालिक कारण देवगिरी द्वारा लंबे समय से दिल्ली को, 1296 में, वार्षिक नजराना न भेजना था।

दक्खन के सैनिक अभियान का नेतृत्व मलिक काफूर को सौंपा गया और इस अभियान में मदद करने के लिए आइन उल मुल्क मुल्तानी तथा अल्प खां को निर्देश भेजे गये। रामचंद्र देव ने थोड़े से विरोध के पश्चात् व्यक्तिगत सुरक्षा का आश्वासन मिलने पर शाही सेनाओं के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। हालांकि उसका पुत्र सेना की एक टुकड़ी के साथ भाग गया, रामचंद्र देव का सुल्तान द्वारा बहुत सम्मान किया गया और इस आश्वासन के साथ उसका शासन वापस लौटा दिया गया कि वह सुल्तान को वार्षिक नजराना शीघ्रता के साथ लगातार भेजेगा। रामचंद्र देव ने सुल्तान के साथ अपनी पुत्री का विवाह भी कर दिया। इससे स्पष्ट होता है कि अलाउद्दीन की नीति देवगिरी पर अधिकार करने की नहीं थी। वह इसको एक संरक्षित राज्य बनाना चाहता था और जितना संभव था उससे धन प्राप्त करना चाहता था।

मलिक काफूर द्वारा देवगिरी अभियान के कुशल संचालन से सुल्तान का उसकी सैनिक योग्यताओं में विश्वास बढ़ गया। सुल्तान ने दक्षिण प्रायद्वीप पर सैनिक आक्रमणों का उत्तरदायित्व उस पर सौंपने का निश्चय किया। ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन के दक्षिण अभियानों का मुख्य उद्देश्य दक्षिणी राज्यों से धन प्राप्त करना था न कि क्षेत्रीय प्रसार करना। अतः अक्टूबर 1309 में मलिक काफूर के नेतृत्व में शाही सेना ने दक्षिण की ओर अपने अभियान का प्रारंभ किया। अमीर खुसरो ने अपनी रचना *खज़ायन-उल फुतूह* में इन सैनिक अभियानों का विशद् विवरण किया है। रास्ते में मलिक काफूर ने आदिलाबाद ज़िले में स्थित सीरपुर के किले पर अचानक आक्रमण किया। सीरपुर के कुलीनों ने वारंगल के राय रुद्रदेव के पास शरण ली। शाही सेना ने सीरपुर के किले पर अधिकार कर लिया।

जनवरी 1310 के मध्य में शाही सेनाएँ वारंगल के समीप पहुंच गईं। 14 फरवरी 1310 में काफूर ने किले पर आक्रमण किया। युद्ध का शीघ्र ही अंत हो गया क्योंकि राय रुद्रदेव आत्मसमर्पण करने के लिए तैयार हो गया। उसने अपने कोष का एक भाग सुल्तान को देने का वचन दिया और वह वार्षिक नजराना अदा करने के लिए भी सहमत हो गया।

सुल्तान की सेना ने वारंगल में शानदार सफलता प्राप्त की। शाही सेना ने 20,000 घोड़े, 100 हाथी का अपार भंडार और हीरे-जवाहरातों से लदे एक हजार ऊंटों को लूट में प्राप्त किया। इस प्रांत का अधिग्रहण नहीं किया गया, बल्कि उसे संरक्षित राज्य का दर्जा प्रदान किया गया। जून 1310 के प्रारंभ में शाही सेना दिल्ली वापस लौट आई। सुल्तान की धन की लालसा की अब कोई सीमा न थी। मंगोलों के खतरों से उत्तर की सीमा के सुरक्षित हो जाने के फलस्वरूप और विंध्याचल के उत्तर तक का संपूर्ण भू-भाग उसके अधीन हो जाने के कारण उसने सुदूर दक्षिण की ओर दूसरा सैनिक अभियान भेजने की योजना बनाई।

राजा की दृष्टि अब वारंगल से और आगे दक्षिण की ओर द्वारसमुद्र पर केंद्रित थी। मलिक काफूर को एक बार फिर शाही सेना का नेतृत्व सौंपा गया। काफूर को लगभग 500 हाथी सहित सोने एवं जवाहरातों को प्राप्त करने का आदेश दिया गया था। फरवरी 1311 में द्वारसमुद्र के किले पर शाही सेना ने घेराव डाला और दूसरे ही दिन द्वारसमुद्र के शासक बल्लालदेव की ओर से शांति स्थापित करने का प्रस्ताव आ गया। अन्य समझौतों की भांति द्वारसमुद्र के शासक ने भी अपार धन और वार्षिक नज़राना देने का वचन दिया।

द्वारसमुद्र की सफलता से उत्साहित होकर मलिक काफूर ने अपने सैनिक अभियान को आगे दक्षिण की ओर जारी रखा। वह माबार की ओर अग्रसर हुआ और एक माह से भी कम समय

में ही पांड्यों की राजधानी मदुरा पहुंच गया। लेकिन पांड्य शासक सुंदर पहले ही भाग गया। मलिक काफूर ने राज्य के कोष एवं हाथियों पर अधिकार कर लिया जो मात्रा में कुल 512 हाथी, 5000 घोड़े तथा 500 मन अमूल्य हीरे-जवाहरात थे।

अलाउद्दीन के दक्खन एवं दक्षिण सैनिक अभियानों के दो मुख्य उद्देश्य थे 1) इन क्षेत्रों में दिल्ली के सुल्तान के प्रभुत्व को औपचारिक मान्यता प्रदान करना, और 2) कम से कम जीवन के नुकसान पर अधिक से अधिक धन-संपदा एकत्रित करना। विजित किए गए क्षेत्रों का अधिग्रहण करने की बजाय विजित राज्यों द्वारा उसके सामंतीय प्रभुत्व को स्वीकार करने की नीति अलाउद्दीन खलजी की राजनीतिक सर्वोच्चता को परिलक्षित करती है।

मलिक काफूर के माबार से लौटने के एक वर्ष के अंदर ही दक्खन में होने वाली घटनाओं को लेकर अधिग्रहण न करने की नीति का पुनरावलोकन करने की आवश्यकता महसूस हुई। 1312 के उत्तरार्ध में देवगिरि के शासक राम देव की मृत्यु के बाद उसका पुत्र भील्लमा उत्तराधिकारी बना। भील्लमा ने दिल्ली के सुल्तान के प्रभुत्व को मानने से इंकार कर दिया और उसने स्वयं को स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। अलाउद्दीन ने मलिक काफूर को इस विद्रोह को कुचलने के लिए भेजा और प्रांत पर अस्थाई नियंत्रण करने का भी आदेश दिया। लेकिन मलिक काफूर को शीघ्र ही वापस बुला लिया गया और उसे आइन उल मुल्क को इस प्रांत का नियंत्रण सौंप देने का आदेश मिला। अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद जनवरी 1316 में आइन-उल मुल्क को भी देवगिरी की समस्या को हल किए बगैर दिल्ली वापस बुला लिया गया। अतः अलाउद्दीन का उत्तराधिकारी मुबारक खलजी सत्तासीन होने के तुरंत बाद ही देवगिरी की ओर प्रस्थान करना चाहता था, लेकिन उसके कुलीन सलाहकारों ने उसको सलाह दी कि वह देवगिरी के अभियान पर न जाए और पहले दिल्ली में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करे। मुबारक ने अपने शासन के दूसरे वर्ष, अप्रैल 1317, में इस अभियान के लिए प्रस्थान किया। अभियान शांतिपूर्ण रहा। देवगिरी की ओर से कोई विरोध नहीं किया गया और मराठा सरदारों ने सुल्तानों के सम्मुख समर्पण कर दिया। इस प्रांत को सल्तनत के अधीन कर लिया गया।

बोध प्रश्न-2

1) निम्नलिखित दिए गए स्थानों में से उस स्थान की पहचान कीजिए जिसको अलाउद्दीन खलजी ने दिल्ली का सुल्तान बनने पर प्रथम बार विजित किया:

   क) देवगिरी

   ख) मालवा

   ग) गुजरात

   घ) माबार

2) निम्नलिखित स्थानों में से किन-किन प्रदेशों को अलाउद्दीन खलजी द्वारा सल्तनत में मिला लिया गया था:

   क) वारंगल

   ख) सिवाना

   ग) देवगिरी

   घ) जालौर

3) दक्खन एवं सुदूर दक्षिण के प्रति अलाउद्दीन की नीति की व्याख्या कीजिए।

   ....

   ....

   ....

   ....

4) नीचे उल्लेखित नामों की सूची में से देवगिरी को सल्तनत के साथ अधिग्रहण करने के बाद किसको प्रथम गवर्नर बनाया गया था:

क) राय रामचंद्र देव

ख) मलिक काफूर

ग) मुबारक खलजी

घ) खुसरो खान

2.6 तुगलक शासन का प्रसार

तुगलक वंश दिल्ली में जिस समय सत्ता में आया (ग़ियासुद्दीन तुगलक ने 1320 में दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त किया) उस समय सल्तनत राजनीतिक अस्थिरता से त्रस्त थी और नए शासक द्वारा तुरंत ध्यान दिए जाने की आवश्यकता थी। दूर-दराज के प्रांतों ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी। सल्तनत का प्रभावशाली नियंत्रण केवल केंद्रीय भू-भाग तक ही सिमट कर रह गया था। प्रशासनिक तंत्र पूर्णतः पंगु हो चुका था और खज़ाना खाली हो चुका था। यह स्वाभाविक ही था कि ग़ियासुद्दीन ने अपना ध्यान आर्थिक एवं प्रशासनिक स्थिति को सुधारने की ओर केंद्रित किया। लेकिन शीघ्र ही साम्राज्य के बाह्य प्रांतों में प्रतिष्ठा एवं प्रभुत्व को पुनर्स्थापित करने का प्रश्न पैदा हो गया।

2.6.1 दक्षिण भारत

दक्षिण में राजनीतिक स्थिति किसी भी तरह से संतोषजनक नहीं थी। अलाउद्दीन के प्रभुत्व को स्वीकारने और दक्षिण के शासकों द्वारा वफादारी का वचन नाममात्र के लिए ही था। देवगिरी और तेलंगाना के प्रांतों में शाही प्रभुत्व को पुनर्स्थापित करने के लिए नए सैनिक अभियानों की निश्चय ही आवश्यकता थी। जैसा कि आपने ऊपर पढ़ा कि देवगिरी को मुबारक खलजी द्वारा पहले ही सल्तनत के अधीन कर लिया गया था। लेकिन देवगिरी से दक्षिणेतर राज्यों ने सल्तनत सत्ता के बचे अवशेषों को भी उखाड़ फेंका था। इसलिए तेलंगाना क्षेत्र पर सुल्तान ग़ियासुद्दीन ने तत्काल अपना ध्यान केंद्रित किया।

1321 में उलुग खां (बाद में मुहम्मद तुगलक के नाम से जाना गया) ने एक विशाल सेना के साथ दक्षिण के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में बिना किसी बड़ी बाधा के ही वह वारंगल पहुंच गया। दो सैनिक घेराबंदियों के बाद – जो प्रत्येक चार या पाँच माह चलीं – वहाँ का शासक राय रूद्र अंततः समर्पण करने के लिए तैयार हो गया। लेकिन इस बार विद्रोही को क्षमा करने का कोई अवसर नहीं दिया गया। किले पर अधिकार कर लिया गया, उसे लूटा गया और कुछ तोड़फोड़ की गई। राय को गिरफ्तार कर सुरक्षित रूप से दिल्ली लाया गया। वारंगल का अधिग्रहण कर उसको सल्तनत के प्रत्यक्ष प्रशासन के अधीन कर लिया गया।

इस नीति का अनुसरण करते हुए उलुग खां ने माबार को भी समर्पण करने के लिए बाध्य किया और यहाँ पर भी प्रत्यक्ष शाही प्रशासन स्थापित किया। स्थानीय योग्य लोगों को प्रशासन में पर्याप्त स्थान दिया गया और पराजित लोगों के विरुद्ध दमन की नीति को समाप्त कर उनको क्षमा कर दिया गया।

2.6.2 पूर्वी भारत

पूर्वी भारत में किए गए सैनिक अभियान दक्षिण में होने वाले युद्ध का परिणाम थे। शाही सेना के वारंगल पर आक्रमण के समय ओड़िशा में स्थित जाजनगर के शासक भानूदेव द्वितीय ने वारंगल नरेश राय रूद्र देव की सहायता की थी। अतः 1324 के मध्य उलुग खां ने वारंगल से प्रस्थान करते हुए जाजनगर पर भी आक्रमण किया। दोनों के मध्य घमासान युद्ध हुआ और अंततः विजय उलुग खां की हुई। उसने शत्रु के पड़ाव को खूब लूटा और बहुत अधिक धन एकत्रित किया। जाजनगर को जीतकर उसको सल्तनत का एक अंग बना दिया गया।

पूर्वी भारत में बंगाल प्रांत सदैव से ही विद्रोह का गढ़ रहा था। इस प्रांत के गवर्नर स्वयं को स्वतंत्र करने का कोई भी अवसर नहीं जाने देते थे। लखनौती राज्य के स्वतंत्र शासक फिरोज़ शाह की मृत्यु के बाद 1323-1324 में सिंहासन के लिए भाइयों के बीच युद्ध प्रारंभ हो गया। लखनौती के कुछ कुलीन सहायता के लिए ग़ियासुद्दीन के पास आए। ग़ियासुद्दीन ने सहायता

करने का वचन दिया और स्वयं बंगाल की ओर प्रस्थान किया। तिरहुत पहुंचने पर सुल्तान वहाँ पर ठहर गया और उसने बहराम खां को अन्य अधिकारियों के साथ लखनौती भेजा। विरोधी सेनाओं में परस्पर संघर्ष लखनौती के समीप हुआ। सुल्तान की सेनाओं ने सरलता से बंगाल की सेनाओं को पराजित कर दिया और कुछ दूर तक उनका पीछा किया। नसीरुद्दीन के नेतृत्व में युद्धरत एक समूह को लखनौती में एक अधीनस्थ शासक के तौर पर नियुक्त किया गया।

2.6.3 उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर

अलाउद्दीन के मुल्तान अभियान से ही सुल्तान की पश्चिमी सीमाएँ स्थिर बनी रही थीं। बाद में सुल्तान दक्षिण एवं गुजरात के मामलों में ज्यादातर व्यस्त रहे। अंततः मुहम्मद तुगलक के सत्ता में आ जाने के बाद ही उत्तर-पश्चिम सीमा की ओर ध्यान केंद्रित किया जा सका। सिंहासनारूढ़ होने के तुरंत बाद मुहम्मद तुगलक ने कलानौर एवं पेशावर में सैनिक अभियान भेजे। संभवतः यह 1326-1327 में तरमाशिरीन खां के नेतृत्व में हुए मंगोल आक्रमणों का परिणाम था। इसलिए मुहम्मद तुगलक अपने इन अभियानों द्वारा भविष्य में मंगोलों के होने वाले आक्रमणों से उत्तर-पश्चिम सीमा को सुरक्षित करना चाहता था। सुल्तान कलानौर जाते समय स्वयं लाहौर में ठहरा लेकिन उसने अपनी सेना को कलानौर तथा पेशावर पर आक्रमण करने का आदेश दिया। इस कार्य को बिना किसी विशेष कठिनाई के पूरा कर लिया गया। सुल्तान ने इन नए विजित किए गए क्षेत्रों की प्रशासनिक व्यवस्था को दुरुस्त किया तत्पश्चात् वापस दिल्ली लौट आया।

लगभग 1332 में सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने कराचील क्षेत्र को विजित करने की योजना बनाई। इस क्षेत्र की पहचान हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा जिले में स्थित आधुनिक कुल्लू से की जाती है। यह उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम सीमा की किलेबंदी करने की योजना का ही एक भाग था। इस उद्देश्य के लिए उसने खुसरो मलिक के नेतृत्व में एक विशाल सेना भेजी। सेना ने कराचील क्षेत्र के महत्वपूर्ण स्थान जिद्या पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की। सुल्तान का आदेश इस स्थान को विजित करने के पश्चात् वापस लौटने का था। लेकिन खुसरो मलिक ने अपने उत्साह में सुल्तान के आदेश को नहीं माना और वह तिब्बत की ओर आगे बढ़ गया। परंतु शीघ्र ही वर्षा प्रारंभ हो गई और सेना बीमारी और प्रकोपों का शिकार हो गई। यह विपत्ति इतनी भयंकर थी कि मात्र तीन जवान इस विपत्तिपूर्ण कहानी का विवरण देने के लिए जीवित वापस आ सके। कराचील अभियान में संसाधनों का काफी नुकसान हुआ और इससे सुल्तान मुहम्मद तुगलक की प्रभुसत्ता को भी काफी ठेस पहुंची।

कराचिल अभियान से कुछ समय पूर्व सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने मध्य एशिया में स्थित खुरासान को अपने अधीन करने के लिए एक अति महत्वाकांक्षी योजना को प्रारंभ किया। इस उद्देश्य के लिए 370,000 सैनिकों की एक विशाल सेना को भर्ती किया गया और सिपाहियों को एक वर्ष के वेतन का भुगतान पहले ही कर दिया गया। सेना के लिए मूल्यवान हथियारों को खरीदने के लिए काफी बड़ी मात्रा में धन खर्च किया गया। परंतु अंततः इस योजना को यह कह कर छोड़ दिया गया कि वह अव्यावहारिक है। सेना को भी बर्खास्त कर दिया गया। इसके कारण न केवल गंभीर वित्तीय हानि हुई बल्कि सुल्तान की प्रभुसत्ता को भी काफी गहरा धक्का लगा और इसके फलस्वरूप कई विद्रोह भी हुए जो दिल्ली सल्तनत के लिए अत्यधिक हानिकारक साबित हुए।

2.7 राज्य की प्रकृति

दिल्ली सल्तनत की प्रकृति के अध्ययन के लिए सत्ता हासिल करने और उसे कायम रखने के तरीकों को समझना जरूरी है। हालांकि यह सही है कि किसी समूह के द्वारा, जो साधारणतः श्रेष्ठ सैन्य क्षमता से युक्त था, सत्ता हथियाई जा सकती थी। परंतु यह शासकों के लिए सत्ता में बने रहने के लिए पर्याप्त नहीं था। शासकों को अपने शासन को वैधता प्रदान करने के लिए विभिन्न माध्यमों की जरूरत थी। वैधता प्रदान करने के लिए केवल कुलीन वर्ग या धार्मिक वर्ग (दिल्ली सल्तनत में *उलमा*) जैसे महत्वपूर्ण समूहों या वास्तुकला को संरक्षण देना ही शामिल नहीं था, बल्कि नियंत्रण और प्रशासन के लिए नई व्यवस्थाएँ बनाना भी जरूरी था, जो शासक वर्ग को कर वसूलने का अधिकार देती थी जिससे वे अपना प्रभुत्व बनाए

रखते थे। यह प्रशासनिक संरचनाएँ (जिनके बारे में आप **खंड II** और **III** में पढ़ेंगे) शासकों की मौजूदगी का एहसास ऐसे क्षेत्रों में भी कराती थीं जो कि केंद्रीय राजनैतिक राजधानी से दूर थे। सरल शब्दों में, वैधता प्रदान करने के लिए यह तरीके राज्य को सामाजिक परिदृश्य में प्रभुत्व प्रदान करते थे।

दिल्ली सल्तनत में, राज्य के एक महत्वपूर्ण घटक – कुलीन वर्ग – में तुर्की गुलामों की संख्या अधिक थी जिनके शासक विशेष के साथ निष्ठा के अत्यधिक जटिल संबंध थे। मालिक-शासक की मृत्यु हो जाने पर इनकी नए शासक के प्रति कोई निष्ठा नहीं होती थी और यह नए शासक के खिलाफ विद्रोह कर देते थे। शासकों और कुलीन वर्ग के बीच सत्ता संघर्ष एक आम बात थी। शुरुआत में तुर्क कुलीन वर्ग ने सभी शक्तिशाली पदों पर एकाधिकार स्थापित किया था लेकिन खलजियों के आगमन के साथ कुलीन वर्ग की प्रकृति बदल गई। आने वाले समय में मुसलमानों के विभिन्न वर्ग, जिनमें भारतीय मुसलमान भी शामिल थे, कुलीन वर्ग में शामिल हो गए। संकीर्ण सामाजिक आधार होने के बावजूद शासक वर्ग स्थानीय समाज की समन्वयकारी प्रकृति के प्रति संवेदनशील था। दिल्ली सल्तनत में सूफी और भक्ति आंदोलन का विकास राज्य में व्याप्त सहनशीलता की भावना को दर्शाता है।

दिल्ली सल्तनत के अंतर्गत राज्य की प्रकृति के बारे में अपना मत निर्धारित करने के लिए आधुनिक विद्वानों ने फख्र-ए मुदब्बिर की *आदाब-उल हर्ब व शुजात* (राजाओं के रिवाजों और प्रजा पर शासन) और ज़िया बरनी की *फतवा-ए जहांदारी* (शासन के सिद्धांत)[1] और साथ में अधिकतर दूसरे प्रमाणों के स्रोतों की मदद ली है। यह बहस का केंद्र बिंदु रहा है क्योंकि मुख्यतः सामान्य तौर पर ऐसा माना जाता रहा है कि दिल्ली सल्तनत में ही वो नींव रखी गई जिसके आधार पर बाद में मुगल साम्राज्य अपना वैभव और शक्ति बनाने में सक्षम हो सका। *इकॉनामी एंड सोसायटी* में मैक्स वेबर दिल्ली सल्तनत को 'पितृसत्तात्मक राज्य' (patrimonial state) कहते हैं। इस धारणा की व्याख्या करते हुए जेकब रोसेल कहते हैं कि यह वैसा राज्य होता है जिसमें शासक राज्य पर नियंत्रण के लिए कुछ प्रशिक्षित और भरोसेमंद अधिकारियों पर आश्रित रहता है और वे सब प्रशासनिक कार्यों में लगे रहते हैं, जैसे कि कर संग्रह, व्यापार एवं वाणिज्य पर नियंत्रण, कानून और व्यवस्था आदि। इसमें बहुत सारे मामलों में विभिन्न प्रांतीय और स्थानीय स्तर पर स्थानीय शक्ति समूहों और बिचौलियों को सत्ता दी जाती है। हालांकि इस धारणा का परीक्षण करने की जरूरत है जिसके लिए अभी पर्याप्त साक्ष्य मौजूद नहीं हैं और इसी कारण दिल्ली सल्तनत की प्रकृति के बारे में विश्लेषण करने के लिए यह धारणा आमतौर पर मान्य नहीं है जबकि मुगल साम्राज्य की व्यवस्था के लिए यह धारणा ज्यादा उपयुक्त है।

स्टैनली लेन-पूल, ईश्वरी प्रसाद, ए. बी. एम. हबीबुल्लाह, मुहम्मद हबीब, के. ए. निज़ामी जैसे इतिहासकार और हाल में पीटर जैक्सन ने दिल्ली सल्तनत को केंद्रीकृत राज्य माना है। इसकी व्याख्या करने की जरूरत है। दिल्ली सल्तनत की स्थापना 1192 में तराइन के द्वितीय युद्ध के बाद हुई थी। एक प्रमुख कारण जिसकी वजह से तुर्क इस महाद्वीप में – पहले लाहौर में और 1206 के बाद दिल्ली में, जो कि उनकी राजधानी के रूप में रही – अपने आप को स्थापित कर पाए। हालांकि 1324-1327 के बीच एक संक्षिप्त अंतराल रहा। साइमन डिग्बी (*वार-हॉर्स एंड द एलीफैंट इन द दिल्ली सल्तनतः ए प्रॉब्लम ऑफ मिलिट्री सप्लाइज़*) के अनुसार यह उनकी उच्च स्तरीय सैन्य तथा संगठनात्मक क्षमता के कारण संभव हुआ । वहीं दूसरी तरफ रोमिला थापर (*अर्ली इंडियाः फ्रॉम ओरिजिन्स टू ए. डी. 1300*) में तर्क देती हैं कि एकता का अभाव और स्थानीय सत्ता की इकाइयों के आपसी झगड़े (विशेष रुप से राजपूतों के मध्य) और साथ में निम्नस्तरीय सैन्य तकनीक के कारण 1192 में पृथ्वीराज चौहान की हार हुई। इसके बाद जिस राजतंत्र का आविर्भाव हुआ वह पहले के मुकाबले ज्यादा स्थिर था। समय के साथ इसके राजनैतिक आधार का विस्तार तथा सुदृढ़ीकरण हुआ। इसकी प्रमुख वजह यह थी कि ये उपलब्ध संसाधनों को उपयोग में ला सका था, एक योजना जो केंद्रीकृत और निरंकुश राज्य – जो कि शासन के विभिन्न अवयवों को अपने फायदे के लिए नियंत्रित कर सकता था – के बिना

[1]फख्र-ए मुदब्बिर के *आदाब-उल हर्ब व शुजात* और ज़िया बरनी की *फतवा-ए जहांदारी* के बारे में विस्तृत रूप से जानकारी के लिए **एम एच आई-04, इकाई 8, भाग 8.3** देखें।

संभव नहीं थी। हरमन कुलके की व्याख्यानुसार, ये अवधारणाएँ दिल्ली सल्तनत राज्य को आधुनिक से पूर्व राज्य संरचना की श्रृंखला के अंत में रखती हैं। वे उत्तर-1200 के अंतराल के मध्यकालीन ('मुस्लिम') राज्य को ऐसे राजतंत्र के रूप में चित्रित करते हैं जिसका नेतृत्व एक शक्तिशाली शासक करता था, जिसमें एक कुशल और पदानुक्रम के आधार पर संगठित केंद्रीय प्रशासन था जिसको एक स्पष्ट परिभाषित क्षेत्र में धार्मिक संदर्भ में बलपूर्वक (कमोबेश) एकाधिकार की वैधता प्राप्त थी।

लेकिन आधुनिक शोध से पता चलता है कि हालांकि तुर्कों की राजनैतिक व्यवस्था बनी रही और लगातार सुदृढ़ हुई, परंतु यह आसानी से निर्विघ्न पूर्ण होने वाली प्रक्रिया नहीं थी जिसे कोई चुनौती न मिली हो। राज्य किस हद तक केंद्रीकृत था, यानी किस सीमा तक शासक और दरबार के कुलीन जो कि केंद्रीय राजनैतिक सत्ता समूहों का प्रतिनिधित्व करते थे वास्तविक शक्ति तथा नियंत्रण इस विस्तृत राज्य में लागू कर सकते थे, विवाद का विषय बना हुआ है, तथा इस पर आम सहमति नहीं बन पाई है। इन अध्ययनों से पता चलता है कि इस समय राज्य केवल आंशिक रूप से नौकरशाही से युक्त था, परंतु राजनीतिक विखंडन और स्थानीय तथा सांसारिक संदर्भ में एकीकृत करने वाले पहलुओं के अस्थायी स्वरूप के बारे में भी एकमतता नहीं है। केंद्रीय राजनैतिक सत्ता को हमेशा विभिन्न स्थानीय शक्ति समूहों द्वारा चुनौती मिलती रही और केंद्र में सुल्तान का समय और संसाधन इन ताकतों को नियंत्रित करने की कोशिश में लगते थे। उन कुलीनों ने भी विरोध किया जो साम्राज्य के विभिन्न हिस्सों में तैनात किए जाते थे (जैसे कि *इक्तादार* वह अधिकारी जिन्हें वेतन के बदले में भू-क्षेत्र दिए जाते थे, जिससे एकत्रित राजस्व का कुछ हिस्सा अधिकारी के पास रहता था तथा अधिशेष राज्य को जाता था) और जो अपने क्षेत्रों पर स्वतंत्र होकर शासन करना चाहते थे।

हालांकि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि साम्राज्य में कुछ सीमा तक केंद्रीकृत सत्ता थी और जहाँ स्थानीय ताकतों का प्रभुत्व था उन्हें भी सुल्तान तथा दरबार का वर्चस्व स्वीकार करना पड़ता था। यह इस तथ्य से समझा जा सकता है कि सुल्तान को अक्सर 'विरोधी' समूहों के साथ युद्ध करना पड़ता था, चाहे वे राज्य के अधिकारी हों जो केंद्र के विरुद्ध हो गए हों या कोई दूसरी स्थानीय शक्ति। केंद्र, राज्य के विभिन्न भागों में अपनी गतिविधियों के द्वारा अपने अस्तित्व को बनाए रखता था– जैसे कि करों को वसूलना, वास्तुकला, सड़कों, मस्जिदों का निर्माण और धार्मिक संगठनों और व्यक्ति विशेष को दान और इसी तरह के दूसरे कार्य। राज्य के अस्तित्व का प्रमुख लक्षण सेना का निरंतर सल्तनत के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में गतिशील रहना था जो कि क्षेत्र के विस्तार और विरोधियों के दमन के लिए आवश्यक था। केंद्रीय सेना जिस क्षेत्र से गुजरती स्थानीय लोगों को भोजन तथा शरण देकर उसका सत्कार करना पड़ता था। दिल्ली सल्तनत के कई स्थानीय क्षेत्रों में स्थानीय मुखिया शासन करते थे और रोजमर्रा की प्रशासनिक गतिविधियाँ स्थानीय परंपराओं पर आधारित थीं। स्थानीय क्षेत्रों में केंद्र के अस्तित्व का मतलब यह नहीं था कि जो संरचनाएँ पहले से अस्तित्व में थीं उनको बदल दिया गया, बल्कि आमतौर पर दोनों संरचनाएँ सामंजस्य के साथ काम करती रहीं। लगभग 200 साल के बाद मुगलों के काल में, सारे साम्राज्य में प्रशासन में एकरूपता राजनैतिक और प्रशासनिक परिपक्वता के साथ ही संभव हो पाई।

कुछ अन्य रचनाएँ हैं, जिनमें दूसरे दृष्टिकोण से राज्य की प्रकृति के बारे में बताया गया है। जैसे कि स्टीफन कौनरमन ने 14वीं शताब्दी के पर्यटक इब्नबतूता के *रिहला* के अध्ययन के आधार पर दिल्ली सल्तनत का आर्थिक संदर्भ में विश्लेषण किया है। उसने इसकी 'पितृसत्तात्मकवादी' विशेषताओं पर भी बल दिया है। दूसरे विद्वानों ने अन्य शक्ति समूहों पर ध्यान केंद्रित किया है, जैसे कि सूफियों पर। वे तर्क देते हैं कि राज्य की प्रभावात्मकता सूफी आध्यात्मिक गुरु (*पीर*) के कारण बाधित होती थी जिनका आस-पास के क्षेत्रों के लोगों पर बहुत अधिक प्रभाव था। इस संदर्भ में यह बताना जरूरी है कि स्थानीय लोगों के धर्म ने सूफियों के प्रभाव को कम नहीं किया। आमतौर पर सूफी उन जगहों पर बसते थे जो शहर से थोड़ी दूरी पर होते थे, लेकिन शायद सबसे नाटकीय स्थिति तब सामने आई जब सुल्तान अलाउद्दीन खलजी के शासनकाल (1296-1316) में सूफी *पीर* शेख निजामुद्दीन औलिया ने अपनी खानकाह राजधानी में ही स्थापित कर दी और इस तरह से सुल्तान की राजनैतिक शासन के प्रभाव को बड़ी चुनौती दी।

ऐसे अवसरों पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य की नीतियों को प्रभावी बनाने के लिए शासकों के लिए यह जरूरी था कि राजनीति को धर्म और धार्मिक गतिविधियों तथा व्यक्ति विशेष से अलग रखा जाए। उपलब्ध लिखित स्रोतों में भाषा की प्रकृति, जिसमें धार्मिक पहलू अंतर्निहित है तथा जो धर्म से प्रेरित थे, से ऐसा प्रतीत होता है कि दिल्ली सल्तनत के शासक मुख्यतः इस्लाम को गौरवान्वित करना चाहते थे तथा क्षेत्र के अन्य धार्मिक वर्गों का दमन करते थे। दरबार में तथा अन्यत्र प्रभुत्व से युक्त और श्रेष्ठ पदों पर आसीन धर्म के प्रतिपादकों से इस विचार को बल मिलता है। लेकिन सावधानी से परीक्षण करने पर पता चलता है कि वे पद जो काफी महत्वपूर्ण थे, खासकर सेना से संबंधित, सक्षम और निष्ठावान को मिलते थे जो धार्मिक कट्टरता में विश्वास नहीं करते थे। धर्म के प्रतिपादक वास्तव में (कई में से) एक ऐसा समूह था जो आधिकारिक नौकरशाही का हिस्सा था और जो राजा के शासन को वैधता प्रदान करता था (अपने ज्ञान के द्वारा, जिसमें धर्म की भावना अंतर्निहित थी तथा धर्म से प्रेरित था), न्याय प्रदान करता था तथा *मदरसों* में शिक्षा देता था।

लेकिन यह कहना कि धर्म उपमहाद्वीप की मध्यकालीन राजनीति की कसौटी था और इसलिए दिल्ली सल्तनत को 'इस्लामी' राज्य कहना चाहिए, उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर प्रमाणित नहीं होता है। उनके द्वारा कभी-कभी धर्म का प्रयोग लोगों की लामबंदी और उनकी कुछ विशिष्ट कार्यवाहियों की व्याख्या के लिए किया गया, लेकिन यह सारे कदम मूल रूप से राजनैतिक थे। दिल्ली सल्तनत के अंतर्गत राज्य ने धर्म के प्रचार हेतु कभी कोई खास कदम नहीं उठाए जब तक कि उससे जुड़ा कोई राजनीतिक फायदा न हो।

जैसा कि वर्णित किया जा चुका है,'राज्य' की अभिव्यक्ति व्यापक संदर्भ में अनेक कार्यवाहियों से होती थी उनमें से प्रमुख थे भवन निर्माण और दान। राज्य के प्रभुत्व के लिए और उसके साकार अस्तित्व के रूप में राज्य अक्सर भवन, मस्जिद, या नहर व कुएं आदि के निर्माण को बढ़ावा देता था। यह साकार तथा सुस्पष्ट रूप से राज्य के अस्तित्व और गौरव को पूरे क्षेत्र में अभिव्यक्ति प्रदान करते थे। अंत में, शासित वर्ग को संरक्षण प्रदान करने के तहत राज्य जरूरतमंदों व विद्वानों को उदारता से दान देता था।

अंततः, इसका मूल्यांकन इस प्रकार किया जा सकता है कि दिल्ली सल्तनत एक एकीकृत इकाई नहीं थी जो शुरू से अंत तक समरूपी अस्तित्व में रही हो। बल्कि यह शासक वर्ग के विभिन्न कार्यकलापों का समन्वय था, जो कि प्रभावी शासन के लिए किए गए थे। इसके कुछ घटक सर्वव्यापी थे जैसे कि कर व्यवस्था और दूसरे परिवर्तनशील थे और कुछ ऐसे भी थे जो समय तथा जरूरत के साथ सृजित होते गए। निश्चित रूप से 13वीं शताब्दी के प्रारंभ में नए उभरे 'राज्य' की तत्कालिक प्राथमिकताएँ 14वीं शताब्दी के एक ज्यादा परिपक्व और सुदृढ़ राजनैतिक 'राज्य' से भिन्न थीं। इस तरह जैसे 'राज्य' शासक वर्गों के निहित हितों की अभिव्यक्ति था, उस हद तक यह एक सार्वजनिक राजनैतिक संस्था था, जिसका प्राथमिक कार्य शासित जनसंख्या को एक सार्वभौमिक रूप में अनुशासित जनसमुदाय – एक ऐसा समुदाय जो सत्ता की संरचनाओं का अभ्यस्त बन चुका हो – जिस पर राजनैतिक सत्ता और शक्ति को ऊपर से लागू किया जा सके, था। 'न्याय' के रूप में जोड़ना, विभिन्न समूहों द्वारा, चाहे जैसे भी समझा और इसकी व्याख्या की जाये, यह राज्य की केंद्रीय धुरी था और इसकी सफलता की सीमा शासकों की उस कुशलता पर निर्भर करती थी जिससे वे मुख्यतः अपने पास उपलब्ध संसाधनों (विशेष रूप से आर्थिक) का प्रयोग करते थे और साथ ही इसके प्रभाव को निर्धारित करने वाले तमाम दूसरे आंतरिक और बाह्य कारक थे।

बोध प्रश्न-3

1) दक्षिणी राज्यों का दिल्ली सल्तनत में सर्वप्रथम किसके शासन काल में अधिग्रहण किया गया?

   क) अलाउद्दीन खलजी

   ख) मुबारक खलजी

   ग) ग़ियासुद्दीन तुगलक

घ) मुहम्मद तुगलक

2) मुहम्मद तुगलक ने निम्नलिखित में से कौन से सैनिक अभियान का परित्याग कर दिया था?

   क) वारंगल

   ख) कराचील

   ग) जाजनगर

   घ) खुरासान

3) कराचील अभियान एक त्रासदी साबित क्यों हुआ?

   ....

   ....

   ....

   ....

4) निम्नलिखित में से कौन सा प्रदेश 1335 में सल्तनत की पूर्वी सीमा को निर्धारित करता था?

   क) राजनगर

   ख) पेशावर

   ग) कलानौर

   घ) मालवा

5) दिल्ली सल्तन्त के अधीन राज्य की प्रकृति का संक्षिप्त विश्लेषण कीजिए।

   ....

   ....

   ....

   ....

2.8 सारांश

तुर्की आक्रमण के समय भारत एक एकीकृत राजनीतिक इकाई न था, बल्कि अनेक राज्यों में विभाजित था और इन राज्यों पर स्वतंत्र रूप से राजाओं एवं स्वायत्त सरदारों द्वारा शासन किया जाता था। मुहम्मद गौरी ने इन राज्यों को अपने अधीन करने का प्रयास किया और इस प्रयास की अंतिम परिणति तराइन के मैदान में पृथ्वीराज चौहान की पराजय के रूप में हुई। इस घटना ने भारत में तुर्क शासन की नींव रखी। मुहम्मद गौरी के प्रस्थान करने के बाद उसका सेनापति कुतबुद्दीन ऐबक भारत में तुर्क शक्ति की स्थापना के कार्य में जुट गया। इस प्रक्रिया के दौरान उसने यल्दूज़, और उन मुइज़ी दासों का दमन किया, जिन्होंने भारत में मुइज़ी शासन पर अपना दावा पेश किया। लेकिन वह कुबाचा का दमन करने में असफल रहा। यह कार्य इल्तुतमिश के लिए छोड़ दिया गया। इल्तुतमिश ने ना केवल मुइज़ी साम्राज्य का प्रसार किया अपितु उसने 'चालीस के गुट' के नाम से प्रसिद्ध कुलीनों की मदद से प्रशासनिक तंत्र को संगठित एवं मजबूत बनाया। उसने कुछ सासानिद संस्थाओं जैसे *इक्ता* को लागू किया। इससे प्रशासन को केंद्रीकृत करने में सहायता मिली।

तुर्कों की सफलता का मुख्य कारण उनकी सर्वोच्च सैन्य तकनीक थी। दूसरी ओर भारतीय सेना की यह विशेषता थी कि वह मुख्यतः 'सामंतीय सैन्य भर्ती' पर आधारित थी। तुर्कों की विजय मात्र एक राजवंश द्वारा दूसरे राजवंश का स्थानांतरण ही नहीं था बल्कि इस विजय ने भारतीय राजनीति, समाज एवं अर्थव्यवस्था पर दूरगामी प्रभाव डाले। इन पक्षों का विस्तृत रूप से अध्ययन आप बाद में इस पाठ्यक्रम के दौरान करेंगे।

इल्तुतमिश की 1236 में मृत्यु के पश्चात्, आधी शताब्दी तक, दिल्ली के सुल्तानों के सभी प्रयास वित्तीय एवं प्रशासनिक सुधारों को मजबूती प्रदान कर प्रारंभिक क्षेत्रीय उपलब्धियों को सुदृढ़ करने की ओर थे। क्षेत्रीय प्रसार के दूसरे चरण का प्रारंभ 14वीं सदी के प्रारंभ में खलजियों के अधीन ही हुआ। अलाउद्दीन के प्रशासनिक एवं वित्तीय उपायों ने जहाँ सल्तनत के सुदृढ़ीकरण में मदद की वहीं दूसरी ओर सल्तनत के आधार को भी विस्तारित किया। नए क्षेत्रों का अधिग्रहण इस प्रकार वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर सका।

तब भी हम यह देख सकते हैं कि अलाउद्दीन सल्तनत के केंद्रीय स्थल से कुछ दूरी तक ही बढ़ा और उसने सीधे अधिग्रहण किए गए क्षेत्रों पर सुल्तान के प्रभावशाली नियंत्रण को स्थापित किया और इन क्षेत्रों को सल्तनत के प्रांत बना दिया गया। लेकिन दूर के प्रांतों पर दो कारणों से विजय प्राप्त की गई। प्रथम उद्देश्य धन प्राप्त करना था और दूसरे उन राज्यों को प्रत्यक्ष तौर पर सल्तनत के अधीन न करके उनको संरक्षित राज्य का दर्जा प्रदान करना था। यह उन राज्यों के लिए विशेष रूप से सत्य था जिनको दक्खन एवं सुदूर दक्षिण में विजित किया गया था।

लेकिन मुबारक खलजी द्वारा देवगिरी के मामले में इस नीति में परिवर्तन किया गया। इसी नीति का अनुसरण ग़ियासुद्दीन तुगलक ने वारंगल एवं माबार जैसे सुदूर दक्षिण में स्थित राज्यों के विषय में भी किया। इन राज्यों पर प्रभावकारी प्रशासन कायम करने के उद्देश्य से मुहम्मद तुगलक ने देवगिरी को सल्तनत की दूसरी प्रशासनिक राजधानी बनाया। लेकिन यह प्रयोग अल्पकालिक सिद्ध हुआ और इसकी असफलता का कारण सल्तनत के शासक एवं अन्य वर्गों की अनिच्छा का होना था। इन सबके बावजूद मुहम्मद तुगलक के शासन काल में सल्तनत की सीमाएँ अपने चरमोत्कर्ष पर थीं, उत्तर-पश्चिम में पेशावर, दक्षिण में माबार, पश्चिम में गुजरात तथा पूर्व में ओडिशा में जाजनगर तक फैली हुई थीं। यह भाग्य की विडंबना ही है कि मुहम्मद तुगलक के शासन के अंतिम वर्षों में ही सल्तनत की सीमाएँ लगभग 1296 की सीमाओं की स्थिति तक सिकुड़ने लग गई थीं।

2.9 शब्दावली

बंदगान-ए शमसी तुर्कान-ए चिहिलगानी	इल्तुतमिश का तुर्की अधिकारी वर्ग (जो 'चालीस' के गुट के नाम से जाना जाता था)
रहट	पानी खींचने का वह यंत्र जिससे गहराई से पानी खींचा जा सकता है
चरखा	रुई की कताई का एक यंत्र जिसमें छः तकलियाँ लगी होती थीं और जिसे हत्थे की सहायता से घुमाया जाता था
जौहर	दुश्मन के हाथों सन्निकट हार की स्थिति में महिलाओं द्वारा अग्नि स्नान (self-immolation) करने की प्रथा

2.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 2.2

2) देखें भाग 2.2

3) देखें भाग 2.3

4) देखें भाग 2.4

बोध प्रश्न-2

1) ग) गुजरात

2) ख) सिवाना

3) देखें उप-भाग 2.5.3

4) ख) मलिक काफूर

बोध प्रश्न-3

1) ख) मुबारक खलजी

2) घ) खुरासान

3) देखें उप-भाग 2.6.3

4) क) जाजनगर

5) देखें भाग 2.7

2.11 संदर्भ ग्रन्थ

हबीब, मुहम्मद एवं निजामी, के. ए., (संपादित) (1970) *काम्प्रीहैन्सिव हिस्ट्री ऑफ इंडिया,* भाग V, *दिल्ली सल्तनत ए डी 1206-1526* (दिल्लीः पीपल्स पब्लिशिंग हाउस).

हबीबुल्ला, ए.बी.एम., (1967) *द फाउंडेशन ऑफ मुस्लिम रूल इन इंडिया* (नई दिल्ली सेंट्रल बुक डिपो).

हुसैन, आगा महदी, (1935) *तुगलक डायनेस्टी* (नई दिल्लीः एस. चांद एंड कंपनी प्राइवेट लिमिटेड).

लाल, के. एस., (1980) *हिस्ट्री ऑफ द खलजीज़ AD 1290-1320* (नई दिल्लीः मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड).

पांडे, अवध बिहारी, (1970) *अर्ली मिडिवल इंडिया* (इलाहाबादः सेंट्रल बुक डिपो).

2.12 शैक्षणिक वीडियो

एस्टेब्लिशमेंट एंड कंसॉलिडेशन ऑफ दिल्ली सल्तनत। इग्नू एस ओ एस एस
https://www.youtube.com/watch?v=WCmtBgS1csM

टॉकिंग हिस्ट्री। 2। दिल्लीः द फ़ाउंडेशन ऑफ दिल्ली सल्तनत। राज्यसभा टी वी
https://www.youtube.com/watch?v=TJOsomraCaM

टॉकिंग हिस्ट्री। 4। दिल्लीः द ऐरा ऑफ अलाउद्दीन खलजी। राज्यसभा टी वी
https://www.youtube.com/watch?v=PrTs0B1qQ9s

इकाई 3 क्षेत्रीय राज्य*

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम 13-15वीं शताब्दियों के मध्य के क्षेत्रीय राज्यों के उदय का अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- मध्य तथा पूर्वी भारत में क्षेत्रीय राज्यों के उदय के विषय में जान पाएंगे,
- आप उन क्षेत्रीय शक्तियों के विषय में बता सकेंगे जिनका उत्तरी तथा पश्चिमी भारत में उदय हुआ,
- आप इन राज्यों के क्षेत्रीय प्रसार के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे,
- इन राज्यों के अपने पड़ोसी राज्यों तथा अन्य दूसरी क्षेत्रीय शक्तियों के साथ संबंधों के विषय में भी आप जान सकेंगे,

***डॉ. फिरदौस अनवर, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली; प्रो. सुनीता जैदी, इतिहास और संस्कृति विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली और प्रो. आभा सिंह, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली। यह इकाई हमारे पूर्ववर्ती पाठ्यक्रम ई एच आई-03: *भारतः 8वीं सदी से 15वीं सदी तक* के खंड 7, इकाई 23, 24 और 25 से ली गई है।**

- आपको दिल्ली सल्तनत और इन राज्यों के बीच संबंधों के विषय में भी जानकारी प्राप्त होगी,
- क्षेत्रीय राज्यों की चरित्रगत विशेषताओं का उल्लेख कर सकेंगे,
- उत्तराधिकार के मुद्दे पर प्रकाश डाल सकेंगे, और
- राजाओं द्वारा अपनी प्रभुसत्ता को वैध बनाने की चेष्टाओं को रेखांकित कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

कमज़ोर होती दिल्ली सल्तनत को क्षेत्रीय राज्यों ने गंभीर खतरा पैदा कर दिया था और उनके उदय के कारण सल्तनत के भौगोलिक बिखराव की प्रक्रिया का प्रारंभ हो गया। इस इकाई में हमारा अध्ययन मध्य तथा पूर्वी भारत में मालवा, जौनपुर, बंगाल, असम तथा ओडिशा में क्षेत्रीय राज्यों के उदय पर केन्द्रित होगा।

इस इकाई में हमारा ध्यान उत्तरी तथा पश्चिमी भारत में क्षेत्रीय शक्तियों के उदय पर भी केंद्रित होगा। इस इकाई में हम कश्मीर, राजपूताना, सिंध तथा गुजरात के क्षेत्रीय राज्यों के प्रादेशिक प्रसार की विवेचना करेंगे। हम इन उपरोक्त राज्यों में राजनीतिक प्रणाली की स्थापना और उनके प्रसार तथा विखंडन का अध्ययन करेंगे। आप देखेंगे कि किस प्रकार से उनका उद्भव हुआ और कैसे उन्होंने अपनी प्रभुमत्ता को स्थापित करने में सफलता प्राप्त की।

13वीं से 15वीं सदियों के दौरान दो प्रकार के राज्यों का उदय हुआ: (अ) प्रथम वे राज्य थे जिनका उदय एवं विकास सल्तनत से स्वतंत्र तौर पर हुआ (जैसे कि असम, ओडिशा एवं कश्मीर के राज्य); और (ब) बंगाल, जौनपुर, मालवा एवं गुजरात जैसे राज्य, जो अपने अस्तित्व के लिए सल्तनत के ऋणी थे। हालांकि सिंध एवं राजपूताना लगातार दिल्ली सल्तनत के आक्रमणों से प्रभावित रहे, और कभी-कभी वे दिल्ली सल्तनत का एक हिस्सा भी रहे लेकिन फिर भी सिंध और राजपूताना अपनी-अपनी क्षेत्रीय विशेषताओं को बनाए रखने में सफल हुए। ये सभी राज्य निरंतर एक दूसरे के साथ युद्ध करते रहते थे। इन संघर्षों में कुलीन वर्गों, अमीरों या राजाओं तथा स्थानीय अभिजात वर्गों ने निर्णायक भूमिका अदा की। अतः इन क्षेत्रीय शक्तियों में से कुछ दिल्ली सल्तनत के पतन का परिणाम थीं, जबकि कुछ का स्वतंत्र तौर पर विकास हुआ था। कश्मीर राज्य का विकास स्वतंत्र तौर पर हुआ, जबकि गुजरात राज्य का विकास दिल्ली सल्तनत के पतन के फलस्वरूप हुआ।

इस इकाई में उत्तर भारत से तात्पर्य विंध्य पर्वत श्रृंखला के उत्तर में स्थित समस्त प्रदेश से है, उत्तर में कश्मीर, उत्तर-पश्चिम में राजपूताना, सिंध, मुल्तान और गुजरात, मध्य मालवा और जौनपुर; पूर्व में ओडिशा, बंगाल, असम के कमाटा और अहोम क्षेत्र इसके अंतर्गत शामिल किए गए हैं। दिल्ली और इसके आसपास के इलाके भी उत्तर भारत में ही पड़ते हैं, परन्तु इस इकाई में हम उनका जिक्र नहीं कर रहे हैं क्योंकि यहाँ हमारा उद्देश्य क्षेत्रीय राज्यों पर विचार-विमर्श करना है जबकि यह क्षेत्र दिल्ली सल्तनत में आता था। इस इकाई में क्षेत्रीय राज्यों की चरित्रगत विशेषताओं और क्षेत्रीय राजनीतिक व्यवस्था में कुलीन वर्ग की भूमिका का विश्लेषण करने का प्रयास भी किया जाएगा।

लेकिन हम यहाँ जानबूझकर दक्षिण भारत और दक्खन में चोल साम्राज्य के पतन के बाद उदय हुई क्षेत्रीय शक्तियों की चर्चा नहीं कर रहे हैं क्योंकि उनकी चर्चा हम अपने पाठ्यक्रम **बीएचआईसी-132** की **इकाई 5** और **6 (पांड्य और होयसल)** में पहले ही कर चुके हैं; वहीं यादव, काकतीय और माबार की चर्चा इस पाठ्यक्रम की **इकाई 2** में उनके दिल्ली सुल्तानों के साथ संघर्ष के संदर्भ में की गई है। चौदहवीं शताब्दी से दक्खन और दक्षिण भारत में नवीन राजनीतिक संरचनाओं का उदय होता है जिनसे अंततः शक्तिशाली विजयनगर तथा बहमनी साम्राज्यों का उदय हुआ, इनकी चर्चा हम इस पाठ्यक्रम की **इकाई 4** और **5** में करेंगे। इसके अतिरिक्त, यहाँ हम विभिन्न क्षेत्रों में हुए राजनीतिक घटनाक्रम की ही चर्चा करेंगे, उनके तहत हुए सांस्कृतिक विकास की चर्चा **खंड IV** की विषयवस्तु है।

3.2 क्षेत्रीय शक्तियों का आविर्भावः विभिन्न दृष्टिकोण

क्षेत्रीय शक्तियों के आविर्भाव के प्रश्न पर समाजशास्त्रियों में बहुत मतभेद हैं। जोसेफ ई. श्वाट्ज़बर्ग ने सल्तनत युग की अस्थिरता के लिए कुछ विशेष भू-राजनीतिक और पारिस्थितिकीय कारकों पर प्रकाश डाला है।

श्वाट्ज़बर्ग के अनुसारः

> प्रमुख शक्तियों के प्रभाव क्षेत्र व अवधि में उत्तरोत्तर कमी की वजह उनके द्वारा समतुल्य सामर्थ्य रखने वाली अन्य प्रमुख शक्तियों के साथ लगातार बढ़ती हुई *गंभीर प्रतिस्पर्धा* में देखी जा सकती है। इसके फलस्वरूप सल्तनत काल में दो या दो से अधिक बड़ी शक्तियों में बार-बार *युद्धों के और इनकी गहनता में वृद्धि* की प्रवृत्ति विकसित हुई। इससे एक ही शक्ति व्यवस्था के भीतर अस्थिरता बढ़ी और व्यवस्था के भीतर के सभी प्रदेशों की सामर्थ्य में वृद्धि पर प्रतिबंध लग गया।

मध्यकाल तक, श्रेष्ठ उपलब्ध कृषि-भूमि पर खेती करने और बसने की प्रक्रिया लगभग पूर्ण हो चुकी थी। इसने गहन कृषि को जन्म दिया, जिसने बदले में अधिक गहन बसावट को जन्म दिया। इससे जनसंख्या वृद्धि और जनसंख्या दबाव का मार्ग प्रशस्त हुआ। अंतिम दो कारणों से सेना की आक्रामक और रक्षात्मक दोनों ही प्रकार की शक्ति में वृद्धि हुई। इस प्रकार, श्वाट्ज़बर्ग के अनुसार भौगोलिक विशिष्टताओं ने संघर्ष को अवश्यंभावी बना दिया और क्षेत्रीय शक्तियों के आविर्भाव में योगदान किया।

रिचर्ड जी. फॉक्स, बर्नाड कोहन और के. एन. सिंह ने क्षेत्रीय शक्तियों के उदय की, सामाजिक-राजनीतिक-मानवविज्ञान मॉडल के आधार पर व्याख्या की है जहाँ सगोत्रता, कुल और वंश मुख्य संघठक कारक होते हैं। रिचर्ड फॉक्स के अनुसार, इन वर्गों में राजनैतिक सत्ता की गारंटी और सुरक्षा के लिए कार्य करते हुए भी बार-बार विद्रोह की प्रवृत्ति पाई जाती है, जिससे केन्द्रीय नियंत्रण के संकट में होने के समय केन्द्रीय सत्ता खण्डित एवं कमजोर होती है। राजपूत कुल-गोत्र संगठन इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। राजपूताना में कुलीय आधार पर संगठित ये सरदार अथवा राजा समान वंशों के छोटे प्रदेशों को नियंत्रित करते थे। राजपूत सामाजिक संगठन घनिष्ठ रूप से कुल, जाति और वंश के द्वारा आपस में गुंथा हुआ था। उनके प्रभाव क्षेत्रों का आधार विवाहों द्वारा और असंतुष्ट उप-वंशों के दूसरे प्रदेशों में बस जाने से था। ये 'एकवंशीय कुल-संगठन' कई राजनीतिक और सैनिक जिम्मेदारियाँ निभाते थे जो राजस्व वसूली और कानून व व्यवस्था को बनाए रखने से संबंधित होती थीं। उन्हें राज्य द्वारा 'वैधता' प्राप्त थी। राज्य का 'शासनादेश' कुलनिष्ठा का 'शासनदेश' माना जाता था। इस 'आतंरिक एकजुटता' और 'बाह्य मान्यता' के कारण स्थानीय स्तर पर उनकी स्थिति इतनी मजबूत हो गयी कि न तो राज्य और न ही कुल-सदस्य उन्हें बेदखल कर सकते थे।

तैमूर के आक्रमण के पश्चात् केन्द्र में उत्पन्न रिक्तता ने इन सरदारों और राजाओं को स्थानीय स्तर पर गहरी जड़ें जमाने का अवसर दिया। इस प्रकार 13वीं-15वीं शताब्दी के मध्य परिस्थिति का लाभ अपने हितों में उठाने वाले शक्ति-केन्द्रों के मध्य आपसी लड़ाइयाँ प्रारंभ हुईं।

क्षेत्रीय-राज्य साम्राज्य का दर्जा क्यों नहीं प्राप्त कर सके?

प्रश्न यह है कि ये क्षेत्रीय राज्य 'दूसरे' दर्जे के राज्य के रूप में सीमित रहे और साम्राज्य का दर्जा क्यों प्राप्त नहीं कर सके? क्यों ये 'अधि-प्रादेशिक क्षेत्रीय शक्तियों' ('supra-regional power') के रूप में बने रहे और 'अखिल भारतीय शक्ति' ('Pan-Indian power') का दर्जा प्राप्त नहीं कर सकें? श्वाट्ज़बर्ग के शब्दों में, इसके कतिपय भू-राजनीतिक, संरचनात्मक और पारिस्थितिकीय कारण थे। सर्वप्रथम कारण उनका परिधि पर स्थित होना था। कश्मीर, गुजरात, राजपूताना, सिंध, ओडिशा, असम और बंगाल मुख्य दर्जा प्राप्त करने के लिहाज से साम्राज्य के हृदय-स्थल (केन्द्र) में स्थित नहीं थे। पहाड़ी भू-भागों ने भी उनके क्षेत्रीय विस्तार के मार्ग में बाधाएँ खड़ी कीं। कश्मीर अपना विस्तार मुख्य रूप से अगम्य पहाड़ों की वजह से नहीं कर सका। इसी प्रकार, उत्तर-पश्चिम में प्रमुख भारतीय रेगिस्तान की बढ़ती शुष्कता ने सिंध और राजपूताना के राज्यों के विस्तार पर रोक लगाई। यद्यपि मालवा और जौनपुर मध्य भारत में स्थित और अत्यंत उर्वर मैदान थे, उनकी 'खुली-सीमाएँ' विरोधी राज्यों से घिरी थीं। प्रत्येक राज्य एक

दूसरे के प्रचुर-स्रोतों के नियंत्रण हेतु प्रयास करता रहता था, फलतः क्षेत्रीयता की मुख्य विशेषता निरंतर युद्ध की स्थिति थी जो विस्तार में बाधक थी।

एक अन्य समस्या राजस्व-स्रोतों की कमी थी जिसके कारण वे आगे और विस्तार एवं मजबूती प्रदान करने के लिए बड़ी सेनाएँ रखने में असमर्थ थे। उनके सीधे नियंत्रण में बहुत छोटा भाग होता था जिसका राजस्व सीधे राज्य-कोष में जाता था। उन्हें अपनी आय और सशस्त्र सेवकों की आपूर्ति के लिए मुख्यतः 'बिचोलियों' या 'सरदारों' पर निर्भर रहना पड़ता था। यही नहीं, राजस्व जमाकर्ता (बिचौलिए) कर-निर्धारण में टालमटोल करते थे। अधीन सरदार भी विद्रोह करने के लिए प्रत्येक अवसर का फायदा उठाते थे। आप पायेंगे कि, जैसा कि आप अगले भाग में पढ़ेंगे, मालवा और गुजरात के बीच के परिधीय क्षेत्र के ये करदाता सरदार, अक्सर मौके अनुसार कभी मालवा और कभी गुजरात को समर्थन देते थे। राजपूतों द्वारा 'अखिल भारतीय' दर्जा प्राप्त न करने का मुख्य कारण बढ़ती हुई अंतर-वंशीय लड़ाइयाँ थीं। गुजरात और बंगाल के अतिरिक्त दूसरे प्रदेशों (विशेषतः जौनपुर और मालवा) के स्थल रुद्ध (land locked; समुद्र से संबंध विच्छिन्न) होने से उन्हें सामुद्रिक वाणिज्य और व्यापार बढ़ाने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। इसके फलस्वरूप उनकी आय में कमी आयी और विस्तारवादी नीति हेतु आवश्यक 'अतिरिक्त' स्रोतों के लिए उनके पास बहुत कम संभावनाएँ थीं।

3.3 मध्य तथा पूर्वी भारत

इस भाग में हम मुख्य रूप से मध्य तथा पूर्वी भारत में 13वीं-15वीं शताब्दियों के मध्य उदित क्षेत्रीय शक्तियों पर ध्यान केन्द्रित करेंगे।

3.3.1 मालवा

सल्तनत के पतन ने मालवा के स्वतंत्र राज्य की स्थापना के मार्ग को प्रशस्त किया। मालवा के तुगलक गवर्नर दिलावर खां गौरी (मृ. 1406) ने सन् 1401-02 में स्वतंत्रता प्राप्त कर ली तथा स्वयं को मालवा का राजा घोषित कर दिया। उसने निमाड़, सौयर, दमोह तथा चन्देरी पर अधिकार करके अपने राज्य की सीमाओं का प्रसार किया। दिलावर खां ने अपनी पुत्री का विवाह खानदेश के मलिक राजा फारूकी के बेटे अली शेर खलजी के साथ किया और फारूकी की बेटी का विवाह अपने पुत्र अल्प खां के साथ। इन वैवाहिक संबंधों द्वारा उसे अपने राज्य की दक्षिण-पूर्वी सीमाओं की रक्षा करने में मदद मिली। गुजरात के शासक मुज़फ्फर शाह के साथ मित्रतापूर्ण संबंध बनाए रखते हुए उसने सफलतापूर्वक मालवा को आक्रमणों से बचाया। लेकिन शीघ्र ही 1406 में उसकी मृत्यु हो जाने के कारण मालवा गुजरात के शासक मुज़फ्फर की साम्राज्यवादी अभिलाषाओं का शिकार हो गया। लेकिन 1408 में होशंग शाह (1406-35) ने मालवा की सत्ता पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त कर ली। उसने शीघ्र ही खेरला तथा गगरौन पर अधिकार कर लिया। उसकी दृष्टि ग्वालियर पर भी लगी थी। लेकिन मुबारक शाह की शक्ति को महसूस करने पर ग्रामीण क्षेत्रों में थोड़ा बहुत नकुसान पहुँचाने के बाद 1423 में होशंग शाह ने ग्वालियर से अपनी सेनाओं को वापस लौटा लिया। होशंग शाह ने कालपी के मुस्लिम शासक के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किए जिससे कालपी का उपयोग जौनपुर-मालवा तथा दिल्ली-मालवा के बीच मध्यवर्ती राज्य के रूप में किया जा सके।

होशंग शाह का उत्तराधिकारी मुहम्मद शाह अयोग्य साबित हुआ। मुहम्मद शाह के एक वर्ष के संक्षिप्त शासनकाल में मालवा का दरबार आंतरिक षड्यंत्रों का अखाड़ा बन गया और इसके गंभीर परिणाम हुए। इसकी अंतिम परिणति उसकी हत्या (1436) के रूप में हुई और यह हत्या उसके ही कुलीन वर्ग के एक सदस्य महमूद खलजी द्वारा की गई। इस तरह से गौरी शासन का स्वयं ही अंत हो गया।

महमूद खलजी की स्वयं की स्थिति को पुराने गौरी अमीरों द्वारा चुनौती दी गई। महमूद खलजी ने प्रारंभ में तुष्टीकरण की नीति का अनुसरण किया और उनको *इक्ते* तथा उच्च पद प्रदान किये, लेकिन वह उनका समर्थन प्राप्त न कर सका। उसको उच्च कुलीनों द्वारा किए गए अनेक विद्रोहों का सामना करना पड़ा। अंतः उसने इन विद्रोही कुलीनों की समस्या का सफलतापूर्वक हल कर लिया। अपनी आंतरिक स्थिति को सुदृढ़ करने के बाद महमूद खलजी को अब अपने राज्य के प्रसार करने का समय प्राप्त हो गया।

मेवाड़ ऐसा राज्य था, जिसने उसका ध्यान सबसे अधिक आकर्षित किया। राणा कुम्भा के अधीन मेवाड़ ने अपने सीमावर्ती राजपूत राज्यों को अपने अधीन करने और मेवाड़ के साथ मिलाने की नीति का अनुसरण किया। इससे मालवा के लिए प्रत्यक्ष तौर पर खतरा पैदा हो गया। शासन के प्रारंभ में 1437 में ही महमूद खलजी को शक्तिशाली राणा का सामना करना पड़ा। राणा कुम्भा ने होशंग शाह के पुत्र उमर खां से वायदा किया कि वह महमूद खलजी के स्थान पर मालवा की गद्दी पर उसको बैठाएगा। सारंगपुर की लड़ाई (1437) में महमूद खलजी को पराजित कर दिया गया और उसको गिरफ्तार कर लिया गया। बाद में, महमूद खलजी ने रणमल की मृत्यु के बाद मेवाड़ में फैली अराजकता का लाभ उठाते हुए, 1442 में मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। उसने बनमाता के मंदिर को नष्ट कर दिया और बिना कुछ विशेष प्राप्ति के वह वापस लौट गया। तब से महमूद खलजी ने राणा कुम्भा के विरुद्ध हर वर्ष आक्रमण किए। यद्यपि महमूद खलजी ने गगरौन पर 1444 में तथा मण्डलगढ़ पर 1457 में अधिकार कर लिया था, लेकिन राणा कुम्भा अपने क्षेत्र की एकता बनाए रखने तथा उसकी ठीक प्रकार से सुरक्षा करने में सफल रहा। लेकिन यह संघर्ष बिना किसी विराम के अनवरत चलता रहा।

मालवा एवं जौनपुर के बीच संघर्ष का मुख्य कारण कालपी था। होशंग शाह अपने भतीजे जलाल खां को कालपी की सत्ता प्राप्त कराने में पहले मदद दे चुका था। लेकिन जलाल खां की मृत्यु के बाद (1442) नसीर खान जहां कालपी का शासक बना। परन्तु महमूद शर्की ने उसको बाहर खदेड़ दिया। इसके कारण जौनपुर का कालपी पर नियंत्रण बढ़ने लगा। महमूद खलजी ने इसको पसंद नहीं किया। इसका परिणाम 1444 में दोनों के बीच संघर्ष के रूप में हुआ। अंततः एक संधि पर हस्ताक्षर किए गए। महमूद शर्की कालपी को खान जहां को देने को तैयार हो गया और इसके कारण जौनपुर तथा मालवा के बीच मधुर संबंध कायम हो गए।

गुजरात ऐसी दूसरी अन्य शक्ति थी जिसका सामना मालवा को करना पड़ा। यहाँ तक कि मुज़फ्फर गुजराती ने एक बार होशंग शाह को कैद करने में सफलता भी प्राप्त की।
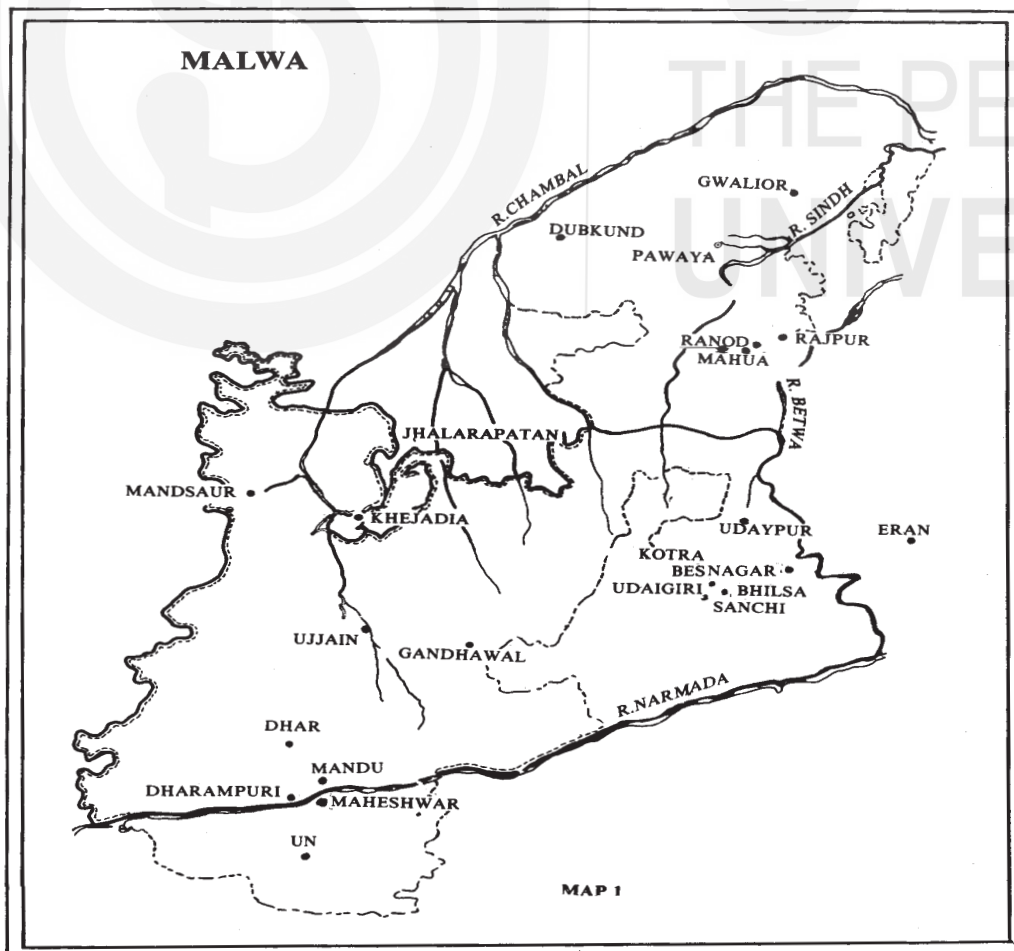
चित्र 3.1: मालवा

1442 में अहमद शाह की मृत्यु के बाद, मुहम्मद शाह गुजराती की स्थिति कमज़ोर हो जाने पर महमूद खलजी को सुल्तानपुर तथा नन्दुरबार पर 1451 में अधिकार करने का अवसर प्राप्त हो गया। जिस समय महमूद खलजी मुहम्मद गुजराती के विरुद्ध अभियान पर था ठीक उसी समय मुहम्मद गुजराती की मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी सुल्तान कुतबुद्दीन ने महमूद खलजी के साथ संधि कर ली। दोनों पक्ष एक दूसरे की प्रादेशिक सीमाओं का सम्मान करने के लिए सहमत हो गए। दोनों इस बात के लिए भी सहमत हुए कि वे मेवाड़ में अपनी-अपनी स्वतंत्र नीति का अनुसरण करेंगे। परन्तु अन्य क्षेत्रों के लिए दोनों के मध्य इस तरह का समझौता न हो सका। महमूद खलजी ने बहमनी राजनीति में जो हस्तक्षेप किया, महमूद बेगड़ा उससे कठोरता से निपटा।

महमूद खलजी के पुत्र एवं उत्तराधिकारी ग़ियास शाह (1469-1500) ने विजयों की अपेक्षा सुदृढ़ीकरण की ओर अधिक ध्यान दिया। मेवाड़ के राणा के साथ संक्षिप्त संघर्ष के अलावा (1473 में यह संघर्ष हुआ) ग़ियास शाह का शासनकाल अपनी इस नीति के फलस्वरूप अंत तक शांतिमय रहा। 1531 में सुल्तान महमूद खलजी द्वितीय की मृत्यु के बाद खलजी वंश का अंत हो गया। तत्पश्चात् आगे आने वाले तीन दशकों से लेकर 1562 में मुगलों के मालवा को अपने अधीन करने तक (1580 में अकबर द्वारा इसे एक अलग *सूबे* के रूप में स्थापित किया गया) मालवा शुरुआती अफगानों के मध्य संघर्ष का केन्द्र बिन्दु बना रहा जब अंततः बहादुरशाह द्वारा मालवा को 1531 में अपने अधीन कर लिया गया; तथा बाद में यह मुगलों तथा अफगानों के मध्य संघर्ष स्थल रहा।

3.3.2 जौनपुर

अफीफ हमें सूचित करता है कि गोमती नदी के किनारे जौनपुर नगर की स्थापना फिरोज़ शाह तुगलक द्वारा 1359-1360 में उस समय की गई थी, जबकि वह अपने दूसरे बंगाल अभियान पर था। यह शहर सत्ता का एक मज़बूत केन्द्र हो गया और शीघ्र ही इसका विकास कुछ समय के लिए दिल्ली के समानान्तर एक प्रतिभागी नगर के रूप में हुआ।

फिरोज़ शाह तुगलक के एक अमीर मलिक सरवर ने फिरोज़ के पुत्रों के बीच उत्तराधिकार के लिए हुए संघर्ष का भरपूर लाभ उठाया और सुल्तान मुहम्मद शाह के अधीन वह वजीर के पद तक पहुंच गया। मलिक सरवर ने *सुल्तान-उस शर्क* की उपाधि के साथ-साथ पूर्वी जिलों का नियंत्रण प्राप्त कर लिया। तैमूर के आक्रमण के कारण दिल्ली का राज्य बिखर गया। सरवर ने इस अवसर का लाभ उठाते हुए स्वयं को जौनपुर का स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। उसने अपने राज्य की सीमाओं को कोल (अलीगढ़), सम्भल तथा मैनपुरी में स्थित रापरी तक प्रसारित कर दिया। उसकी उच्च अभिलाषाओं के कारण जौनपुर का दिल्ली, बंगाल, ओडिशा तथा मालवा के साथ कड़ा सैन्य संघर्ष हुआ। यद्यपि इन संघर्षों में उसे सफलता प्राप्त न हुई, लेकिन उसने जाजनगर तथा ग्वालियर के शासकों को अपने अधीन कर लिया। उसके उत्तराधिकारी एवं पुत्र मुबारक शाह शर्की (1399-1401) को अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने का शायद ही समय प्राप्त हो सका। लेकिन छोटे भाई एवं उत्तराधिकारी इब्राहिम शाह शर्की (1401-1440) ने प्रभावशाली ढंग से अपने राज्य का प्रसार किया। इस संबंध में उसकी सबसे महत्वपूर्ण विजय कन्नौज (1406) की थी। इस समय कन्नौज मुहम्मद शाह तुगलक के अधीन था। इससे उसके सम्मान में बहुत अधिक वृद्धि हुई और उसकी आगामी उपलब्धियों के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ। 1407 में उसने दिल्ली पर अधिकार करने की इच्छा से आक्रमण किया, लेकिन प्रारंभिक सफलताओं के बावजूद उसका यह प्रयास असफल रहा। यद्यपि उसने कालपी (1414) पर भी अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था, लेकिन कालपी का शासक कादिर खां उसके लिए लगातार समस्याएँ पैदा करता रहा। 1414 में इब्राहिम ने बंगाल के शासक गणेश को भी पराजित किया। अपने शासन के अंतिम वर्षों में उसने पुनः 1437 में दिल्ली पर आक्रमण किया और उसके आसपास के कुछ *परगनों* पर अधिकार कर लिया। दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद शाह तुगलक को अंततः उससे समझौता करना पड़ा। सुल्तान अपनी पुत्री बीबी हाजी का विवाह इब्राहिम के जोश और पुत्र महमूद खां से करने के लिए सहमत हुआ। इब्राहिम के शक्तिशाली सफलताओं ने जौनपुर राज्य की प्रतिष्ठा में वृद्धि की। इब्राहिम को *शीराज़-ए हिन्द* की उपाधि प्राप्त हुई।

इब्राहिम के उत्तराधिकारियों महमूद शर्की (1440-1454), मुहम्मद शर्की (1457-1458) तथा हुसैन शर्की (1458-1505) के शासनकाल में दिल्ली सुल्तानों के साथ लगातार संघर्ष होते रहे। अंततः बहलोल लोदी ने 1483-1484 में जौनपुर पर अधिकार कर लिया और इसे मुबारक नोहानी के

अधीन कर दिया गया। हुसैन शाह ने इसको पुनः प्राप्त करने के लिए अंतिम प्रयास किए, किन्तु वह असफल रहा। अंततः बहलोल ने अपने पुत्र बरबक शाह को जौनपुर के सिंहासन पर बैठा दिया और इस तरह से शर्की शासकों के काल का अंत हो गया।

बोध प्रश्न-1

1) होशंग शाह की प्रमुख उपलब्धियाँ बताइए।

....

....

....

....

2) 'लोदी-शर्की संघर्ष ने अंततः शर्की राज्य के भाग्य का सूर्यास्त कर दिया'। उपरोक्त कथन के प्रकाश में शर्की शासकों के पतन की विवेचना लगभग पाँच पंक्तियों में कीजिए।

....

....

....

....

3) 'निम्नलिखित कथनों में कौन-सा सही है और कौन-सा गलत। सही (✓) तथा गलत (×) के चिह्न लगाइएः

i) दिलावर खां तुगलक गवर्नर था। ( )

ii) गगरौन मालवा तथा शर्की शासकों के बीच एक मध्यवर्ती राज्य था। ( )

iii) महमूद खलजी के साथ संघर्ष में राणा कुम्भा उमर खां के साथ था। ( )

iv) इब्राहिम शर्की ने *शीराज़-ए हिन्द* की उपाधि प्राप्त की। ( )

3.3.3 बंगाल

बंगाल दिल्ली से काफी दूरी पर स्थित था और अपनी भौगोलिक-राजनीतिक परिस्थितियों के कारण इस पर दिल्ली के सुल्तानों द्वारा अपना कड़ा नियंत्रण रख पाना काफी मुश्किल था। राज्य के गर्वनरों ने इस दूरी का पूरा-पूरा लाभ उठाया। जैसे ही केन्द्रीय सत्ता कमजोर होती या शासकगण किसी अन्यत्र स्थान पर व्यस्त होते तब इस क्षेत्र के कुलीन वर्ग के लोग स्वतंत्र शासकों के रूप में कार्य करने लगते। पहले भी 1225 में इल्तुतमिश ने स्वयं अपनी सत्ता को स्थापित करने के लिए बंगाल के विरुद्ध सैनिक अभियान का संचालन किया था और बलबन को बंगाल के गवर्नर तुग़रिल बेग के विद्रोह को कुचलने में लगभग तीन वर्ष का समय लगा। बंगाल पर दिल्ली सल्तनत के प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए बलबन ने अपने पुत्र बुग़रा खां को 1281 में बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया। बुगरा खां ने बलबन की मृत्यु के पश्चात् (1287) स्वयं को दिल्ली सल्तनत के सिंहासन का दावेदार प्रस्तुत करने के स्थान पर बंगाल का शासक बने रहने का निर्णय किया। बाद में, हम देखते हैं कि 1301 में ग़ियासुद्दीन तुगलक ने लखनौती की ओर सैनिक अभियान के लिए प्रस्थान किया। लेकिन मुहम्मद तुगलक के समय में बंगाल के प्रति अधिक प्रभावशाली नीति का अनुसरण किया गया। मुहम्मद तुगलक ने अपने वफादार समर्थकों को लखनौती, सोनारगांव एवं सतगांव का गवर्नर नियुक्त किया। इससे शक्तिशाली गुटों के मध्य संतुलन स्थापित करने में सफलता प्राप्त हुई। इसके कारण स्थानीय प्रभावशाली तत्वों की शक्ति को कम करने में मदद मिली और दिल्ली के नियंत्रण में वृद्धि हुई। फिर भी, समय-समय पर बंगाल की ओर से दिल्ली के प्रभुत्व को चुनौती मिलती रही।

बंगाल दो शक्तिशाली वंशों द्वारा शासित हुआ – इलियास शाही (1342-1481) और हुसैन शाही (1494-1538)। बीच के छोटे अंतरालों में राजा गणेश (1415-16 से 1432-33) और अबीसीनियाईयों (1487-1493) ने शक्ति अधिगृहीत की। बाद में, बंगाल शेरशाह सूर और हुमायूँ के आक्रमणों का शिकार बना। तत्पश्चात् अफगान-करारानी शासन प्रारंभ हुआ। अंत में 1576 में दाउद खां

करारानी को हरा अकबर ने बंगाल पर अधिकार कर लिया और उसे अपने साम्राज्य का हिस्सा बना लिया। हालांकि, संपूर्ण शांति 1599 तक ही स्थापित की जा सकी।

इलियास शाह (1342-1357), जो मूलतः मुहम्मद तुगलक का अमीर था और जो दिल्ली में उसका मातहत रहा था, इलियासशाही वंश का संस्थापक था। इलियास शाह बंगाल का शक्तिशाली शासक बनकर उभरा और उसने *सिकन्दर-ए सानी* (द्वितीय सिकन्दर) की उपाधि धारण की। शीघ्र ही उसने तिरहुत (1339-1340) लखनौती (1342) और सोनारगांव (1353) पर अधिकार कर लिया और इसी के साथ उसने बनारस की ओर कूच किया और गोरखपुर तथा बहराइच पर कब्जा कर लिया। उसने 1357 में कामरूप को भी अपने अधिकार में ले लिया। उसने नेपाल (1350-1351) और जाजनगर (ओडिशा; 1353) की ओर भी सैन्य अभियान भेजे। सुल्तान फिरोज़ तुगलक ने स्वयं बंगाल की ओर सैनिक अभियान के लिए प्रस्थान किया और इस समस्या का निदान करने में उसे लगभग एक वर्ष (1353-1354) का समय लगा।

एक बार फिर 1359 में सुल्तान फिरोज़ तुगलक को सिकन्दर शाह (1357-1389) की शक्ति को दबाने के लिए उसके विरुद्ध सैनिक अभियान पर जाना पड़ा। फिरोज़ तुगलक की मृत्यु (1388) के बाद दिल्ली के सुल्तान इतने कमजोर हो गए कि वे बंगाल के विद्रोही शासकों को अपने अधीन न रख सके।
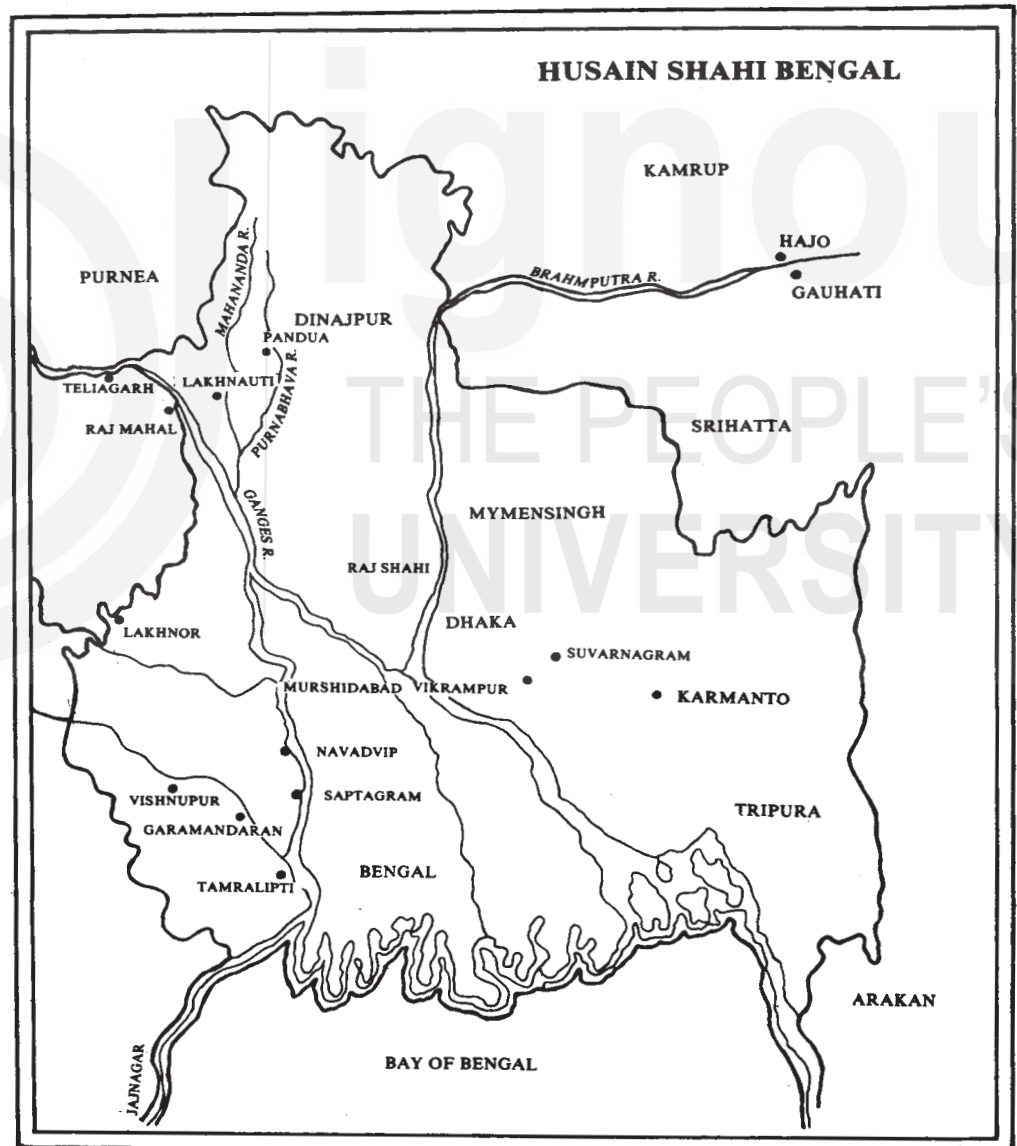
मानचित्र 3.2: हुसैन शाही बंगाल

सिकन्दर शाह का पुत्र ग़ियासुद्दीन आज़म शाह (1390-1410) एक लोकप्रिय शासक था। अराकान से सटा हुआ सीमांत प्रदेश चटगांव भी आज़म शाह की सल्तनत का प्रमुख हिस्सा था। बर्मा के आक्रमण के समय उसने अराकानी शासक को संरक्षणत्व प्रदान किया तथा सहायता दी। उसे

कमाटा तथा अहोम के राजाओं के संयुक्त आक्रमण का सामना करना पड़ा और करातोय नदी के पार के क्षेत्र को देना पड़ा। चीन के साथ उसने कूटनीतिक संबंध स्थापित किए। उसके द्वारा 1404 में पहला राजदूत मिंग शासक के दरबार में भेजा गया, तत्पश्चात् 1409-1410 तक दोनों देशों के मध्य राजदूतों का नियमित आदान-प्रदान होता रहा। प्रसिद्ध चीनी यात्री मा-हुआन, जो बंगाल सल्तनत का विशिष्ट विवरण प्रदान करता है, 1405 में चीनी मिशन के साथ ही बंगाल आया था।

1410 में ग़ियासुद्दीन शाह की हत्या के बाद बंगाल को आंतरिक अराजकता तथा संघर्षों के दोहरे संकट का सामना करना पड़ा (1410-1418 और 1435-42)। लेकिन इलियास शाह के एक वंशज नसीरूद्दीन अबुल मुज़फ्फर महमूद (1434-1460) के सत्ता में आ जाने के साथ सभी मामले उचित स्थिति में आ गए। उसने जाजनगर (ओडिशा) के शासक कपिलेन्द्र देव के आक्रमण (1445) का सामना किया। उसके द्वारा ही राजधानी गौड़ को पुनः स्थापित किया गया जिसे अलाउद्दीन अली शाह द्वारा फिरोज़ाबाद (पांडुआ) स्थानांतरित किया गया था। उसके पुत्र रुक्नुद्दीन बरबक शाह प्रथम (1460-1474) ने प्रसारवादी नीति का अनुसरण किया। इसके फलस्वरूप उसकी सीमाएं गंगा के उत्तर में बाड़नेर तक तथा दक्षिण में जैस्सोर-खुलना तक फैल गईं। प्रसार के कार्य में अबीसीनिया के गुलाम सैनिकों ने निर्णायक भूमिका अदा की, लेकिन बरबक के द्वारा उनको संरक्षण दिए जाने की नीति घातक सिद्ध हुई। 1787 में अबीसीनिया के सेनापति सैफुद्दीन फिरोज़ ने बंगाल की सत्ता पर अधिकार कर लिया। लेकिन वह अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने में असफल रहा और 1493 में अलाउद्दीन हुसैन शाह (1493-1519) ने सत्ता पर अधिकार कर लिया और उसने हुसैनशाही वंश की स्थापना की। उसने न केवल अबीसीनिया के गुलामों पर नियंत्रण स्थापित करने में सफलता प्राप्त की अपितु एक गहन प्रसारवादी नीति का अनुसरण किया। उसके शासनकाल में बंगाल की सीमाएँ उत्तर-पश्चिम में सरन तथा बिहार तक, दक्षिण-पूर्व में सिलहट तथा चटगांव तक, उत्तर-पूर्व में हाजो और दक्षिण-पश्चिम में मन्दरान तक फैल गईं। 1495 में उसे सुल्तान सिकन्दर लोदी के शक्तिशाली आक्रमण का सामना करना पड़ा क्योंकि उसने जौनपुर के शासक हुसैन शाह को शरण दी थी। बाद में आक्रमण न करने की संधि पर हस्ताक्षर किए गए और हुसैन शाह ने इस तरह के भगोड़ों को शरण न देने का वचन दिया। 1538 में शेरशाह सूर के हाथों गौड़ के पतन के साथ गौरवशाली हुसैन शाही वंश के शासन का अंत हो गया। इसके साथ ही इसके अंतिम शासक ग़ियासुद्दीन महमूद शाह VI (1526-1527-1538) की मृत्यु भी 1539 में शीघ्र ही हो गई।

बोध प्रश्न-2

1) भौगोलिक-राजनीतिक परिस्थितियों ने बंगाल को अपनी स्वतंत्रता बनाए रखने में कैसे मदद की?

....

....

....

2) बंगाल की 15वीं सदी के अंत की राजनीति में अबीसीनियाई कुलीनों की क्या भूमिका थी?

....

....

....

3) तिथिक्रमानुसार व्यवस्थित कीजिए:

i)	बख्तियार खलजी	1281
ii)	बुग़रा खां	1460-1474
iii)	इलियास शाह	1357-1389
iv)	रुक्नुद्दीन बरबक	1205
v)	सिकन्दर शाह	1342

3.3.4 असम

भौगोलिक तौर पर मध्यकालीन असम के अंतर्गत पश्चिम में करातोया नदी की घाटी के साथ-साथ संपूर्ण ब्रह्मपुत्र की घाटी तथा उत्तर-पूर्व में मिश्मी पहाड़ियों एवं पटकाय बूम का संपूर्ण इलाका आता था। इसके पूर्व की ओर बर्मा राज्य की सीमा समानांतर जाती थी। 13वीं सदी से 15वीं सदी तक असम के अंदर चूटिया, अहोम (या ताय-अहोम), कोच, दिमासा, त्रिपुरी, मणिपुरी, खासी एवं जैनतिया जैसी कबीलाई राज्य-व्यवस्थाएँ विद्यमान थीं। अंततः चूटिया और अहोम कबीलों का शक्तिशाली कबीलों के रूप में उदय हुआ। इनके अतिरिक्त असम में कमाटा (कामरूप) राज्य भी विद्यमान था। इस भाग में हम अहोम तथा कमाटा-कामरूप राज्यों के उदय की विस्तार से चर्चा करेंगे।

कमाटा-कामरूप

मध्यकालीन कमाटा राज्य में ब्रह्मपुत्र घाटी सहित (रंगपुर को छोड़कर), भूटान, कूच बिहार, मैमनसिंह तथा गारो पहाड़ियों के क्षेत्र शामिल थे। राय सन्ध्या के काल (1250-1270) तक कामरूप (आधुनिक उत्तरी गोहाटी) कमाटा राज्य की राजधानी था। लेकिन कचारी राज्य के प्रसार ने राय सन्ध्या को अपनी राजधानी को कामरूप से कमाटापुर (आधुनिक कूच बिहार जिले में) ले जाने के लिए बाध्य किया और तभी से इसको कमाटा-कामरूप राज्य कहा जाने लगा।

हम पहले ही पढ़ चुके हैं कि मुहम्मद गौरी के एक सेनापति बख्तियार खलजी ने 1206 में कामरूप पर आक्रमण किया था। लेकिन उसके लिए यह अभियान एक त्रासदी साबित हुआ। उसकी सेना पूर्णरूपेण नष्ट हो गई थी। 1227 में सुल्तान ग़ियासुद्दीन इवाज़ ने भी कामरूप पर अधिकार करने का प्रयास किया और उसका भी राय पृथु के हाथों वही हश्र हुआ जो बख्तियार खलजी का हुआ था। बाद में इल्तुतमिश के पुत्र नसीरुद्दीन महमूद ने राय पृथु की शक्ति को कुचलने में सफलता प्राप्त की। 1255 में मलिक युज़बेक ने कामरूप पर आक्रमण किया और बाद में उसका भी वही हाल हुआ जो बख्यितार खलजी का हुआ था। उसकी सेनाएँ शीघ्र ही शक्ति-विहीन हो गईं, मलिक युज़बेक गंभीर रूप से घायल हो गया और शीघ्र ही 1257 में उसकी मृत्यु हो गई। सिंहध्वज के शासनकाल (1300-1305) में बंगाल के सुल्तान शमसुद्दीन फिरोज़ शाह (1301-1322) ने 1303 में ब्रह्मपुत्र को पार करते हुए मैमनसिंह एवं सिलहट पर अधिकार कर लिया।

कामरूप राज्य सदैव अहोम साम्राज्यवादी योजनाओं का शिकार होता रहा। *बुरंजी* साहित्य में कमाटा के शासक सिंधु राय (1260-1285) के विरुद्ध अहोम राजा सुकाफा (1228-1268) की सफलता का वर्णन मिलता है। सिंधु राय ने सुकाफा की अधीनस्थता को स्वीकार कर लिया, लेकिन उसके उत्तराधिकारी प्रतापध्वज (1300-1305) ने अहोम राजाओं को नज़राना देना बंद कर दिया, फलस्वरूप सुखांगफा (1293-1332) ने फिर कमाटा राज्य पर आक्रमण किया। एक लंबी लड़ाई तथा भारी नुकसान के बाद अंततः प्रतापध्वज ने शांति के लिए सुलह की और सुखांगफा के साथ अपनी पुत्री रजनी का विवाह कर दिया।

14वीं सदी के कमाटा राज्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता भूयान सरदारों का महान् विद्रोह था, जिन्होंने अस्थिर परिस्थितियों का लाभ उठाया। चचेरे भाइयों धर्म नारायण तथा दुर्लभ नारायण के बीच उत्तराधिकार के लिए युद्ध हुआ। प्रारंभ में भूयान सरदारों का विद्रोह असफल रहा, क्योंकि दुर्लभ नारायण (1330-1350) तथा अरिमत्ता (1365-1385) की शक्ति इनसे कहीं अधिक थी। लेकिन अरिमत्ता की मृत्यु (1385) के बाद उसके उत्तराधिकारी भूयान सरदारों के प्रहारों का सामना कर सकने में कमजोर साबित हुए और 15वीं शताब्दी के मध्य में राय पृथु के वंश को भूयान सरदारों के ख्यान वंश द्वारा उखाड़ फेंक दिया गया और नीलध्वज (1440-1460) ने इस नए वंश की स्थापना की। नीलाम्बर (1480-1498) ख्यान वंश का सबसे शक्तिशाली शासक हुआ और उसने अपने राज्य की सीमाओं को करातोया से बारनदी तक बढ़ा दिया। अबीसीनियाई गुलामों ने बंगाल (गौड़) में अराजकता की जो स्थिति पैदा की थी, नीलाम्बर ने उसका लाभ उठाते हुए, बंगाल के उत्तर-पूर्वी भाग पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की। बाद में, अलाउद्दीन हुसैन शाह (1493-1519) ने नीलाम्बर की शक्ति को कुचल दिया और इसी के साथ ख्यान वंश के शासन का अंत हो गया।

अहोमों का संबंध दक्षिण-पूर्वी एशिया के ताय कबीले की उपशाखा माओ-शान से था। 1228 में अहोम ऊपरी बर्मा में स्थित मोगांग नामक प्रदेश तथा यूनान को छोड़कर अंततः 1253 में ऊपरी असम दिखोऊ घाटी (आधुनिक सिबसागर मण्डल) में अंतिम तौर में बस गए। उन्होंने चरायदेव (बाद में, 1397 में चारगुआ को राजधानी बनाया) को अपने राज्य की राजधानी बनाया। माओ-शान कबीले का सुकाफा (1228-1268) प्रथम अहोम शासक था और उसने चुटियों, मोरान, बोरहियों, नागों, कचारियों तथा कमाटा (कामरूप) को अपने अधीन कर लिया। उसके पुत्र सुत्यूफा (1268-1281) ने कचारियों को पराजित कर अपने प्रभुत्व क्षेत्र को दक्षिण की ओर ब्रह्मपुत्र के किनारे कालंग (आधुनिक उत्तरी कछार उपमंडल) तक बढ़ा दिया। सुखांगफा (1293-1332) के अधीन अहोम शासक संपूर्ण ब्रह्मपुत्र घाटी में सर्वोच्च शक्ति बन गए। सुखांगफा की मृत्यु के बाद एक रिक्तता पैदा हो गई थी और इसके फलस्वरूप अहोम राज्य तीन बार राजा के बिना (1364-1369, 1376-1380 तथा 1389-1397) अन्तराल रहा। सुदंगफा के शासन काल में (1397-1407) स्थिति में स्थायित्व पैदा हुआ। इसके शासन काल में नारा तथा कमाटा के शासकों के साथ संघर्ष हुए। इसके फलस्वरूप अहोम राज्य की सीमाएँ उत्तर में पटकाय तथा उत्तर-पूर्व में करातोया नदी तक पहुँच गई। सुदंगफा के शासन काल में स्थापित सीमाएँ संपूर्ण 15वीं सदी में बनी रहीं। बाद में सुहेनफा (1488-1493) को नाग तथा कचारियों के विद्रोहों का सामना करना पड़ा। लेकिन इन विद्रोहों का दमन कर दिया गया। 15वीं सदी के अंतिम वर्षों में सुपिम्फा के (1493-1497) बुरागोहिन खेनपुंग जैसे कुलीनों ने विद्रोह कर दिया। यद्यपि विद्रोह का दमन कर दिया गया, लेकिन इसने कुलीनों के बीच होने वाली आतंरिक कलहों को स्पष्ट कर दिया जिसका प्रारंभ 15वीं सदी के अंतिम वर्षों में हो चुका था।

अहोम शासन-काल का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू बिस्वा सिंधा के अधीन कोचों का संघर्ष था। कोच शासक नारायणन और उसके सेनापति चिलाराय ने अहोम सत्ता का तख्ता पलट करने की कोशिश की। लेकिन 1565 में अहोम इस क्षेत्र में सर्वाधिक प्रबल शक्ति के रूप में उभरे तथा 1581 में कोचों का कूच बिहार, संकोश के पश्चिम में और कोच हाजो, संकोश के पूर्व में, के रूप में विभाजन ने कोच शक्ति को कमजोर कर दिया। कूच बिहार को मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया तथा कोच हाजो, अहोम सत्ता का हिस्सा बन गया। अहोम क्षेत्र में मुगल अभियान 1612 से प्रारंभ हुए जो निरंतर चलते रहे। इस बीच मीर जुमला 1662-1663 में अहोम राजधानी गरगांव पर मुगल प्रभुत्व स्थापित करने में सफल रहा। लेकिन मीर जुमला की मृत्यु से तख्ता पलट गया और अंततः सरायघाट के युद्ध (1671-1672) में शक्ति संतुलन अहोम शासकों के पक्ष में झुक गया और राजा राम सिंह, जिसे औरंगजेब द्वारा भेजा गया था, को अहोमों के हाथों अपमानजनक पराजय का सामना करना पड़ा। हालांकि मुगल हमले 1682 तक चलते रहे, जब अंततः औरंगजेब ने अपना ध्यान पूरी तरह से दक्खन की ओर केन्द्रित कर दिया।

अहोम राजनीति में कुलीन वर्ग की विशेष भूमिका थी। मूल सलाहकार जो सुकाफा के साथ आए थे, वे *बुरागोहिन* और *बरागोहिन* थे। बाद में सी-हुम-माँग (1494-1539) द्वारा *बरपात्रगोहिन* को शामिल किया गया। प्रताप सिंघा (1603-1641) ने पुनः *बरबरूआ* और *बरफुकन* को शामिल कर पाँच सलाहकारों की समिति, ***पात्र मंत्री***, का निर्माण किया। इनमें से प्रथम तीन का पद वंशानुगत तथा स्थायी था, और उन्हें मात्र उन्हीं लोगों में से चुना जाता था जो सुकाफा के साथ आए थे। इसके अतिरिक्त अन्य अधिकारी भी थे जैसे, फुकन, राजखोवा और बरूआ। उनका पद न तो वंशानुगत था और न ही स्थायी। अहोम शासन का एक और अन्य प्रमुख तत्व ***पायक*** थे। *पायक* प्रणाली उनका सामाजिक-आर्थिक बनाम सैन्य संगठन था। समाज अहोम समुदाय के 16-50 वर्ष की आयु के पुरुष *पायक* (*करनी* [(निम्न स्तरीय)] *पायक*) के रूप में संगठित थे। उन्हें सिविल, सैन्य मजदूरों अथवा सैनिकों के रूप में नियोजित किया जाता था। उनमें उच्च श्रेणी के *पायक* (*चामुआ/विसया*) भी होते थे। वे *खेल* (*पायकों* की एक इकाई को जो विशिष्ट कार्य करते थे; बाद में *खेल* विशिष्ट क्षेत्र अथवा समूह/गोत्र के *पायकों* के आधार पर संगठित किए जाने लगे) के रूप में संगठित थे जिनके प्रमुख *फुकन* अथवा *बरूआ* होते थे। एक *खेल*, पुनः ***गोत*** में वर्गीकृत थे, जो कि चार *पायकों* की एक इकाई थी, और प्रत्येक *गोत* में से एक व्यक्ति हमेशा राज्य की सेवा में सेवारत होता था। इस प्रकार *पायक* प्रणाली राजनीतिक सत्ता तथा सामाजिक-राजनीतिक संगठन के केंद्रीकरण का प्रमुख स्रोत थी जिस पर समस्त प्रशासनिक मशीनरी निर्भर थी।

3.3.5 ओडिशा

तुर्कों के आक्रमण के समय ओडिशा पूर्वी गंगा शासकों के अधीन था। *तबकात-ए नासिरी* के वृत्तांत के अनुसार बख्यितार खलजी ने मुहम्मद तथा अहमद भाइयों को जाजनगर (आधुनिक ओडिशा) पर ठीक अपनी मृत्यु से पूर्व (1205) आक्रमण करने के लिए भेजा था। इस समय जाजनगर का शासक राजराजा-III (1197-1211) था। अगला आक्रमण ग़ियासुद्दीन इवाज़ के नेतृत्व में अनंगभीम-III (1211-1238) के सत्तारूढ़ होने के तुरन्त बाद हुआ। यद्यपि *तबकात-ए नासिरी* में इवाज़ की सफलता की प्रशंसा की गई है, लेकिन चाटेश्वर अभिलेख के अनुसार इस संघर्ष में अनंगभीम-III की विजय हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इवाज़ के आक्रमण को रोक दिया गया था।

नरसिंहम-I (1238-1264) को इख्तियारुद्दीन यूजबेक के आक्रमण का सामना करना पड़ा और यूजबेक को अपने प्रथम दो आक्रमणों में सफलता भी प्राप्त हुई। लेकिन बाद में नरसिंहम-I ने उसके प्रयासों को विफल कर दिया। नरसिंहम-I ने अपने राज्य की सीमाओं को मिदनापुर, हावड़ा तथा हुगली तक फैला दिया। 13वीं सदी के समापन पर (1296) सतगांव दिल्ली सुल्तानों के अधीन हो गया। आप **इकाई 2** में पढ़ चुके हैं कि ग़ियासुद्दीन तुगलक (1320-1325) के शासन काल में तथा उलुग खां (बाद में मुहम्मद तुगलक) ने किस तरह से जाजनगर पर अधिकार कर लिया था और यहाँ के शासक उनके सामन्त हो गए थे।

भानूदेव-III (1352-1378) के शासन काल से ही गंगा राजाओं की शक्ति कमज़ोर होने लगी। इस अवसर का लाभ उठाते हुए पड़ोसी राज्यों ने ओडिशा पर आक्रमण शुरू कर दिये।

सन् 1353 में बंगाल के शासक शमसुद्दीन इलियास ने चिल्का झील को पार करते हुए जाजनगर के शासक को पराजित किया और वह विशाल लूट की दौलत के साथ अनेक हाथी भी ले गया। बाद में, दिल्ली, विजयनगर, जौनपुर तथा बहमनी शासकों ने भी ओडिशा में यदा-कदा लूटपाट की।

इस तरह की अव्यवस्था तथा अनिश्चय की स्थिति में भानूदेव-IV (1414-1435) के मंत्री कपिलेन्द्र ने 1435 में ओडिशा के सिंहासन पर अधिकार कर ओडिशा में गजपति शासन की नींव डाली। 1464-1465 तक उसके राज्य की सीमाएँ दक्षिण अरकाट जिले तथा दक्खन पठार के पूर्वी क्षेत्र तक फैल गईं। कपिलेन्द्र ने हुमायूँ शाह बहमनी को उस समय अपमानजनक ढंग से पराजित किया, जिस समय हुमायूँ ने देवरकोन्डा पर आक्रमण किया और कपिलेन्द्र देवरकोन्डा के सरदार की मदद (1459) के लिए आया। इसके बाद कपिलेन्द्र जब तक जीवित रहा तब तक बहमनी शासकों ने तेलंगाना पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया। 1450 में कपिलेन्द्र ने बंगाल के शासक नसीरूद्दीन (1442-1459) को पराजित करने में सफलता प्राप्त की और *गौडेश्वर* की उपाधि को धारण किया। 1453 में राजामुन्द्री भी उसके राज्य का एक भाग बन गया। 1462 तक उसके राज्य की सीमाएँ हुगली से दक्षिण में कावेरी नदी तक फैल गईं। लेकिन उसके शासन काल के अंतिम वर्षों में विजयनगर के शासक सलूवा नरसिंह (1485-1491) ने कावेरी नदी के बेसिन से ओडिशा के लोगों को निष्कासित कर दिया। पुरुषोतम ने सिंहासन प्राप्त करने के बाद (1467) तमिल क्षेत्रों पर पुनः आधिपत्य स्थापित करने की कोशिश की, लेकिन उसकी विजयों का प्रभाव क्षेत्र केवल कांची तक सीमित रहा। इसी के साथ-साथ पुरुषोतम को बहमनी शासक मुहम्मद शाह-III (1463-1482) को कोन्डनीर (कोण्डाविडु) तथा राजामुन्द्री देना पड़ा। सलूवा नरसिंह (बाद में विजयनगर शासक) ने स्थिति का लाभ उठाते हुए उदयगिरि (1476) पर अधिकार कर लिया। जब तक मुहम्मद शाह-III जीवित था, पुरुषोत्तम ने इन क्षेत्रों पर अधिकार करने का प्रयास नहीं किया। 1482 में उसकी मृत्यु के बाद पुरूषोत्तम ने राजामुन्द्री, कोण्डनीर को 1484 में तथा उदयगिरि को 1486-1491 के मध्य सलूवा नरसिंह से छीन लिया। इस तरह से उसने अपने राज्य की सीमाओं को उत्तर में भागीरथी से दक्षिण में पैन्नार नदी तक बढ़ा लिया। अपने पिता की भांति, उसके पुत्र प्रताप रूद्र (1497-1540) ने भी प्रसारवादी नीति का अनुसरण किया। उसने अपने शासन का अधिकतर समय विजयनगर के शासक कृष्णदेव राय तथा बंगाल के शासक हुसैन शाह के साथ संघर्ष करने में बिताया। प्रताप रूद्र ने विजयनगर पर आक्रमण किया लेकिन 1509 में बंगाल शासक हुसैन शाह के आक्रमण के कारण उसे वापस लौटना पड़ा। कृष्णदेव राय ने अपने राज्याभिषेक (1510) के बाद विजयनगर के उन सब किलों को जो गजपति

राजा प्रताप रूद्र देव ने अपने आधिपत्य में ले लिए थे वापस लेने का प्रयत्न किया और वह 1515 तक उदयगिरि, कोंडाविडु और अन्य किलों को वापस जीतने में सफल रहा। उसने प्रताप रूद्र के बेटे वीरभ्रद को भी पकड़ लिया जिसने विजयनगर की राजधानी में आत्महत्या कर ली जिसके कारण प्रताप रूद्र को मजबूरन 1519 में संधि करनी पड़ी और अंततः कृष्णा नदी दोनों राज्यों के मध्य सीमा बन गई। उसने कृष्णदेव राय को अपनी बेटी भी विवाह में दी। 1540 में उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी राज्य की एकता को कायम न रख सके और शीघ्र ही सूर्यवंशी (गजपति) शासन का अंत (1542) हो गया।

बोध प्रश्न-3

1) कामरूप राज्य के साथ बंगाल के शासकों के संबंधों की व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

2) ताय-अहोम कौन थे? सुखांगफा की उपलब्धियों को बताइए।

....

....

....

....

3) विजयनगर, बहमनी तथा बंगाल के शासकों के साथ कपिलेन्द्र के संबंधों की विवेचना कीजिए।

....

....

....

....

4) रिक्त स्थानों को भरिएः

   क) .... ने राजधानी को कामरूप से कमाटापुर स्थानांतरित कर दिया।

   ख) असमिया साहित्य को .... कहा जाता है।

   ग) ख्यान वंश की नींव .... के द्वारा रखी गई।

   घ) अहोम .... कबीले से संबंधित थे।

   ड.) पुरुषोतम ने कोन्डाविडु तथा राजामुन्द्री .... को दे दिया।

3.4 उत्तरी एवं पश्चिमी भारत

इस भाग में हम विशेष रूप से कश्मीर, सिंध, राजपूताना तथा गुजरात राज्यों की चर्चा करेंगे।

3.4.1 कश्मीर

भौगोलिक तौर पर कश्मीर घाटी के दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम में पीर पंजाल की पर्वत श्रृंखलाएँ और दक्षिण-पूर्व में किश्तवार घाटी है तथा दक्षिण-पूर्व तथा उत्तर-पश्चिम क्षेत्र शक्तिशाली मध्य तथा उत्तर-पश्चिमी हिमालय पर्वत की श्रृंखलाओं से ढका है। कश्मीर घाटी के अंतर्गत एक ओर झेलम नदी एवं इसकी सहायक नदियों का मैदानी क्षेत्र आता है तो दूसरी ओर पठारी क्षेत्र है। नदी के किनारे का मैदानी क्षेत्र उपजाऊ है तथा भूमि कछारी है और यहाँ काफी मात्रा में खेती होती है, लेकिन ऊँचे पठार कम उपजाऊ हैं और अगर खेती की भी जाती है तो फसल अच्छी नहीं होती है। कश्मीर घाटी के पर्वतों से घिरे होने के कारण दर्रों (ज़ोजिला, बनिहाल, बुदिल, पीर पंजाल तथा तोशामैदान) का बहुत अधिक महत्व है और राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक प्रक्रियाओं

पर उनका व्यापक प्रभाव पड़ा है। लेकिन दक्षिणी दर्रों को लोदी शासकों के समय तक पार न किया जा सका था; किंतु बारामुला, पाखली तथा स्वात के दर्रों को सदैव पार किया जाता रहा।

13वीं सदी का कश्मीर एक स्वतंत्र राज्य था लेकिन वहाँ का हिन्दू राजा जगदेव (1198-1212) एक कमजोर शासक था। उसके शासन के दौरान एक असंतुष्ट सामंतीय समुदाय दमरा ने विद्रोह किया परंतु इस विद्रोह को सफलतापूर्वक दबा दिया गया। लेकिन उसके राजादेव (1212-1235), संग्रामदेव (1235-1252) तथा रामदेव (1252-1256) जैसे उत्तराधिकारी अपनी शक्ति को बनाए न रख सके। रामदेव की मृत्यु के बाद दमरा सामंत सिंहदेव (1286-1301) को शासन पर अधिकार करने का अवसर मिल गया। लेकिन उसके वंश का शासन भी अधिक दिनों तक न चल सका। विशेष बात यह है कि तुर्कों के भारत आगमन के बाद लगभग दो सदियों तक कश्मीर उनके प्रभाव से मुक्त रहा। यद्यपि इससे पहले महमूद गज़नवी ने 1015 तथा 1021 में दो बार कश्मीर पर आक्रमण करने का प्रयास किया लेकिन हिमालय तथा हिन्दुकश की दुर्गम पहाड़ियों ने उसकी इच्छाओं को पूरा न होने दिया। कश्मीर में कभी भी आक्रमणकारी प्रवेश नहीं कर सकते थे – इस मान्यता को 1320 में उस समय तोड़ दिया गया जबकि सेनापति दुलाचा ने कश्मीर पर आक्रमण कर उसे पराजित करने में सफलता प्राप्त की और अथाह संपत्ति को लूटा। लेकिन भंयकर तूफान के कारण बनिहाल दर्रे पर उसकी मृत्यु हो गई।

इस आक्रमण के गहरे दूरगामी प्रभाव हुए। इसने कश्मीर में मुसलमान शासन की स्थापना के मार्ग को प्रशस्त कर दिया। जिस ढंग से राजा सहदेव ने मंगोल समस्या का सामना किया, तथा मंगोलों द्वारा कश्मीर में भंयकर तबाही के कारण कश्मीर की जनता में असंतोष बढ़ा। इस स्थिति का लाभ लद्दाख के भौटा राजकुमार रिंचन ने उठाया और 1320 में उसने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उसने शीघ्र ही इस्लाम को स्वीकार कर लिया और उसने सुल्तान सद्रूद्दीन की उपाधि धारण की। उसकी हत्या के बाद कश्मीर राज्य में लम्बे समय तक अराजकता की स्थिति बनी रही। जिसके कारण 1339 में शमसुद्दीन प्रथम शाह मीर वंश की स्थापना करने में सफल हुआ। बाद में शाह मीर वंश के शासक शहाबुद्दीन (1354-1373) ने कश्मीर सल्तनत को मजबूत आधार प्रदान करने का प्रयास किया। जिस समय 1398 में तैमूर लंग ने भारत पर आक्रमण किया, उसने फौलाद बहादुर तथा ज़ैनुद्दीन को कश्मीर के सुल्तान सिकन्दर (1389-1413) के पास दूत बनाकर भेजा और उन्होंने सुल्तान से विशाल धन-राशि की माँग की। इससे एक बार फिर कश्मीर में अराजकता का लंबा दौरा चला जो 1420 में ज़ैन-उल आबिदीन के कश्मीर के सिंहासन पर बैठने के साथ समाप्त हुआ। उसने (मृ. 1470) 50 वर्षों तक कश्मीर में कुशलतापूर्वक शासन किया। उसने अपने राज्य की सीमाओं को पश्चिमी तिब्बत तक बढ़ाया और लद्दाख तथा शैल पर अधिकार कर लिया। लेकिन उसकी उपलब्धियों को शीघ्र ही उसके उत्तराधिकारियों ने नष्ट कर दिया। उसकी मृत्यु ने आंतरिक कलह को जन्म दिया। अंततः 16वीं सदी के प्रारंभ में सैय्यद शासकों ने कश्मीर राज्य की सत्ता को प्राप्त कर लिया।

सैय्यदों के शासन तक दिल्ली के सुल्तानों एवं कश्मीर के शासकों के बीच कोई संघर्ष नहीं हुआ। लेकिन बहलोल लोदी के समय में कश्मीर एवं दिल्ली के बीच संबंध तनावपूर्ण हो गये। *तबकात-ए अकबरी* के अनुसार हैदर शाह (1470-72) की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के लिए प्रारंभ हुए संघर्ष में बहलोल लोदी के आदेश पर पंजाब के गवर्नर तातार खाँ ने सुल्तान हसन के चाचा बहराम खाँ का पक्ष लिया। सुल्तान हसन ने बहराम खाँ का वध करने में सफलता प्राप्त की। तातार खाँ के द्वारा बहराम खाँ की सहायता करने से सुल्तान हसन नाराज हो गया। उसने मलिक ताज़ी भट्ट को पंजाब पर आक्रमण करने के लिए भेजा। ताज़ी भट्ट ने न केवल तातार खाँ को पराजित किया बल्कि उसने सियालकोट पर अधिकार कर लिया। सुल्तान हसन की मृत्यु (1484) के बाद सैय्यद हसन के पुत्र सैय्यद मुहम्मद के आदेश पर तातार खाँ ने कश्मीर पर एक बार फिर आक्रमण किया। जम्मू एवं कश्मीर की संयुक्त सेनाओं के सामने तातार खाँ को पराजय का मुंह देखना पड़ा। मुहम्मद शाह के शासन (1517-1528) के अंतिम वर्षों में मुगलों ने कश्मीर की राजनीति में प्रवेश किया। बाबर ने कूचक बेग और शेख अली बेग की अधीनता में मुगल सेना को सिकन्दर को सिंहासन प्राप्त करने में सहायता के लिए भेजा। इस प्रकार कश्मीर में मुगल घुसपैठ की शुरुआत हुई। बाबर के पश्चात् मिर्ज़ा कामरान ने भी कश्मीर के मामलों में हस्तक्षेप किया। परन्तु कश्मीरी राजनीति में

सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका मिर्ज़ा हैदर दोग़लत ने निभाई। उसने 1532 में कश्मीर में प्रवेश किया और अपनी मृत्यु (1551) तक कश्मीर की राजनीति में अपना वर्चस्व बनाये रखा और वास्तविक शासक के रूप में उसे अपनी इच्छानुसार शासित किया। मिर्ज़ा की मृत्यु के पश्चात् चकों ने नाजुक शाह द्वितीय (1540-1552) के दरबार में पुनः सत्ता हासिल की। अंततः गाज़ी चक ने शाह मीर वंश के शासक हबीब शाह पर अयोग्यता का इल्ज़ाम लगाकर उसे अपदस्थ कर दिया और 1561 में चक वंश की नींव डाली जिसका शासन 1586 तक चलता रहा, जब अंततः अकबर ने कश्मीर को विजित कर अपने साम्राज्य का अंग बना लिया।

बोध प्रश्न-4

1) कश्मीर के एक स्वतंत्र राज्य के रूप में उदित होने में भौगोलिक परिस्थितियों की भूमिका की विवेचना कीजिए।

....

....

....

....

2) ज़ैन-उल आबिदीन कौन था?

....

....

....

....

3.4.2 उत्तर-पश्चिमः राजपूताना

भारत के वर्तमान उत्तर-पश्चिम क्षेत्र के अंतर्गत राजस्थान, गुजरात का एक भाग तथा पंजाब आता है। भौगोलिक दृष्टिकोण से इस क्षेत्र के अंतर्गत थार का वह विशाल रेगिस्तान है जिसमें बीकानेर, जैसलमेर तथा बाढ़मेर आते हैं। दक्षिण-पश्चिम क्षेत्र में कच्छ का वह मैदान है जिसके अंतर्गत नगर पारकर राज्य फला-फूला। अरावली पहाड़ियों की तलहटी में प्रसिद्ध मेवाड़ राज्य, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, चित्तौड़ तथा रणथम्भौर का विकास हुआ।

इस क्षेत्र में राजपूतों के कबीलाई राजतंत्रों के उदय से पूर्व भील, मीना, मेड़ तथा जाट यहाँ की स्थानीय जातियाँ थीं। ये जातियाँ भिन्न-भिन्न इलाकों में फैल गईं। भीलों की प्रमुखता, मेवाड़, डूंगरपुर तथा बांसवाड़ राज्यों में थी और मीना, मेड़ तथा जाट क्रमशः जयपुर, जोधपुर तथा बीकानेर में प्रमुख थे। इन स्थानीय जातियों को राजतंत्र स्थापित करने में सफलता प्राप्त न हो सकी। जबकि अन्य राजपूत जो भारत के उत्तर-पश्चिम भाग से आये थे, इस कार्य में सफल हुए।

जैसलमेर के भाटी पंजाब में स्थित सतलज नदी के मैदान से आये थे और सिसोदिया दक्षिण भारत में नर्मदा नदी की घाटी से। मध्य भारत में स्थित नरवर से कछवाहा आये तथा जोधपुर एवं बीकानेर के राठौरों के संबंध कन्नौज क्षेत्र से थे। राजपूतों के विस्थापन से कुछ महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों की ओर संकेत प्राप्त होता है। प्रारंभ में वे नदियों के किनारे पर बसे जहाँ पर उनको पर्याप्त मात्रा में पानी तथा खेती करने के लिए अच्छी भूमि उपलब्ध थी। जिस समय आबादी में वृद्धि हुई और उत्तराधिकार या अन्य विषयों को लेकर झगड़े बढ़ने लगे, तब कमजोर वर्ग उन क्षेत्रों की ओर प्रस्थान कर गये जहाँ पर जनसंख्या कम थी और ऐसी कोई राजनीतिक शक्ति विद्यमान न थी जो नये आगन्तुकों का अपने-अपने क्षेत्रों में विरोध कर पाती। ये नये आगन्तुक वहाँ की मूल जनजातियों की तुलना में राजनीतिक संगठन या युद्ध करने की कला में कहीं अधिक कुशल थे। इन नये आगन्तुकों की संख्या कम होने के कारण उन्होंने स्थानीय कबीलों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए दोहरी नीति का अनुसरण किया। प्रथम, शक्ति का प्रयोग किया और दूसरा सामाजिक-आर्थिक उपायों को अपनाया।

शक्ति के प्रदर्शन के संदर्भ में, अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए उन्होंने पहले किलों का निर्माण कराया। दूसरा कार्य सामाजिक-धार्मिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण था। विस्थापित

जातियों ने मस्तक पर तिलक लगाने की एक परंपरा का प्रारंभ किया। जिसके अनुसार प्रत्येक उत्तराधिकारी सरदार के मस्तक पर एक स्थानीय जाति या कबीले के सदस्य द्वारा तिलक लगाया जाता था। उदाहरण के तौर पर, मेवाड़ में भील, बीकानेर में गोदरा जाट तथा जयपुर में मीना अपने क्षेत्रों के उत्तराधिकारी सरदारों के मस्तकों पर तिलक लगाते थे। तिलक लगाने की इस परंपरा के बिना उत्तराधिकारी सरदार को क्षेत्र विशेष तथा उसकी जनता का वैध सरदार या प्रमुख नहीं माना जाता था। राजपूत वंशों द्वारा 16वीं-17वीं सदियों में मुगल शासकों की अधीनस्थता स्वीकार करने के बावजूद भी स्थानीय जाति द्वारा तिलक करने की यह सामाजिक परंपरा निरंतर जारी रही। राजनीतिक तौर पर मुगल सम्राट इन विशेषाधिकारों का उपयोग करते हुए शासक वंश के परिवार के एक सदस्य को उत्तराधिकारी घोषित करते थे। लेकिन स्थानीय स्तर पर तिलक लगाने के सामाजिक अनुष्ठान के कार्य को स्थानीय जाति के द्वारा ही किया जाता रहा। यह इस अर्थ में प्रतीकात्मक था कि जहाँ वास्तविक शक्ति मूल जाति के हाथों में थी, वहीं इन जातियों ने शासन करने की अपनी शक्तियाँ एक ऐसे सरदार को सौंप दी हैं जिसका कर्त्तव्य उस क्षेत्र की जनता की बाहरी आक्रमण से रक्षा करना तथा जनता के लिए लोक हित कार्यों की देखभाल करना था। प्रारंभ में इस सामूहिक रीति का अनुसरण स्थानीय लोगों की भावनाओं का सम्मान करने के लिए किया गया। लेकिन समय के चलते यह परंपरा मात्र एक सामाजिक अनुष्ठान बनकर रह गई। धीरे-धीरे राजपूत, क्षेत्र के वास्तविक (*de facto*) तथा विधिक (*de jure*) दोनों, शासक एवं सरदार हो गये तथा कबीलाई लोग किसान। सरदार लोग सैनिकों तथा स्वयं के रख-रखाव के लिए किसानों से अतिरिक्त उत्पाद को प्राप्त करते थे। इस अतिरिक्त उत्पाद को प्राप्त करने हेतु इसको धार्मिक स्वरूप प्रदान कर इसे ***भोग*** कहा गया। *भोग* शब्द से धार्मिक पवित्रता का बोध होता हैः देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना में चढ़ाई गई भेंट को भी *भोग* कहा जाता था। कहने का तात्पर्य यह है कि राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया। इसलिए राजा तथा उसके अधिकारियों को दिए जाने वाले *भोग* को धार्मिक कर्त्तव्य समझा जाता था। इसने राजा के प्रभुत्व को और शक्तिशाली बनाया और स्थानीय लोगों द्वारा विद्रोह किए जाने की संभावनाएँ काफी क्षीण हो गई। बाह्य आक्रमण से राज्य की रक्षा करना राजा का अनुबंधित कर्त्तव्य था। कुछ निश्चित भू-भाग पर सरदार के पास सामंतीय अधिकार थे और इसने कबीलाई राज्य से बनाम राजतंत्रीय को जन्म दिया।

गुहिल एवं सिसोदिया

उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में जिस सबसे शक्तिशाली राज्य का उदय हुआ वह मेवाड़ का राज्य था। 13वीं शताब्दी के दौरान जैत्र सिंह (1213-61) ने गुहिल शक्ति को सुदृढ़ किया और वह तुर्कों के आक्रमणों का सामना करने में असफल रहा। अलाउद्दीन खलजी ने राणा रतन सिंह को पराजित करने में सफलता प्राप्त की और 1303 में मेवाड़ पर अधिकार कर लिया। 14वीं सदी के दौरान मेवाड़ राज्य में आंतरिक कलहों का बोलबाला हो गया। इसके फलस्वरूप सिसोदिया राजा हमीर के द्वारा मेवाड़ को विजित करने में सफलता प्राप्त हुई। इस तरह मेवाड़ में सिसोदिया राज्य की नींव पड़ी। हमीर के उत्तराधिकारियों ने मेवाड़ राज्य के अधीन अजमेर, जहाज़पुर, मण्डलगढ़, छापेन, बूंदी, नागौर, जालैर तथा साम्भर को कर लिया। लेकिन राणा कुम्भा (1433-68) के शासन काल में सिसोदिया शक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर थी। राणा कुम्भा के शासन काल में एक महत्वपूर्ण घटना यह घटित हुई कि सिसोदियों पर राठौड़ वंश का प्रभाव बढ़ने लगा। राणा कुम्भा किसी तरह से राठौड़ों पर नियंत्रण बनाए रखने में सफल हुआ।

राणा कुम्भा ने मेवाड़ राज्य की सीमाओं को दूर-दराज तक बढ़ाया। लगभग सम्पूर्ण राजस्थान उसके शासन के अधीन हो गया। उसने कोटा, बूंदी, आमेर, नरवर, दुर्गापुर, साम्भर, नागौर, रणथम्भौर तथा अजमेर पर अधिकार कर लिया। उसने मालवा तथा गुजरात के सुल्तानों के आक्रमणों को कई बार निष्क्रिय किया (इन झड़पों के विषय में अलग से गुजरात एवं मालवा के भाग में विस्तृत रूप से लिखा जाएगा)। राणा कुम्भा का वध उसके पुत्र उदा के द्वारा कर दिया गया और 1468 में वह सिंहासनारूढ़ हुआ। उदा (1468-73) और उसके उत्तराधिकारी रैमल (1473-1508) के शासनकाल में निरंतर सत्ता के लिए संघर्ष होता रहा और 1508 में अंततः यह संघर्ष तब समाप्त हुआ जब राणा सांगा ने मेवाड़ के सिंहासन को प्राप्त किया।

मुगल और मेवाड़ राज्य के मध्य संघर्ष, जो राजा सांगा और बाबर के बीच खानवा के युद्ध (1527) से प्रारंभ हो, अकबर और राणा प्रताप (156,1576) के मध्य तक चलता रहा। जब तक राणा प्रताप जीवित रहे उन्होंने मुगल शक्ति का डटकर विरोध किया, लेकिन बाद में, जहांगीर के काल में, राणा अमर सिंह ने 1615 में जहांगीर के साथ संधि कर ली और इस प्रकार अंततः मेवाड़ को मुगलों ने अपने अधीन कर लिया।

वागड़ के गहलौत

मेवाड़ के गुहिल केवल मेवाड़ की सीमाओं तक ही सीमित न थे। 12वीं सदी के प्रारंभ में मेवाड़ का सामंत सिंह अपने राज्य की स्थापना के लिए वागड़ (आधुनिक डूंगरपुर तथा बांसवाड़ा) गया। लेकिन गुजरात के हस्तक्षेप के कारण वह लम्बे समय तक इस क्षेत्र पर अपना नियंत्रण कायम न कर सका। जब वागड़ पर गुजरात का नियंत्रण कमजोर हो गया, तभी सामंत सिंह का एक वंशज जगत सिंह 13वीं सदी में इस क्षेत्र को अपने अधीन कर पाया। 14वीं तथा 15वीं सदियों के दौरान गुहिलों के नियंत्रण को सुदृढ़ किया गया। अक्सर उनके संघर्ष गुजरात के सुल्तान के साथ होते रहते थे। मालवा का सुल्तान भी उनका परमपरागत शत्रु था।

गुहिलों की एक दूसरी शाखा राणा मोकल द्वितीय के पुत्र खेम सिंह तथा उसके वंशज सूरजमल (1473-1526) के नेतृत्व में प्रतापगढ़ गई जहाँ उनके द्वारा 15वीं सदी के अंत में प्रतापगढ़ में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की गई।

मारवाड़ के राठौड़

13वीं सदी के मध्य राठौड़ों ने कन्नौज से पाली की ओर विस्थापन किया। राठौड़ सरदार सिहा ने पाली के ब्राह्मणों को मेड़ तथा मीनाओं के आक्रमण से मुक्त करने में मदद की। इस तरह से लगभग 1243 के आसपास उसने इस क्षेत्र पर अपने प्रभुत्व को स्थापित कर दिया। अस्थान और उसके बाद के राठौड़ सरदारों ने अपने शासन का विस्तार इदर, मल्लानि, मंदसौर, जैसलमेर, बाड़मेर, अमरकोट एवं भीनमल पर स्थापित कर दिया। परन्तु राठौड़ शक्ति राव चुण्डा (1384-1423) तथा राव जोधा (1438-1489) के शासनकालों में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंची।

1395 में राव चुण्डा ने दहेज में मन्दसौर को प्राप्त किया। बाद में उसने अपने प्रभाव को खातू, डीडवाना, साम्भर, नागौर तथा अजमेर तक फैला दिया जो दिल्ली सुल्तान के अधीन था। चुण्डा को बढ़ती शक्ति की चुनौती देने के लिए भाटियों, संखालों तथा मुल्तान के गवर्नर ने एक गुट बनाया। उन्होंने नागौर पर आक्रमण किया तथा 1423 में चुण्डा का वध कर दिया। राव जोधा के अधीन राठौड़ एक महत्वपूर्ण शक्ति बनकर उभरे और उन्होंने आगे अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाते हुए मेड़ता, फलोदी, पोखरन, भद्राजुन, सोजत, जैतारन, सिवाना, गौडवद के कुछ भागों तथा नागौर को अपने अधीन कर लिया। बाद में राव सुजा के शासनकाल के दौरान (1492-1515) राठौड़ शक्ति के पतन के संकेत मिलने लगे। बीरन देव ऐसा प्रथम सरदार था जिसने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की। इसके तुरंत बाद बाडमेर तथा पोखरन के सरदारों ने राठौड़ राज्य से अपने संबंध तोड़ लिए।

राठौड़ शक्ति केवल मारवाड़ क्षेत्र तक सीमित न थी और जोधा (1438-1489) के पुत्र बीका के नेतृत्व में इसका प्रसार जंगल क्षेत्र अर्थात् आधुनिक बीकानेर की ओर हुआ। बीका ने लगभग 1465 में जंगल क्षेत्र की ओर विस्थापन किया। उसने पुंगल के राव शेखा के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित करके अपनी स्थिति को मजबूत किया। राव शेखा ने अपनी पुत्री को उसे विवाह में दिया। इस क्षेत्र के जाटों ने भी उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। 1488 में उसने बीकानेर नगर की स्थापना की और यह सत्ता का एक केन्द्र बन गया। अपने पिता की मृत्यु के बाद बीका ने अपने पूर्वजों की जोधपुर ***गद्दी*** को प्राप्त करने का असफल प्रयास किया। हालांकि वह पंजाब के कुछ क्षेत्रों को विजित करने में सफल रहा। 1504 में उसकी मृत्यु के समय उसके नियंत्रण में एक विशाल भू-भाग था।

छोटे राजपूत राज्य

उपरोक्त उद्धृत किए गए राजपूत राज्यों के अतिरिक्त राजपूताना में 13वीं सदी से 15वीं सदी के बीच अन्य कई छोटे 'राज्यों' का उदय हुआ। सबसे महत्वपूर्ण जैसलमेर के भाटी थे। उन्होंने

11वीं सदी के प्रारंभ में पंजाब से थार रेगिस्तान की ओर विस्थापन किया। संपूर्ण 14वीं एवं 15वीं सदियों के दौरान जैसलमेर शासकों के लगातार मेवाड़, मुल्तान, अमरकोट तथा बीकानेर के साथ संघर्ष होते रहे।

इसके बाद कछवाह आते हैं। उन्होंने मध्य भारत से ढूंढर की ओर विस्थापन किया। वे गुर्जर-प्रतिहार शासकों के सामन्त थे। 11वीं सदी के दौरान कछवाहा सरदार दुलाह राय ने नरवर से पूर्वी राजस्थान की ओर विस्थापन किया तथा वहाँ पर उसने बड़गूजरों को पराजित कर ढूंढर राज्य (आमेर, आधुनिक जयपुर) की स्थापना की। 15वीं सदी के दौरान कछवाहों ने आमेर, मेद, बैराट तथा शेखावटी क्षेत्र पर नियंत्रण बनाए रखा। लेकिन मुगल शासन के दौरान उनका महत्व बढ़ गया।

हम पहले ही **इकाई 2** में पढ़ चुके हैं कि जिस समय तुर्कों ने आक्रमण किया उस समय चौहान एक महत्वपूर्ण शक्ति थे। लेकिन तुर्कों के हाथ पृथ्वीराज की पराजय (1192 का तराइन का दूसरा युद्ध) के बाद चौहानों की शक्ति का पतन हो गया। उसके बाद जालौर, रणथम्भौर, नाडोल, सिरोही तथा हाडौती जैसे छोटे-छोटे सत्ता के केंद्रों का उद्भव हुआ और ये राज्य एक समय दिल्ली सल्तनत के भाग बन गए (देखें **इकाई 2**) या ये राज्य इतने कमजोर थे कि ये मेवाड़ और मारवाड़ के प्रहारों का सामना नहीं कर सके।

13वीं सदी के मध्य में किसी समय हाड़ाओं ने बूंदी-कोटा क्षेत्र में एक छोटा सा राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। वे मेवाड़ के राजा के सामन्त थे। समर सिंह ने 1253-1254 में बलबन के आक्रमण के विरुद्ध अपने राज्य की रक्षा करने में सफलता प्राप्त की, लेकिन वह अलाउद्दीन के शक्तिशाली प्रहार का सामना न कर सका और युद्ध करते हुए मारा गया। 1304 में उसके पुत्र नपुज का भी अलाउद्दीन के हाथों वही हाल हुआ। 15वीं सदी के दौरान हाड़ा शासकों के मेवाड़, गुजरात तथा मालवा राज्यों के साथ काफी संघर्ष हुए। वास्तव में, 13वीं सदी से 15वीं सदी के बीच बूंदी राज्य का नाममात्र का अस्तित्व था।

13वीं-15वीं सदियों के दौरान अमरकोट एवं बाड़मेर क्षेत्र में करावी तथा सोधा के यादवों का एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उदय हुआ। लेकिन 13वीं सदी से 15वीं सदी के बीच उन्होंने क्षेत्रीय शक्तियों के निर्माण में कोई विशेष योगदान नहीं किया।

बोध प्रश्न-5

1) राजपूत कबीलों ने उत्तर-पश्चिम भारत में स्वतंत्र राजतंत्रों को स्थापित करने में कैसे सफलता प्राप्त की?

....

....

....

....

2) राठौड़ कौन थे?

....

....

....

....

3) राजा कुम्भा की शक्ति के उदय की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

....

....

....

....

3.4.3 गुजरात

8वीं-12वीं सदी के बीच गुजरात राज्य में चालुक्यों के उद्भव के विषय में आप हमारे पाठ्यक्रम **बीएचआईसी-132** में पहले ही पढ़ चुके हैं। सल्तनत की स्थापना के बावजूद भी 13वीं सदी के दौरान गुजरात पर चालुक्यों का नियंत्रण बना रहा। **इकाई 2** में आप पढ़ चुके हैं कि 1299 में अलाउद्दीन के सेनापतियों, उलुग खां तथा नुसरत खां, ने किस तरह से चालुक्य शासक राजा करण बघेला को पराजित किया और इस प्रकार उन्होंने गुजरात में सल्नतन राज्य की नींव रखी। संपूर्ण 14वीं सदी में दिल्ली के सुल्तानों की गुजरात पर सर्वोच्चता बनी रही। लेकिन फिरोज़शाह के समय से सल्तनत का नियंत्रण कमजोर होता दिखायी पड़ता है जिसने शमसुद्दीन दमघनी को गुजरात के गर्वनर का भार सौपा। तैमूर के आक्रमण (1398) ने गवर्नरों को केंद्र से अलग होने का एक सुअवसर प्रदान किया। इसके शीघ्र बाद ही उस समय गुजरात के गवर्नर ज़फर खान (बाद में उसने मुजफ्फर शाह की उपाधि को धारण की) ने 1407 में गुजरात में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की।

अपनी स्वतंत्रता की स्थापना के समय से ही गुजरात का अपने पड़ोसियों – मालवा, राजपूताना, खानदेश तथा बहमनी राज्यों के साथ संघर्ष चलता रहा।
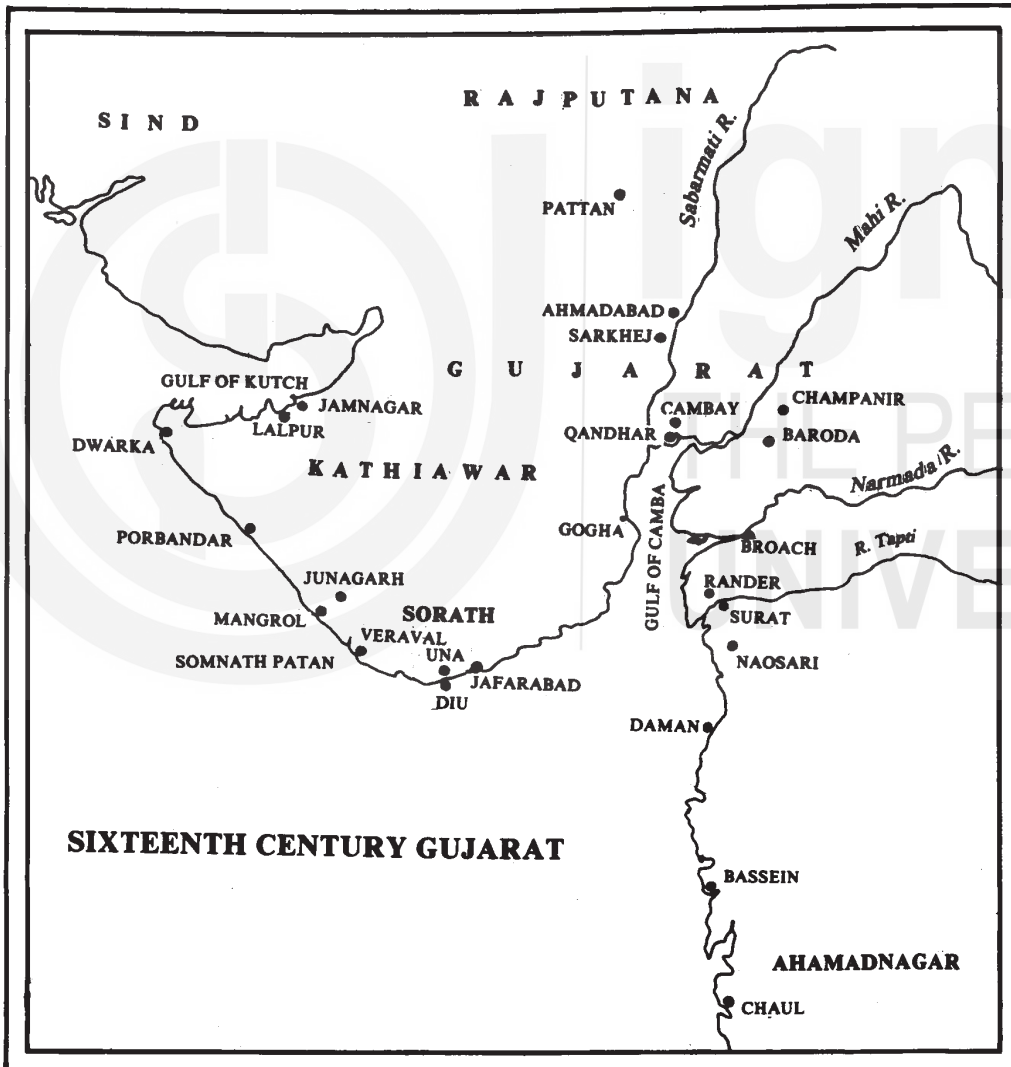
मानचित्र 3.3 : 16वीं शताब्दी का गुजरात

मालवा के साथ संबंध

मालवा के शासक गुजरात राज्य के परंपरागत शत्रु थे। 1408 में मुज़फ्फर शाह ने मालवा पर आक्रमण किया और मालवा के शासक होशंग शाह को बंदी बना लिया। यद्यपि होशंग शाह ने गुजरात की अधीनस्थता को स्वीकार कर लिया था किंतु वह गुजरात की बढ़ती शक्ति के प्रति ईर्ष्यालु था। गुजरात की शक्ति को कम करने के लिए मालवा के शासक ने गुजरात राज्य के

शत्रुओं के साथ मित्रता कर ली। लेकिन गुजरात के शासक अहमद शाह ने होशंग शाह की शक्ति को कुचल दिया। बाद में कुतबुद्दीन अहमद शाह द्वितीय के शासनकाल में (1451-1459) मालवा के महमूद खलजी ने गुजरात पर आक्रमण किया, लेकिन उसके इस आक्रमण को गुजरात ने असफल कर दिया। बाद में, मेवाड़ के शासक राणा कुम्भा को पराजित करने के लिए महमूद खलजी ने कुतबुद्दीन अहमद शाह द्वितीय के साथ गठबंधन कर लिया। लेकिन महमूद खलजी का यह कार्य शुद्ध तौर पर कूटनीतिक था और उसने ऐसे किसी भी सम्भावित अवसर को नहीं छोड़ा, जिसके द्वारा वह गुजरात की प्रतिष्ठा पर आघात कर सकता था।

राजपूताना के साथ संबंध

जिस अन्य शक्ति के साथ गुजरात लगातार संघर्षरत रहा, वह राजपूताना था। जिस प्रथम राजपूत राज्य को गुजरात का भाग बनाया गया वह इदर था। अहमद शाह ने शीघ्र ही डूँगरपुर (1433) पर अधिकार कर लिया। बाद में कुतबुद्दीन (1451-1459) और महमूद बेगड़ा (1459-1511) को मेवाड़ के शासक राणा कुम्भा का सामना करना पड़ा। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं कि राणा कुम्भा ने सिरोही, आबू तथा नागौर पर अधिकार कर लिया। नागौर पर अहमद शाह के चाचा फिरोज़ शाह का शासन था। राणा की इस कार्यवाही के फलस्वरूप राणा कुम्भा को गुजरात, सिरोही तथा नागौर के संयुक्त आक्रमण का मुकाबला करना पड़ा। इस युद्ध का अंतिम परिणाम यह हुआ कि राणा को भारी हर्जाना देकर शांति संधि करनी पड़ी। लेकिन कुम्भलगढ़ पर दो बार अधिकार होने के बावजूद राणा कुम्भा अपनी राजधानी को अपने पास कायम रखने में सफल रहा।

चम्पानेर के राजपूत राज्य का भी गुजरात के साथ संघर्ष होता रहता था। लेकिन 1483-1484 में महमूद बेगड़ा ने अंतिम तौर पर इस राज्य को गुजरात राज्य में मिला लिया और इसका नाम मुहम्मदाबाद रख दिया गया तथा यह गुजरात राज्य की दूसरी राजधानी हो गया। महमूद बेगड़ा के समय में अन्य छोटी राजपूत रियासतों जैसे – जूनागढ़, सोरठ, कच्छ तथा द्वारका पर अधिकार कर लिया गया और मुज़फ्फर शाही राज्य की सीमाएँ के काठियावाड़ प्रायद्वीप के दूर-दराज के स्थलों तक पहुंच गईं।

बहमनी तथा खानदेश के साथ संबंध

बहमनी शासक फिरोज़ शाह (1397-1422) के गुजरात शासकों के साथ मधुर संबंध बने रहे। लेकिन उसकी मृत्यु के बाद अहमद बहमनी (1422-1436) के सत्तासीन होने के साथ इस स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन हुआ। उसने खानदेश के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किये। 1429 में बहमनी तथा खानदेश ने झालावाड़ के शासक राय कान्हा को शरण दी। इस कार्य ने गुजरात के शासक अहमद शाह गुजराती को भड़काया और उसको उनके विरुद्ध बल प्रयोग करना पड़ा। उसने उनको पराजित कर दिया और माहिम पर अधिकार कर लिया। लेकिन बेगड़ा के समय में पुनः सौहार्दपूर्ण संबंधों को स्थापित किया गया। जिस समय मालवा के शासक महमूद खलजी ने बहमनी राज्य पर आक्रमण किया, तब महमूद बेगड़ा उसकी सहायता के लिए दो बार आया।

महमूद बेगड़ा ने खानदेश शासकों के साथ भी मित्रतापूर्ण संबंध बनाए रखे, लेकिन आदिल खां द्वितीय ने नज़राना देना बंद कर दिया और अहमदनगर तथा बरार के साथ मिल गया। इसी कारण से महमूद बेगड़ा ने खानदेश पर आक्रमण किया और अंततः आदिल खां को महमूद बेगड़ा की अधीनस्थता को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। लेकिन बेगड़ा ने खानदेश या दौलताबाद पर अधिकार नहीं किया बल्कि उसने यहाँ के शासकों को केवल नज़राना अदा करने के लिए बाध्य किया।

महमूद बेगड़ा के सिंध के शासक **जाम** निज़ामुद्दीन के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध थे। निज़ामुद्दीन उसका नाना था और जब सिंध के कबीलाई समुद्री डाकुओं ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया तब वह निज़ामुद्दीन की सहायता करने के लिए गया।

महमूद बेगड़ा ने भारतीय समुद्र में उदित होती पुर्तगाली शक्ति का भी दमन किया। इस कार्य में उसे मिश्र के शासकों तथा ऑटोमेन शासकों द्वारा भेजे गए उनके सेनापतियों अमीर हुसैन तथा सुलेमान रईस ने सहायता प्रदान की। इनकी संयुक्त सेनाओं ने 1508 में चौल में पहली बार पुर्तगाल के जहाजी बेड़े को पराजित किया। लेकिन 1509 में अलबुकर्क ने इस संयुक्त सेना

को पराजित कर दिया। इसके फलस्वरूप महमूद बेगड़ा ने 1510 में पुर्तगालियों के साथ एक संधि की और उनसे अरब सागर में गुजरात के जहाजों की सुरक्षा का आवश्वासन प्राप्त किया।

1508 में दिल्ली सुल्तान सिकन्दर लोदी ने अपना एक दूत गुजरात भेजा। सिकन्दर लोदी तथा ईरान के इस्माइल सफवी जैसे शासकों के दूतों के गुजरात आने से गुजरात के शासक की प्रतिष्ठा में बहुत वृद्धि हुई। इससे यह स्पष्ट है कि समकालीन राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में महमूद बेगड़ा का महत्वपूर्ण स्थान बन गया था।

3.4.4 सिंध

भारत की पश्चिमी सीमा पर स्थित सिंध एक दूसरा स्वतंत्र राज्य था। सिंध राज्य में मुसलमान शक्ति की स्थापना का इतिहास 712 में उस समय से प्रारंभ होता है जब मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध पर आक्रमण किया। ऐसा प्रतीत होता है कि सुमीरों ने सिंध में अपनी शक्ति की स्थापना किसी समय 10वीं सदी में की थी। उनके शासन के विषय में हमें कोई विशेष जानकारी नहीं है और न ही उनके पड़ोसी राज्यों के साथ संबंध के बारे में। लेकिन यदा-कदा उद्धरणों से स्पष्ट है कि उनका प्रभाव देबल तथा मकरान समुद्र तट तक फैला हुआ था। कच्छ के कुछ क्षेत्रों पर भी उनका प्रभाव था। *तारीख-ए जहाँगुशा* के अनुसार 1224 में ख्वारिज़्म शासक जलालुद्दीन मंगबरनी ने सुभीर राजकुमार चानेसर को पराजित किया तथा देबल व दमरिला पर अधिकार कर लिया। इल्तुतमिश के शासनकाल में उसके *वज़ीर* निज़ाम-उल मुल्क जुनैदी ने 1228 में सिंध पर अधिकार कर लिया तथा इसके शासक चानेसर को इल्तुतमिश के दरबार में भेज दिया गया। बाद में 1350-1351 में मुहम्मद तुगलक ने विद्रोही कुलीन तार्गी का पीछा करते हुए थट्टा पर आक्रमण किया।
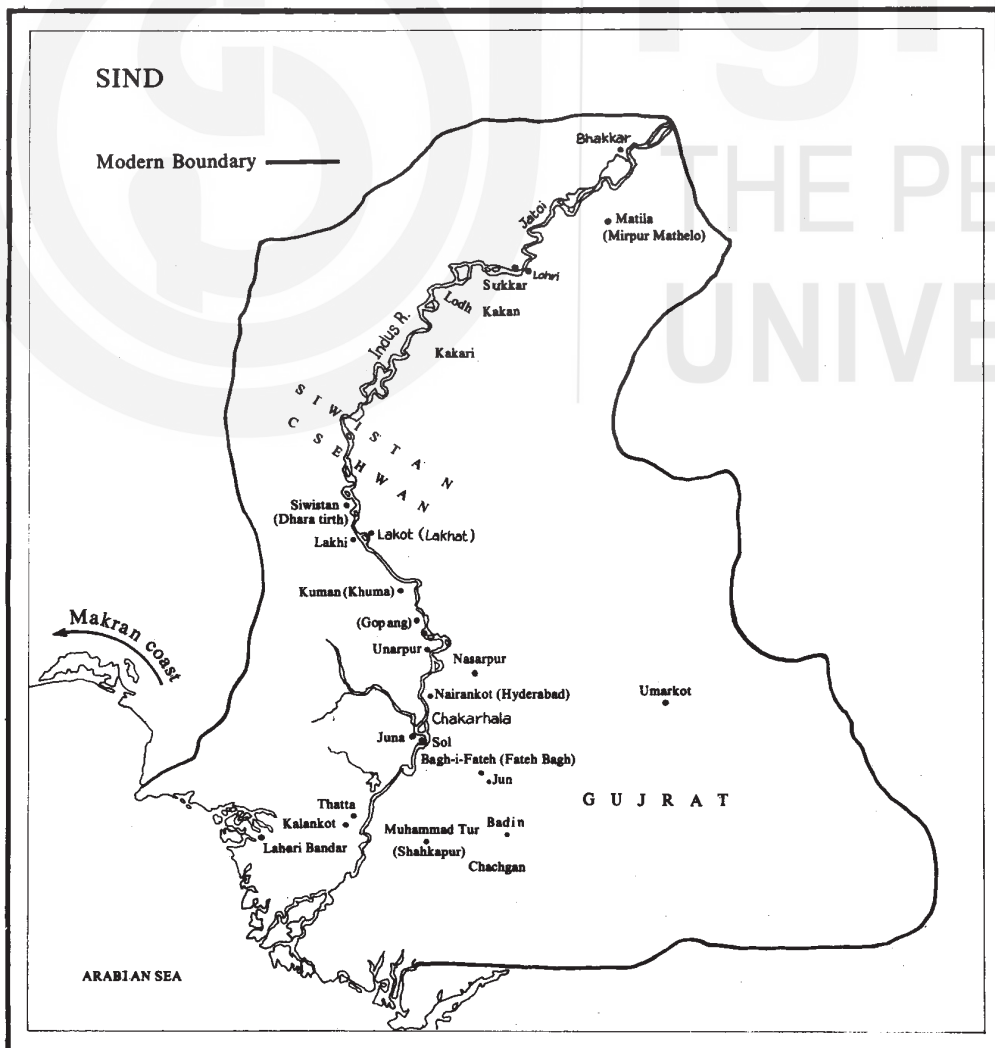
मानचित्र 3.4: सिंध

1351 में सम्माहों ने सुमीरों को हराकर उसका स्थान ग्रहण कर लिया। उन्होंने सिंध में 175 वर्षों तक शासन किया। *चचनामा* में यह उद्धृत है कि सम्माह मुहम्मद बिन कासिम की विजय से पूर्व भी सिंध में निवास करते थे। वे मूल तौर पर राजपूतों की यादव शाखा से संबंधित थे और बाद में उन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया। वे मुख्य तौर पर खेती करते थे और सुमीरों के अधीन उनके भू-क्षेत्र थे। 1360-1361 में तथा पुनः 1362 में फिरोज़ शाह तुगलक ने जाम जौना तथा थट्टा के बनबेनिया पर आक्रमण किये। जाम को आत्मसमर्पण करना पड़ा। लेकिन 1388 में फिरोज़ शाह तुगलक की मृत्यु के तुरंत बाद सम्माहों ने सल्तनत के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और जाम तुगलक के नेतृत्व में स्वतंत्र हो गये। सिंध के जाम शासकों के गुजरात के साथ सौहार्दपूर्ण संबंध थे। जाम निज़ामुद्दीन ने अपनी दो पुत्रियों का विवाह गुजरात के शासक के साथ किया और महमूद बेगड़ा उसकी छोटी पुत्री बीबी मुग़ली का पुत्र था। हम पहले ही देख चुके हैं कि 1472 में महमूद बेगड़ा उस समय जाम निज़ामुद्दीन की सहायता के लिए आया जिस समय समुद्री डाका डालने वाले कबीलों ने विद्रोह करके जाम के प्रभुत्व के लिए खतरा उत्पन्न कर दिया था। सिंध के जाम शासकों में जाम निज़ामुद्दीन (1460-1508) सबसे महान् शासक था और उसके मुल्तान के शासक सुल्तान हुसैन के साथ घनिष्ठ संबंध थे। ईरान के इल खान वंश के **अर्घुन** शासकों ने जाम निज़ामुद्दीन के शासन के अंतिम वर्षों (1493) में जाम शक्ति के लिए खतरा उत्पन्न किया। लेकिन जब तक जाम निज़ामुद्दीन जीवित रहा, तब तक अर्घुनों के आक्रमण सफल न हो सके। लेकिन 1508 में उसकी मृत्यु के बाद अर्घुनों ने 16वीं सदी के दौरान अपना राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली। अंततः 1590 में अकबर द्वारा सिंध को विजित कर अपने साम्राज्य में मिला लिया गया।

बोध प्रश्न-6

1) मालवा के शासकों के साथ गुजरात राज्य के संबंधों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

2) सम्माह कौन थे?

....

....

....

....

3.5 क्षेत्रीय राज्य और वैद्यता का प्रश्न

इस भाग में हम क्षेत्रीय राज्यों की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे।

3.5.1 क्षेत्रीय राज्यों की विशेषताएँ

आमतौर पर यह धारणा बनी हुई है कि सल्तनत काल में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच जो 'बैर-भाव' था, वह 13वीं-15वीं शताब्दी के दौरान और बढ़ा और उनके आपसी झगड़ों तथा संघर्षों में वृद्धि हुई। पर जैसा कि श्वाट्ज़बर्ग ने इस बात का खंडन करते हुए सही कहा है कि इस काल में हिंदू और मुसलमानों के बीच संघर्ष की अपेक्षा मुसलमानों और मुसलमान राजाओं तथा हिंदू और हिंदू राजाओं के बीच प्रायः अधिक गहरे संघर्ष हुए। उदाहरण के लिए, मालवा और जौनपुर के मुसलमान शासक गुजरात के परम्परागत दुश्मन थे; कमाटा और अहोम के राजाओं के बीच आए दिन युद्ध हुआ करते थे; उड़ीसा के शासकों को हमेशा विजयनगर के शासकों का आक्रमण सहना पड़ा और राजपूताना के विभिन्न राजवंश आपस में लड़ा करते थे। उन्होंने अपार संकट की स्थिति में भी एकता की भावना प्रदर्शित नहीं की। वस्तुतः राजनीतिक संधियों में धर्म की अपेक्षा समय और परिस्थिति की अधिक भूमिका रही। 1450-1451 में महमूद शाह गुजराती के खिलाफ मालवा के महमूद खलजी प्रथम ने चम्पानेर के राजा गंगा दास की सहायता की

थी। बाद में, मेवाड़ के राणा कुंभा की शक्ति को देखते हुए महमूद खलजी ने राणा के खिलाफ गुजराती शासक कुतबुद्दीन की सहायता की।

13वीं-15वीं शताब्दी की राजनीतिक व्यवस्था की एक खास विशेषता यह थी कि इस काल की राजनीतिक व्यवस्था का फैलाव "उर्ध्व" था, न कि "क्षैतिज"। अर्थात् इन क्षेत्रीय राज्यों का भू-क्षेत्र 'क्षैतिज' दृष्टि से सल्तनत के मुकाबले काफी कम था, पर यहाँ राजनीतिक व्यवस्था 'उर्ध्व' रूप में ग्रामीण इलाकों तक गहराई से जमी हुई थी।

क्षेत्रीय शासकों के अधीनस्थ भू-क्षेत्र के अधिकांश हिस्सों में उनकी पकड़ कमजोर थी; यहाँ तक कि जहाँ उनका लगभग पूर्ण नियंत्रण होता था, वहाँ भी उन्हें प्रायः कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। नियंत्रण के आधार पर उनके अधिकार क्षेत्र को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है:

क) जिस क्षेत्र से भू-राजस्व सीधे राजस्व पदाधिकारियों द्वारा वसूल किया जाता था, वहाँ राज्य का प्रभाव और नियंत्रण सबसे ज्यादा होता था।

ख) जिन इलाकों का राजस्व स्थानीय सरदार वसूल करते थे, वहाँ भी राज्य का नियंत्रण पर्याप्त होता था।

ग) जिन क्षेत्रों से केवल नज़राना आता था, वहाँ राज्य का नियंत्रण सबसे कम था। इस व्यवस्था का सीधा प्रभाव क्षेत्रीय शासकों और सामंतों, करदाता सरदार या राजा और स्थानीय कुलीन वर्ग (तथाकथित *ज़मींदार, मुकद्दम* आदि) के बीच के संबंधों पर पड़ा।

3.5.2 सामंत और भूमिपति कुलीन वर्ग

13-15वीं शताब्दी की क्षेत्रीय राजनीतिक व्यवस्था में सामंतों की अहम भूमिका रही। इस सामंत वर्ग में हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल थे। वे *खान-ए आजम, खान-ए मुअज़्ज़म, महापत्राधिपत्र* जैसी पदवियों से विभूषित किए जाते थे। इन सामंतों को उनके वेतन के बदले में "इक्ता" (वेतन के बदले राजस्व का एक हिस्सा) दिया जाता था; इसके बदले में वे उस इलाके की कानून व्यवस्था संभालते थे, राजस्व वसूल करते थे और समय आने पर राजा को सैनिक भी मुहैया करवाते थे। सैद्धांतिक तौर पर यह पद वंशानुगत नहीं होता था और यह पद राजा अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी सरदार को दे सकता था; पर धीरे-धीरे यह पद वंशानुगत होता गया। केवल राजपूताना इसका अपवाद था, जहाँ यह पद ज्यादातर कुल के सदस्यों को ही दिया जाता था; राजा की कृपा का महत्व गौण था। आप पहले देख चुके हैं कि इन सामंतों में विद्रोह की प्रवृत्ति थी और उत्तराधिकार के युद्ध में ये आमतौर पर कभी किसी एक दल तो कभी दूसरे दल के साथ हो जाया करते थे। उनके पास सैन्य शक्ति थी, अतः राजा को उन पर आश्रित रहना पड़ता था। कुछ सरदार इतने शक्तिशाली होते थे कि वे उत्तराधिकारियों को गद्दी दिलाने में प्रमुख भूमिका निभाते थे और राजा उनके हाथों का खिलौना बन जाते थे (विस्तृत जानकारी के लिए ऊपर वर्णित विवरण देखें)।

भूमिधर कुलीन वर्ग

क्षेत्रीय राज्यों में राजस्व वसूली और कानून और व्यवस्था बनाए रखने में भूमिधर कुलीन वर्ग ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भौगोलिक और राजनीतिक आधार पर उन्हें दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है:

क) सीमांत क्षेत्र में रहने वाला भूमिधर कुलीन वर्ग। इस कोटि में 'सरदार' और 'राजा' आते हैं: तथाकथित बिचौलिए *जमींदार*।

ख) मुख्य भू-क्षेत्र में रहने वाला भूमिधर वर्गः तथाकथित प्राथमिक *ज़मींदार*।

पहली कोटि में दुराग्रही और हठी तत्वों का बोलबाला था। वे कभी किसी एक राजा का पक्ष लेते थे, तो कभी किसी दूसरे राजा का; वे अपनी निष्ठा बदलते रहते थे।

मुख्य भू-क्षेत्र में रहने वाले भूमिधर कुलीन वर्ग पर दबाव अपेक्षाकृत अधिक रहता था और उसकी गतिविधियों पर कड़ी निगरानी भी रखी जाती थी। क्षेत्रीय राज्यों की एक चरित्रगत विशेषता यह है कि यहाँ के अधिकांश शासक अप्रवासी थे; उनका कोई स्थानीय आधार नहीं था। उनका प्रमुख उद्देश्य एक ऐसे निष्ठावान ग्रामीण कुलीन वर्ग का निर्माण करना था जिसकी सहायता से पुराने

कुलीन वर्ग की शक्ति को संतुलित किया जा सके। क्षेत्रीय शक्तियों का यही प्रमुख उद्देश्य होता था और इसी में उनकी सफलता निहित होती थी। मुसलमानों के आक्रमण और राजपूत रजवाड़ों के आपसी युद्ध के कारण राजपूत काफी संख्या में मालवा और गुजरात की ओर स्थानांतरित हो गए। हम देखते हैं कि तेरहवीं शताब्दी तक इस क्षेत्र के अधिकतर भूपति राजपूत थे। अतः इस प्रक्रिया में मालवा और गुजरात के राजाओं को कड़े विरोध का सामना करना पड़ा। गुजरात में सुल्तान अहमद शाह प्रथम ने *वंठ* व्यवस्था लागू कर इस क्षेत्र में मूलभूत परिवर्तन किए।

बंगाल में, बख्तियार खलजी ने विजय के पश्चात् सारी जमीन अपने सेनापतियों में वितरित कर दी और उन्हें '*मुक्ती*' बना दिया। ग्रामीण इलाकों में मुसलमानों के प्रभाव को असरदार बनाने के लिए सूफियों और *उलेमा* को गांवों में बसाने के प्रयत्न किए गए और *मदद-ए माश* के रूप में भूमि अनुदान दिए गए।

3.5.3 उत्तराधिकारी राज्यों के रूप में उत्तर भारतीय राज्य

क्षेत्रीय राज्यों को आमतौर पर सल्तनत के 'उत्तराधिकारी' राज्य के रूप में देखा जाता है। इसके पक्ष में एक तर्क दिया जाता है कि क्षेत्रीय राज्यों के संस्थापक किसी न किसी रूप में सल्तनत के मातहत कर्मचारी रह चुके थे; चाहे उन्होंने गवर्नर के रूप में सल्तनत की सेवा की हो या किसी अन्य पद पर कार्य किया हो। कुछ मामलों में यह बात सही है, पर सभी जगह यह बात लागू नहीं होती। मसलन, गुजरात, मालवा और जौनपुर के संस्थापक क्रमशः ज़फर खां, दिलावर खां और मलिक सरवर तुगलक सल्तनत में गवर्नर के रूप में कार्य कर चुके थे। इसके अतिरिक्त, बंगाल के शासक का सल्तनत से सीधा और निरंतर संबंध बना रहा। लेकिन, राजपूत राज्य इस दृष्टि से अपवाद थे। हालांकि, उन्हें हमेशा सल्तनत का आक्रमण झेलना पड़ा पर उन्होंने कभी भी उसका पूर्ण आधिपत्य स्वीकार नहीं किया। उन्हें जब भी मौका मिला उन्होंने सल्तनत की अधीनता के जुए को उतार फेंका और अपने वंशीय राज्य की स्थापना की। सिंध के मामले में भी बिल्कुल ऐसा ही हुआ। सल्तनत के दबाव में आकर सिंध के शासकों ने इल्तुतमिश, मुहम्मद तुगलक और फिरोज़ तुगलक का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया, परन्तु व्यावहारिक तौर पर सुमिराहों और सम्माहों ने स्वतंत्र रूप में शासन किया। असम (कमाटा और अहोम), कश्मीर और ओडिशा राज्यों का उदय भी सल्तनत से बिल्कुल स्वतंत्र रूप में हुआ।

कुछ क्षेत्रीय शक्तियों का उदय सल्तनत के खंडहर पर हुआ था, अतः यह माना जाने लगा कि इसकी राजनीतिक संरचना भी सल्तनत के ही ढांचे पर निर्मित थी।

3.5.4 उत्तराधिकार का प्रश्न

इस्लाम में उत्तराधिकार संबंधी कोई निश्चित नियम नहीं है। परिणामस्वरूप, दिल्ली सल्तनत में इसके लिए चुनाव, मनोनयन और वंशानुगत राज्यारोहण तीनों प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती रहीं। वस्तुतः जिसके पास शक्ति होती थी, वह गद्दी का हकदार बन जाता था। अतः इस मामले में उलट-फेर करने की पूरी गुंजाइश थी।

सल्तनत के समान क्षेत्रीय हिंदू या मुस्लिम राज्यों में भी उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नहीं था। अतः षड्यंत्र और गुप्त संधियों का बड़ा जोर रहता था और इसमें कभी-कभी महिलाएं भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती थीं। मालवा में ज्येष्ठाधिकार की अपेक्षा मनोनयन का सिद्धांत प्रभावी हुआ। जौनपुर में 'शक्ति' का बोलबाला रहा। 1458 में हुसैन शाह शर्की ने अपने बड़े भाई मुहम्मद शाह शर्की को मारकर गद्दी हासिल कर ली। इसी प्रकार, गुजरात में अपने राज्यारोहण के पूर्व अहमद शाह को अपने चाचा मौदूद सुल्तान (फिरोज़ खां) की चुनौती का सामना करना पड़ा था। बंगाल में इस मामले में सरदारों की भूमिका प्रमुख रही और शासकों को राज्याधिकार प्राप्त करवाने में वे सक्रिय रहे। शमसुद्दीन अहमद शाह की हत्या उसके गुलामों, शादी खां और नासिर खां (1435), द्वारा कर दी गई। इसके जबाव में विरोधियों ने उनकी हत्या कर दी (1442)। 1487 तक अबीसीनियाई (हब्शी) सरदारों की शक्ति अपने शिखर पर पहुंच गई। इस समय अबीसीनियाई सरदार मलिक अंदिल ने जलालुद्दीन फतह शाह की हत्या कर गद्दी हथिया ली।

राजपूताना में भी ज्येष्ठाधिकार का शत-प्रतिशत पालन नहीं किया जाता था। इस संदर्भ में गुहिलों और सिसोदियों के मामले को लिया जा सकता है। राणा लाखा की मृत्यु के बाद चुंडा

(राणा का ज्येष्ठ पुत्र) को गद्दी प्राप्त नहीं हुई, बल्कि उसके अल्पवयस्क पुत्र राणा मोकल को शासक बनाया गया। इसी प्रकार, उदय ने अपने पिता राणा कुंभा को मारकर गद्दी हासिल की। रायमल भी आसानी से राजा न बन सका। उसे उदा के पुत्रों सहसमल और सूरजमल की चुनौतियों का सामना करना पड़ा।

कश्मीर में भी उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम न बनाया जा सका। 1323 में अपने मालिक की मृत्यु के बाद शाह मीर ने गद्दी हथिया ली। उसके ज्येष्ठ पुत्र जमशेद के राज्यारोहण (1342) के लिए भी लंबा उत्तराधिकार युद्ध चला। ज़ैन-उल आबिदीन ने खुद 1420 में अपने बड़े भाई अली शाह को मारकर सत्ता हासिल की।

असम में, अहोम राजाओं की नियुक्ति में प्रभावशाली सामंतों की परिषद – *बर गोहिन* और *बुराह गोहिन* की प्रमुख भूमिका होती थी। वस्तुतः इन परिषदों की अनुशंसा के बगैर कोई राजा गद्दी पर नहीं बैठ सकता था। केवल ओडिशा राज्य में गंगा शासकों के शासनकाल में उत्तराधिकार के नियम का सम्मान किया गया। पर, कालांतर में, जब सत्ता का हस्तांतरण गजपति शासकों के हाथों में हुआ, तब इस नीति की कुछ अवमानना हुई। हम पाते हैं कि कपिलेंद्र की मृत्यु के बाद उसके छोटे पुत्र पुरुषोतम ने अपने बड़े भाई हमीर के अधिकार पर कब्जा जमा लिया।

3.5.5 वैधता का प्रश्न

राजा सर्वोच्च शक्ति था और वह सभी मामलों में अंतिम निर्णायक था। पर इस्लाम में सुल्तान की सत्ता को कोई वैधता प्राप्त नहीं थी और खलीफा मुसलमानों का राजनीतिक प्रधान होता था। दिल्ली के सुल्तान अपनी सत्ता को 'वैध' बनाने के लिए खलीफा के नाम का *खुतबा* पढ़ा करते थे और सिक्के में उनका नाम खुदवाया करते थे। क्षेत्रीय राज्यों के लिए भी अपने आपको वैध करार करना जरूरी था। यह केवल जनता पर हक जमाने के लिए ही जरूरी नहीं था, बल्कि प्रतिद्वंद्वियों को शांत करने के लिए भी यह जरूरी था। कोई भी राज्यारोहण बिना संघर्ष या युद्ध के सम्पन्न नहीं होता था, अतः विजयी उत्तराधिकारी को अपनी वैधता साबित करनी होती थी। कुछ क्षेत्रीय राज्य इतनी दूर स्थित थे, जिनके लिए बगदाद से खलीफा की मंजूरी मंगाना मुश्किल और अव्यावहारिक था। इस स्थिति में यह कार्य *उलमा* और सूफी सम्पन्न किया करते थे।

कट्टर मुसलमानों को अपने पक्ष में करने के लिए मालवा, गुजरात, बंगाल और जौनपुर के शासकों ने हमेशा *उलमा* और सूफियों का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश की और इसके बदले में उन्हें अच्छे पद और राजस्व मुक्त भू-अनुदान (*मदद-ए माश*) प्रदान किए गये। वे अक्सर मुस्लिम संतों की *खानकाहों* में दर्शन के लिए जाया करते थे। इवाज़ खलजी, मुग़ीसुद्दीन, रुक्नुद्दीन कैकॉस, शमसुद्दीन फिरोज़ आदि बंगाल के शासकों ने खलीफा से वैधता की मंजूरी हासिल की और सभी ने अब्बासिद खलीफा का नाम सिक्कों पर खुदवाया। इब्राहिम शर्की के संरक्षण में अनेक प्रमुख मुस्लिम संतों मखदमू असदउद्दीन आफताब-ए हिंद, मखदमू सद्रउद्दीन चिराग-ए हिंद, पांडुआ के सैय्यद अलाउल हक, आदि ने ख्याति पाई। मालवा शासक होशंग शाह ने *उलमा* और सूफियों को मालवा में बसाने के हर प्रयत्न को प्रोत्साहित किया। होशंग शाह के मन में मखदमू काज़ी बुरहानुद्दीन के प्रति अपार श्रद्धा थी और वह उसका शिष्य (*मुरीद*) भी बन गया था। महमूद खलजी ने मिस्र के अब्बासिद खलीफा से *खिल्लत* प्राप्त की थी। इससे मालवा के शासक की प्रतिष्ठा बढ़ी। गुजराती शासक महमूद बेगड़ा, बुरहानुद्दीन के *मुरीद* प्रसिद्ध सूफी सैय्यद उस्मान का बड़ा सम्मान किया करता था। 1459 में उसकी मृत्यु के तुरंत बाद महमूद बेगड़ा ने अहमदाबाद में उसकी याद में एक मस्जिद और ***रौज़ा*** (मकबरा) बनवाया। बुरहानुद्दीन के पुत्र शाह आलम को भी गुजराती शासकों कुतबुद्दीन और महमूद बेगड़ा से सम्मान और संरक्षण प्राप्त हुआ। कश्मीर के राजा भी सूफियों का सम्मान किया करते थे। राजपूताना में, राजाओं ने अपने राजनीतिक कार्यों को वैध करार देने के लिए ब्राह्मणों को अपने पक्ष में मिलाकर रखा और इसके बदले में ब्राह्मणों को मुक्तहस्त से राजस्व मुक्त भू-अनुदान दिए।

ओडिशा में भगवान जगन्नाथ को वास्तविक राजा माना जाता था। इस कारण से ब्राह्मणों का राजनीतिक प्रभाव तेजी से बढ़ा। उन्होंने कपिलेंद्र द्वारा गंगा शासक को हटाए जाने को वैध घोषित किया (1435) और हमीर की जगह पुरुषोतम देव को गद्दी दिए जाने का समर्थन किया।

बोध प्रश्न-7

1) क्षेत्रीय राज्यों के 'क्षैतिज' और 'ऊर्ध्व' फैलाव से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

2) क्या क्षेत्रीय राज्यों को सही अर्थों में सल्तनत का उत्तराधिकारी राज्य कह सकते हैं? टिप्पणी कीजिए।

....

....

....

....

3.6 सारांश

इस इकाई में आपने मालवा, जौनपुर तथा बंगाल के स्वतन्त्र राज्यों के उदय का अध्ययन किया है। इन राज्यों का उदय दिल्ली सल्तनत के कमज़ोर हो जाने के परिणामस्वरूप हुआ था। हमने प्रत्येक राज्य के क्षेत्रीय प्रसार तथा दिल्ली सल्तनत तथा पड़ोसी राज्यों के साथ इन राज्यों के संबंधों का भी विवेचन किया है। इन राज्यों के अतिरिक्त हमने असम एवं ओडिशा के राज्यों का भी उल्लेख किया है। इन दोनों राज्यों का विकास दिल्ली सल्तनत से स्वतंत्र तौर पर हुआ। असम में कमाटा-कामरूप तथा अहोम नाम के दो राज्य विद्यमान थे। अहोम राज्य अभी भी राज्य निर्माण की प्रक्रिया में था और यह मुख्यतः कबीलाई संगठन पर आधारित था।

हमने 13वीं सदी से 15वीं तक उत्तर-पश्चिम भारत में क्षेत्रीय राज्यों के उदय के विषय में भी वर्णन किया। हम देख चुके हैं कि कश्मीर का सल्तनत से बाहर एक स्वतंत्र राज्य के रूप में उदय हुआ। बहलोल लोदी के शासनकाल को छोड़कर 13वीं सदी से 15वीं सदी तक कश्मीर के संबंध सल्तनत के साथ सौहार्दपूर्ण बने रहे। राजपूताना में कुल-वंश संगठन पर आधारित गुहिल, सिसोदिया एवं राठौड़ जैसे महत्वपूर्ण राज्यों का उदय हुआ। सल्तनत के पतन के परिणामस्वरूप, गुजरात एक स्वतंत्र राज्य बन गया। 15वीं सदी के प्रारंभ में इसने एक स्वतंत्र राज्य का दर्जा प्राप्त कर लिया था। गुजरात अपने पड़ोसी राज्यों – मालवा, राजपूताना तथा बहमनी – के साथ लगातार संघर्षरत रहा। इसी दौरान सुदूर पश्चिम स्थित सिंध राज्य ने सुमीरों तथा सम्माहों के अधीन सल्तनत के दासत्व को उतार फेंकने का भरसक प्रयास किया। अपने इस उद्देश्य को वह फिरोज़ शाह तुगलक की मृत्यु के बाद ही प्राप्त कर सका। आपने उत्तर भारत के क्षेत्रीय राज्यों की चरित्रगत विशेषताओं का भी अध्ययन किया। उनका प्रभाव 'उर्ध्व' रूप में ग्रामीण क्षेत्रों में गहराई से समाया हुआ था, पर 'क्षैतिज' रूप में उनका प्रसार कम था अतः उनके राज्य-क्षेत्र का फैलाव सल्तनत की अपेक्षा कम था। क्षेत्रीय राज्य सल्तनत के 'उत्तराधिकारी राज्यों' का प्रतिनिधित्व करते हैं। पर यह सर्वथा सत्य नहीं है।

3.7 शब्दावली

अर्घुन — ईरान के इल खां शासक के वंशज

भोग — भू-राजस्व; देवता को दी जाने वाली भेंट

गद्दी — सिंहासन

गोत — चार वयस्क पुरुषों की इकाई

जाम — यह एक उपाधि थी जिसको सिंध के सम्माह शासकों ने धारण किया

हाकिम	प्रांतीय गवर्नर
पायक	अहोम सैनिक/घर-परिवार के सदस्य
पात्र-मंत्री	*बर* और *बुराह गोहिन* की परिषद्
रौज़ा	मकबरा

3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें उप-भाग 3.3.1

2) देखें उप.भाग 3.3.2

3) i) ✓ ii) × iii) ✓ iv) ✓

बोध प्रश्न-2

1) देखें उप-भाग 3.3.3

2) देखें उप-भाग 3.3.3

3) क) 1205 ख) 1281 ग) 1342 घ) 1460-74 ड.) 1357-1389

बोध प्रश्न-3

1) देखें उप-भाग 3.3.4

2) देखें उप-भाग 3.3.4

3) देखें उप-भाग 3.3.5

4) क) राय संध्या ख) *बुरंजी* ग) नीलध्वज घ) माओ-शान, ताय-अहोम की उप-जनजाति ड.) बहमनी शासक मुहम्मद शाह तृतीय

बोध प्रश्न-4

1) देखें उप-भाग 3.4.1

2) देखें उप-भाग 3.4.1

बोध प्रश्न-5

1) देखें उप-भाग 3.4.2

2) देखें उप-भाग 3.4.2

3) देखें उप-भाग 3.4.2

बोध प्रश्न-6

1) देखें उप-भाग 3.4.3

2) देखें उप-भाग 3.4.3

बोध प्रश्न-7

1) देखें उप-भाग 3.5.1

2) देखें उप-भाग 3.5.3

3.9 संदर्भ ग्रन्थ

डे, यू. एन, (1965) *मिडिवल मालवाः ए पॉलीटिकल एंड कल्चरल हिस्ट्री, 1401-1562* (दिल्लीः मुंशीराम मनोहरलाल).

हबीब, मोहम्मद एवं के. ए. निज़ामी, (1982) *कॉम्प्रीहेंसिव हिस्ट्री ऑफ इंडिया,* भाग-V (नई दिल्लीः पीपल्स पब्लिशिंग हाउस), पुनः मुद्रित.

हसन, मोहिबुल, (2005) *कश्मीर अंडर द सुल्तान्स* (नई दिल्लीः आकार बुक्स), पुनः मुद्रित.

हुसैन, सैयद एजाज़, (2003) *द बंगाल सल्तनतः पॉलिटिक्स, इकॉनॉमी एंड कॉइन्स (ए डी 1205-1576)* (नई दिल्लीः मनोहर).

सईद, मियां मुहम्मद, (1972) *द शर्की सल्तनत ऑफ जौनपुरः ए पॉलिटिकल एंड कल्चरल हिस्ट्री* (कराचीः यूनिवर्सिटी ऑफ कराची).

यज़दानी, जी., (1929) *मांडूः द सिटी ऑफ जॉय* (ऑक्सफोर्डः जे. जॉनसन द्वारा धार राज्य के लिए यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा मुद्रित).

3.10 शैक्षणिक वीडियो

द मिडिवल मैट्रोपोलिस ऑफ मालवा

https://www.youtube.com/watch?v=XgZKR4KMUOk

पांडुआः द लॉस्ट कैपिटल ऑफ द सल्तनत ऑफ बंगाल

https://www.youtube.com/watch?v=IHmOAj0nypI

इकाई 4 विजयनगर साम्राज्य और दक्खन राज्य*

इकाई की रूपरेखा

*** डॉ. संगीता पांडे और प्रो. आभा सिंह, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।**

यह इकाई हमारे पाठ्यक्रम ई एच आई-03ः *भारतः 8वीं सदी से 15वीं सदी तक,* खंड 7, इकाई 27 और 28, और ई एच आई-04ः *भारतः 16वीं सदी से 18वीं सदी के मध्य तक,* खंड 1, इकाई 3 से ली गई है।

4.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आपः

- दक्षिण एवं दक्षिण भारत की राज्यव्यवस्था एवं अर्थव्यवस्था पर भौगोलिक विन्यास के पड़ने वाले प्रभाव को समझ सकेंगे,
- विजयनगर साम्राज्य का उद्‌भव जान सकेंगे,
- 14वीं-16वीं सदी के मध्य विजयनगर की शक्ति प्रसार के बारे में जान सकेंगे,
- बहमनी शासकों और सुदूर दक्षिण के साथ विजयनगर के संबंधों का विश्लेषण कर सकेंगे,
- साम्राज्य के सुदृढ़ीकरण और उसके पतन की प्रक्रिया को जान सकेंगे,
- *नायनकार* और *आयगार* व्यवस्था के विशेष संदर्भ में प्रशासनिक व्यवस्था का विश्लेषण कर पाएंगे,
- दक्खन एवं दक्षिण भारत की राजनीतिक व्यवस्थाओं और उसकी प्रकृति की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- दक्षिण में नायक राज्यों के उदय को समझ सकेंगे,
- बहमनी राज्य का उद्‌भव समझ सकेंगे,
- पुराने *दक्खनी* कुलीन वर्ग और नवीन कुलीन वर्ग (*अफाकी*) के मध्य संघर्ष और कैसे इसने अंत में बहमनी सल्तनत के पतन के मार्ग को प्रशस्त किया यह जान सकेंगे, और
- बहमनी राज्य के प्रशासनिक ढांचे की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम दक्षिण भारत के वृहत्तर भू-भाग में विजयनगर साम्राज्य के आविर्भाव, विस्तार और सुदृढ़ीकरण के साथ-साथ उसके विघटन का अध्ययन करेंगे। दिल्ली के सुल्तानों द्वारा दक्खन एवं दक्षिण भारत पर आक्रमण से चार राज्यों (दक्षिण में पांड्य और होयसल, जबकि उत्तर में काकतीय और यादव राज्यों) की शक्ति क्षीण हुई और वे दिल्ली सल्तनत के अधीन हो गए। इसके बाद 14वीं शताब्दी के दूसरे चतुर्थांश में बहमनी और विजयनगर राज्यों का आविर्भाव एवं प्रसार हुआ।

हरिहर और बुक्का (अंतिम यादव राजा संगमा के पुत्र) वारंगल के काकतीयों के अधीन सेवारत थे। दिल्ली सुल्तानों के हाथों वारंगल की पराजय के बाद वे काम्पिली चले गए। सल्तनत द्वारा काम्पिली को अपने अधीन करने के बाद दोनों भाइयों को दिल्ली ले जाया गया, जहाँ वे इस्लाम स्वीकार कर सुल्तान के कृपापात्र बने। शीघ्र ही होयसलों ने स्थानीय लोगों की मदद से काम्पिली पर आक्रमण किया और दिल्ली के गवर्नर को पराजित कर दिया। इस संकट के समय में सुल्तान ने हरिहर और बक्का को इस क्षेत्र के शासन हेतु भेजा। उन्होंने सुल्तान की शक्ति की पुनः स्थापना प्रारंभ की, किन्तु विद्यारण्य के संपर्क में आ पुनः हिदू धर्म ग्रहण किया। उन्होने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर 1336 में विजयनगर राज्य की स्थापना की, जिसका राजा हरिहर बना। शीघ्र ही यह राज्य एक शक्तिशाली विजयनगर साम्राज्य के रूप में विकसित हुआ।

इस इकाई में हम दक्खन में तुगलक शासन के अंत और इसके स्थान पर बहमनी सल्तनत के सत्तारूढ़ होने का आकलन करेंगे। इसमें बहमनी साम्राज्य के सदृढ़ीकरण और प्रशासनिक व्यवस्था का ब्यौरा भी दिया जाएगा। यह इकाई दो बड़े साम्राज्यों – बहमनी और विजयनगर – के पतन के बाद जो कुछ घटा उसके बीच संपर्क सूत्र उपलब्ध कराती है। यह इकाई इस क्षेत्र में मुगलों के प्रवेश के साथ उभर कर सामने आने वाले घटनाक्रमों के लिए भी एक पृष्ठभूमि प्रदान करती है। हम अब इस क्षेत्र के भौगोलिक विन्यास से चर्चा आरंभ करते हैं।

4.2 दक्षिण भारत का भौगोलिक विन्यास

राजनैतिक-आर्थिक विकास में भौगोलिक व्यवस्था एक अत्यंत निर्णायक भूमिका निभाती है। दक्षिण भारत तथा दक्खन के कुछ मूल भौगोलिक लक्षणों ने इस क्षेत्र के विकासक्रम को प्रभावित किया। मोटे तौर पर नर्मदा नदी के दक्षिण में स्थित समस्त क्षेत्र दक्षिण भारत कहलाता है। हालांकि, तकनीकी तौर पर यदि कहा जाए तो यह क्षेत्र दो बड़े इलाकों से मिलकर बना है, दक्खन तथा दक्षिण भारत।

दक्खन

दक्खन उत्तर तथा उत्तर-पूर्व में नर्मदा एवं महानदी नामक नदियों से घिरा हुआ है, जबकि नीलगिरी की पहाड़ियाँ और पेन्नार नदी इसकी दक्षिणी सीमा निर्धारित करती हैं। पश्चिम तथा पूर्व में, दोनों तरफ लंबे समुद्री तट सहित पश्चिमी एवं पूर्वी घाट मौजूद हैं। विशाल पश्चिमी समुद्री तट तथा सहयाद्रि पहाड़ियों के बीच का क्षेत्र कोंकण कहलाता है, जो कि दक्खन का एक उप-क्षेत्र है। समूची पट्टी घने जंगलों से भरी हुई है और भूमि पर्याप्त रूप से उपजाऊ नहीं है। सामरिक दृष्टि से इस क्षेत्र का भारी महत्व है। इसलिए यहाँ पर अनेक मजबूत दुर्गों का निर्माण किया गया था। चौल तथा दाभोल के मशहूर बंदरगाह भी इसी क्षेत्र में पड़ते हैं। यहाँ पहुंचना कठिन होने की वजह से स्थानीय सरदारों (*देशमुखों*) की निष्ठाएँ अक्सर बदलती रहीं और कई बार वह केंद्रीय सत्ता की भी अवहेलना करते रहे। आप यह पाएंगे कि मराठों के उदय में भी निर्णायक भूमिका भौगोलिक स्थिति ने ही निभाई थी। इसके पहाड़ी एवं जंगली क्षेत्रों के कारण दक्खन राज्यों में घुसपैठ करना कठिन था। किंतु दक्षिण गुजरात की तरफ से उपजाऊ बगलाना क्षेत्र से होकर यहां आसानी से पहुंचा जा सकता था। इसी वजह से गुजराती शासकों द्वारा बार-बार इस क्षेत्र पर धावे बोले गए। अंततः 16वीं शताब्दी में पुर्तगालियों ने इस क्षेत्र के संतुलन को बदल दिया।

मामूली भिन्नताओं के साथ गोवा बहमनी तथा विजयनगर राज्यों के बीच की सीमाएँ निर्धारित करता था। मध्य दक्खन (अजंता पर्वत श्रेणियों से नीलगिरी पहाड़ियों तथा पालाघाट दर्रे तक) में काली मिट्टी मौजूद है जो कि कपास की खेती के लिए उत्कृष्ट है। ताप्ती, वर्धा तथा पेनगंगा नदियों के किनारे स्थित महाराष्ट्र के खानदेश तथा बरार क्षेत्र उपजाऊ भूमि के लिए मशहूर थे। इस कारण खेरला तथा माहुर पर कब्जा करने के लिए मालवा तथा बहमनी शासकों के बीच निरंतर झड़पें हुईं। कृष्णा एवं गोदावरी के बीच समतल मैदानी क्षेत्र स्थित है जो कि 'कपास' की खेती के लिए उपजाऊ भूमि के लिए भी मशहूर है। उसके बाद तेलंगाना क्षेत्र पड़ता है। उसकी भूमि रेतीली है और उसमें नमी को बनाए रखने की क्षमता नहीं है। नदियों में भी पूरे वर्ष पानी नहीं रहता है। इसके परिणामस्वरूप जलाशयों से सिंचाई करना जरूरी हो गया। कृष्णा घाटी के साथ कुरनूल की चट्टानें स्थित हैं जहाँ पर हीरों की मशहूर गोलकुंडा खदानें स्थित थीं। दक्षिणी दक्खन का पठार (जिसका कुछ हिस्सा आधुनिक कर्नाटक राज्य में पड़ता है) भी खनिज स्रोतों (तांबा, सीसा, ज़िंक, लोहा, सोना, मैंगनीज़ इत्यादि) में समृद्ध है।

दक्षिण भारत

कृष्णा-तुंगभद्रा दोआब के दक्षिण में स्थित क्षेत्र दक्षिण भारत का निर्माण करता है। पूर्व में स्थित तटीय क्षेत्र कोरोमंडल कहलाता है जबकि केनरा के दक्षिण में (नेत्रावती नदी से कन्याकुमारी तक) स्थित पश्चिमी क्षेत्र मालाबार के नाम से जाना जाता है, जो कि पूर्व में पश्चिमी घाटों से घिरा हुआ है। चोल शासकों के दौरान गतिविधियों का केंद्र मुख्यतः कावेरी क्षेत्र के आसपास तक सीमित था, जो कि विजयनगर काल के दौरान आगे उत्तर-पूर्व में तुंगभद्रा-कृष्णा दोआब (रायलसीमा क्षेत्र) की तरफ सरक गया, जहाँ विजयनगर की राजधानी स्थिति थी। 13वीं से 16वीं शताब्दियों के बीच की समूची अवधि में यह क्षेत्र संघर्षों का केंद्र बना रहा, पहले विजयनगर एवं बहमनी शासकों के बीच तथा बाद में विजयनगर तथा इसके उत्तराधिकारी नायक राज्यों तथा बीजापुर के शासकों के बीच। कुतुब शाही शासक भी बार-बार इस टकराव में शामिल रहे।

एक अन्य विशेषता, जिसने 16वीं शताब्दी की दक्षिण भारतीय राज्यव्यवस्था, अर्थव्यवस्था तथा समाज पर प्रभाव डाला, वह थी दक्षिण भारत के उत्तरी क्षेत्र से तेलुगु आबादी का प्रवास, जो 15वीं शताब्दी के मध्य में शुरू हुआ और 16वीं शताब्दी में भी जारी रहा। दिलचस्प बात यह है कि लोगों का यह आगमन तटीय एवं डेल्टाकार नमी वाले भू-क्षेत्रों से हुआ था, जो कि काफी

उपजाऊ और अच्छी कृषि व सिंचाई सुविधाओं वाले क्षेत्र थे। इस प्रवास के अनेक कारण संभव हो सकते हैं, जैसे बहमनी दबाव; विजयनगर के शासकों द्वारा अपने राज्य का दक्षिण की तरफ और अधिक विस्तार करने के लिए जानबूझकर किए गए प्रयत्न; सहज प्रक्रिया अर्थात अधिक धनी आबादी वाले क्षेत्रों से पलायन; प्रवासियों (जो सूखी खेती में निपुण थे) के लिए सूखी खेती (जहाँ सिंचाई के लिए कृत्रिम साधनों का प्रयोग किया जाता हो) करने के लिए यहाँ की जमीन अधिक अनुकूल रही हो, इत्यादि। कारण कुछ भी रहा हो, इसका गहरा सामाजिक-आर्थिक प्रभाव पड़ा। जैसा कि आप देखेंगे कि सूखी खेती के विकास ने जलाशयों से होने वाले सिंचाई का मार्ग प्रशस्त किया जो कि 16वीं शताब्दी के दक्षिणी भारत की अर्थव्यवस्था का निर्णायक हिस्सा बन गई। दूसरे यह कि इसकी अपेक्षाकृत कम उत्पादकता के परिणामस्वरूप यहाँ से अतिरिक्त उत्पादन (surplus) कम प्राप्त होता था, जिसने इस क्षेत्र में उन वर्गों की उत्पत्ति में मदद की जिन्हें आधुनिक विद्वान 'पोर्टफोलियो पूंजीपति' कहते हैं।

4.3 विजयनगर साम्राज्य की स्थापना और सुदृढ़ीकरण

दक्षिण भारत के राजनीतिक घटनाक्रम के निर्धारण में भौगोलिक विन्यास की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। स्थानीय शक्तियों के मध्य संघर्ष के मुख्य केंद्र थे कृष्णा-गोदावरी डेल्टा, कावेरी घाटी, तुंगभद्रा दोआब और कोंकण भू-भाग जो अपनी उर्वरता एवं दूर फैले गहरे सागरों तक पहुंच के लिए जाना जाता था। 8वीं से 13वीं शताब्दी के मध्य संघर्ष राष्ट्रकूटों और पल्लवों के मध्य था, जबकि बाद में टकराव विजयनगर और बहमनी राज्यों के बीच था।

बहमनी शासकों ने विजयनगर शासकों को अपनी शक्ति के प्रमुख केंद्र तुंगभद्रा से दूर प्रायद्वीप के पूर्व और पश्चिम की ओर विस्तार करने के लिए विवश किया। शुरू में विजयनगर शासकों को रायचूर और तुंगभद्रा दोआब में बहमनी शक्ति को दबाने में मुश्किल उठानी पड़ी क्योंकि बहमनी शासकों की वारंगल स्थित राजाकोंडा के वेलामाओं के साथ संधि थी। इन परिस्थितियों ने विजयनगर को उत्तर की ओर बढ़ने से रोका एवं उसे दक्षिण में तमिल-क्षेत्र तथा प्रायद्वीप के पूर्व और पश्चिम में विस्तार के लिए विवश किया। किंतु बाद में यह गठबंधन टूट गया जिसका लाभ विजयनगर साम्राज्य को मिला, जिसके परिणामस्वरूप विजयनगर शासक बहमनी राज्य की कीमत पर अपने साम्राज्य का विस्तार कर सकें।

4.3.1 प्रारंभिक कालः 1336–1509

इस काल में विजयनगर, बहमनी, कोंडाविडु (ऊपरी कृष्णा-गोदावरी डेल्टा विस्तार) के रेड्डियों, राजकोंडा (कृष्णा-गोदावरी डेल्टा के निचले विस्तारों) के वेलामाओं, तेलुगु-चोडाओं (कृष्णा-गोदावरी क्षेत्र के मध्य) और ओडिशा के गजपतियों के मध्य कृष्णा-गोदावरी डेल्टा, तुंगभद्रा दोआब और मराठवाड़ा (विशेषतः कोंकण) के नियंत्रण को लेकर संघर्ष होते रहे।

इन निरंतर संघर्षों के कारण विजयनगर की सीमाएं परिवर्तित होती रहीं। 1336-1422 के मध्य मुख्य संघर्ष विजयनगर एवं बहमनी शासकों के मध्य हुए जिसमें तेलुगु-चोडा सरदारों ने बहमनी शासकों का और राजकोंडा के वेलामाओं एवं राजामुंद्री के रेड्डियों ने विजयनगर का साथ दिया। इसके फलस्वरूप विजयनगर का पलड़ा भारी रहा।

1422-1446 के दौरान रायचूर दोआब के अधिग्रहण को लेकर विजयनगर और बहमनी शासकों के मध्य संघर्ष छिड़ा जिसमें विजयनगर की हार हुई। इसने विजयनगर सेना की कमियों को पूरी तरह से उजागर किया। इसने शासकों को मुस्लिम तीरंदाज़ों तथा अच्छी नस्ल वाले घोड़ों को अपनी सेना में शामिल करने तथा उसके पुनर्गठन के लिए विवश किया। मुस्लिम तीरंदाज़ों को राजस्व अनुदान भी दिए गए। इस काल में संपूर्ण कोंडाविडु क्षेत्र का समामेलन विजयनगर साम्राज्य में हुआ।

1465-1509 के मध्य एक बार फिर रायचूर दोआब संघर्षों का केंद्र बना। प्रारंभ में विजयनगर को अपने पश्चिमी बंदरगाहों, यथाः गोवा, चौल और दाभोल बहमनी शासकों को समर्पित करने पड़े। परंतु, 1490 के आसपास यूसुफ आदिल खां के नेतृत्व में बीजापुर की स्थापना के बाद बहमनी राज्य में आंतरिक विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए विजयनगर ने तुंगभद्रा क्षेत्र (अदोनी एवं कुरनूल) पर कब्जा करने में सफलता पाई। इससे पहले पश्चिमी बंदरगाहों के हाथ से निकल जाने से अरबों के साथ अश्व-व्यापार अव्यवस्थित हो चुका था, जो विजयनगर की घुड़सवार सेना के लिए

महत्वपूर्ण था। तथापि, होनावर, भतकल, बकानूर एवं मंगलौर बंदरगाहों को हासिल करने के बाद अश्व-व्यापार पुनः प्रारंभ हुआ। इसके फलस्वरूप घोड़ों की निरंतर आपूर्ति से विजयनगर सेना की कार्यक्षमता को बल मिला।

पूर्व में ओडिशा के गजपति एक प्रमुख शक्ति थे। उनके अधिकार-क्षेत्र में कोंडाविडु, उदयगीर और मसूलिपट्टम आते थे। विजयनगर शासकों ने गजपतियों को गोदावरी तक खदेड़कर कोंडाविडु, उदयगिरि एवं मसूलीपट्टम पर अधिकार जमाया। परंतु शीघ्र ही, 1481 में, बहमनियों द्वारा मसूलीपट्टम हथिया लिया गया। विजयनगर को उदयगिरि, उम्मातुर (मैसूर के समीप) एवं सेरिंगपट्टम के सरदारों के निरंतर विद्रोहों का भी सामना करना पड़ता था।

4.3.2 कृष्णदेव रायः 1509–1529

यह काल विजयनगर के महानतम शासक कृष्णदेव राय (1509-1529) की उपलब्धियों का है। इस अवधि में बहमनी शक्ति का पतन हुआ, जिसके फलस्वरूप पांच राज्यों का उद्भव हुआः अहमदनगर में निज़ामशाही; बीजापुर में आदिल शाही; बरार में इमाद शाही, गोलकुंडा में कुतुब शाही; और बीदर में बरीद शाही (जिसके बारे में हम विस्तृत रूप में **भाग 4.12** में चर्चा करेंगे)। बहमनी सल्तनत के विघटन की ओर अग्रसर होने के कारण कृष्णदेव राय को बीजापुर के आदिलशाहियों से कोविलकोंडा और रायचूर तथा बहमनी शासकों से गुलबर्गा एवं बीदर प्राप्त करने में सफलता मिली। कृष्णदेव राय ने उदयगिरि, कोंडाविडु (कृष्णा नदी के दक्षिण में) तथा नालगोंडा (आंध्र प्रदेश में) पर पुनः आधिपत्य स्थापित किया। गजपतियों से, तेलंगाना, राजामुंद्री एवं वारंगल पुनः प्राप्त किए।

मानचित्र 4.1: विजयनगर काल के दौरान दक्षिण भारत

स्रोतः ई एच आई-03: *भारतः 8वीं सदी से 15वीं सदी तक*, खंड 7, इकाई 27, पृ. 42

1510 से पुर्तगाली भारत में एक प्रमुख नौसैनिक शक्ति के रूप में सामने आए। गोवा और साथ ही डांडा राजौरी एवं दाभोल पर अधिकार कर उन्होंने अश्व-व्यापार पर एकाधिकार जमाया, क्योंकि गोवा दक्खनी राज्यों में अश्व-व्यापार का प्रमुख व्यापारिक केंद्र था। कृष्णदेव राय ने पुर्तगालियों के साथ मित्रता के संबंध बनाए रखे। अलबुकर्क की प्रार्थना पर कृष्णदेव राय ने उन्हें भतकल में दुर्ग-निर्माण की स्वीकृति दी। इसी तरह, पुर्तगाली सैनिकों ने कृष्णदेव राय की बीजापुर के इस्माइल आदिल खान के विरुद्ध जीत में पर्याप्त योगदान दिया।

4.3.3 अस्थिरता का युगः 1529–1542

कृष्णदेव राय की मृत्यु के साथ ही आंतरिक संघर्ष एवं बाहरी आक्रमण प्रारंभ हुए। आंतरिक स्थिति का लाभ उठाते हुए बीजापुर के इस्माइल आदिल खां ने रायचूर और मुद्गल पर कब्जा कर लिया। गजपतियों और गोलकुंडा राजाओं ने भी कोंडाविडु को प्राप्त करने के लिए असफल प्रयास किए। इस अस्थिरता तथा अशांति का फायदा उठाते हुए कृष्णदेव राय के भाई अच्युत राय (1529-1542) ने विजयनगर सिंहासन हथियाने में सफलता पाई। परंतु उसकी मृत्यु के बाद पुनः उत्तराधिकार को लेकर अच्युत राय के पुत्र और उसके भतीजे सदाशिव के बीच संघर्ष छिड़ा। सदाशिव ने 1542 में सिंहासन प्राप्त किया। लेकिन वास्तविक शक्ति कृष्णदेव राय के दामाद राम राय के हाथों में ही रही।

सदाशिव ने मुसलमानों को सेना में प्रवेश देने की नीति अपनाई और उन्हें महत्वपूर्ण ओहदे दिए, जिससे सेना की कार्य-कुशलता में वृद्धि हुई।

4.3.4 पुर्तगालियों के साथ संबंध

राम राय के पुर्तगालियों के साथ मित्रतापूर्ण संबंध नहीं थे। 1542 में मार्टिन अल्फांसो डिसूज़ा गोवा का गर्वनर बना तथा उसने भतकल में लूटपाट की। बाद में, राम राय को अल्फांसो डिसूज़ा के उत्तराधिकारी जोआओ दे कास्त्रो के साथ 1547 में एक संधि करने में सफलता मिली, जिससे राम राय ने अश्व-व्यापार के एकाधिकार प्राप्त किए। राम राय ने कोरोमंडल स्थित सान थोम में पुर्तगालियों के प्रभाव को नियंत्रित करने की कोशिश की।

4.3.5 सुदूर दक्षिण के साथ विजयनगर के संबंध

1512 तक, विजयनगर शासकों ने लगभग संपूर्ण दक्षिणी प्रायद्वीप को अपने अधिकार में ले लिया। राजागंबीर-राज्यन् (तोंडई मंडलम्) नामक छोटे से हिंदू राज्य, कालीकट के ज़मोरिन और क्विलोन (केरल) के शासकों ने विजयनगर का आधिपत्य स्वीकार किया। 1496 तक लगभग संपूर्ण सुदूर दक्षिण, केप कोमोरिन तक के क्षेत्र, जिसमें स्थानीय शासित चोल, चेरा शासकों के क्षेत्र आते थे, तंजौर, पुडुकोट्टाइ तथा मदुरा के मानभूषा भी आते थे, विजयनगर के अधीनस्थ हो गए। किंतु पांड्य शासक (ट्यूटीकोरिन तथा कयत्तार का सरदार) को गौण राजा (tributary) के रूप में शासन करने दिया गया।

तमिल प्रदेश के आधिपत्य का एक रोचक पहलू यह था कि जीत के बाद तेलुगु सैनिक उस दूरस्थ तथा विरल जनसंख्या वाले प्रदेश में स्थायी तौर पर बस गए। इन प्रवासियों ने वहां की काली मिट्टी का भरपूर फायदा उठाया एवं कालांतर में रेड्डियों के एक महत्वपूर्ण खेतिहर वर्ग का आविर्भाव हुआ। साथ ही, प्रदेश में ***नायकों*** का बिचौलियों के रूप में उद्भव भी तमिल क्षेत्र में प्रसार का ही परिणाम था।

विजयनगर राज्य एक वृहत राजनीतिक व्यवस्था थी, जिसके अंतर्गत विभिन्न लोग आते थे जैसे तमिल, कन्नड और तेलुगु भाषी समुदाय। विजयनगर शासकों की तुंगभद्रा प्रदेश पर प्रत्यक्ष प्रादेशिक संप्रभुता थी। दूसरे स्थानों पर, विजयनगर शासकों ने तेलुगु योद्धाओं (*नायकों*) और उन स्थानीय सरदारों, जो *नायकों* के रूप में रूपांतरित हो चुके थे और उन संप्रदायी वर्गों, जैसे वैष्णवों द्वारा प्रतीकात्मक संप्रभुता स्थापित की।

4.3.6 दक्खन के मुस्लिम राज्य

1538 तक बहमनी राज्य पांच प्रदेशों में विभाजित हो गया – बीजापुर, गोलकुंडा, अहमदनगर,

बीदर और बरार। 1542-43 में बीजापुर और गोलकुंडा के मध्य आपसी समझ से बीजापुर को विजयनगर के विरुद्ध खुली छूट मिल गई, जबकि अहमदनगर ने बीदर की कीमत पर विस्तार की योजना बनाई। इस समझौते के साथ इब्राहिम आदिल शाह ने विजयनगर पर आक्रमण किया किंतु उसका दो टूक जवाब मिला। लेकिन यह समझ भी लंबे समय तक जारी न रह सकी। अहमदनगर ने बीदर के कल्याणी के दुर्ग को हासिल करने में राम राय की सहायता प्राप्त की। राम राय के दक्खन राज्यों के साथ संबंध बहुत जटिल थे, बीदर के विरुद्ध उसने अहमदनगर की सहायता की परंतु जब अहमदनगर ने गुलबर्गा (जो कि बीजापुरी क्षेत्र था) पर आक्रमण किया, तो राम राय ने बीजापुर शासक का पक्ष लिया। इसके अतिरिक्त, राम राय ने विजयनगर और दक्खनी राज्यों के मध्य एक सामूहिक सुरक्षा योजना बनाने में सफलता प्राप्त की। यह स्वीकार किया गया कि किसी एक के विरुद्ध आक्रमण की स्थिति में आक्रमणकारी के विरुद्ध अन्य सभी सशस्त्र संघर्ष करने को बाध्य होंगे।

इस समझौते का खुला उल्लंघन करते हुए 1560 में अहमदनगर ने बीजापुर पर आक्रमण कर दिया। राम राय को अहमदनगर के विरुद्ध गोलकुंडा की सहायता मिली, परंतु यह समझौता भी शीघ्र समाप्त हो गया। अहमदनगर पराजित हुआ और कल्याणी बीजापुर को समर्पित करना पड़ा। इसी समय, राम राय ने भी बीदर पर आक्रमण कर सुरक्षा समझौते का उल्लंघन किया। गोलकुंडा के शासक ने अहमदनगर के साथ मिलकर कल्याणी पर आक्रमण किया। राम राय ने अपनी सेना कल्याणी के दुर्ग को हथियाने के लिए गोलकुंडा के विरुद्ध भेजी। दूसरी तरफ, विजयनगर और बीजापुर ने मिलकर (जो पुनः एक अस्थायी मिलन था) अहमदनगर और गोलकुंडा के आक्रमण का सामना किया। अंत में, अहमदनगर को अपने कोविलकोंडा, गनपुरा और पांगल के किले देने पड़े। इस दौरान राम राय की नीति एक मुस्लिम राज्य को दूसरे से लड़ाकर विजयनगर के पक्ष में शक्ति संतुलन को बनाए रखने की थी। बाद में गोलकुंडा, अहमदनगर, बीदर और बीजापुर ने सम्मिलित होकर विजयनगर के विरुद्ध मोर्चा बनाया। यह युद्ध कृष्णा नदी के निकट स्थित तालिकोटा (1565) नामक कस्बे में हुआ। विजयनगर पर इसका विनाशकारी प्रभाव पड़ा, इसे लूटा गया। राम राय मारा गया। यद्यपि, विजयनगर राज्य लगभग सौ और वर्षों तक अस्तित्व में रहा, इसका प्रभावक्षेत्र घट चुका था और रायों का दक्षिण भारत की राजनीति में कोई महत्व नहीं रहा।

बोध प्रश्न-1

1) संक्षिप्त में दक्षिण भारत के भौगोलिक विन्यास का विवरण कीजिए।

....

....

....

2) कृष्णा-गोदावरी डेल्टा, तुंगभद्रा दोआब और कोंकण के नियंत्रण को लेकर विजयनगर और बहमनी राज्यों के मध्य संघर्ष का वर्णन कीजिए।

....

....

....

3) 50 शब्दों में पुर्तगालियों और विजयनगर के शासकों के संबंधों का विवरण दीजिए।

....

....

....

4) 'दक्खनी मुस्लिम राज्यों के साथ संघर्षों के कारण अंततः विजयनगर के भाग्य का सूर्यास्त हो गया'। टिप्पणी कीजिए।

....

....

....

4.4 विजयनगर साम्राज्य में धर्म और राजनीति

धर्म और धार्मिक वर्गों की विजयनगर साम्राज्य के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका थी।

4.4.1 प्रतीकात्मक राजत्व

सामान्य तौर पर यह कहा जाता है कि *धर्म* की कठोर पालना का सिद्धांत विजयनगर साम्राज्य का एक प्रमुख अवयव एवं विशिष्ट लक्षण था। लेकिन, अधिकतर विजयनगर के शासकों को हिंदू शासकों से भी युद्ध करना पड़ता था, जैसे ओडिशा के गजपति। विजयनगर की सेना में रणनीति के दृष्टिकोण से सबसे महत्वपूर्ण दस्ते मुस्लिम सेनानियों के अधीन होते थे। देवराया द्वितीय द्वारा मुस्लिम तीरंदाज़ों को भर्ती किया गया। इन मुस्लिम टुकड़ियों ने विजयनगर के हिंदू प्रतिद्वंद्वियों के विरुद्ध विजयनगर की जीत में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

विजयनगर शासकों ने सफल सैनिक कार्यवाहियों के फलस्वरूप *दिग्विजयन* की पदवी धारण की। विजयनगर का राजत्व एक प्रकार से प्रतीकात्मक था, क्योंकि विजयनगर के शासक अपनी सत्ता के प्रमुख केंद्र से परे भू-भागों पर अपने आधिपत्यों द्वारा नियंत्रण करते थे। इस प्रतीकात्मकता का निरूपण धर्म के जरिये होता था, जो लोगों द्वारा स्वामिभक्ति निश्चित करता था। उदाहरण के तौर पर, प्रतीकात्मक राजत्व का महानवमी के उत्सव में सबसे अच्छा दृष्टांत मिलता था। यह एक वार्षिक राजकीय समारोह था, जो 15 सितंबर और 15 अक्टूबर के मध्य नौ दिन तक चलता था। इसकी समाप्ति दसवे दिन दशहरा के उत्सव में होती थी। प्रादेशिक/परिधीय क्षेत्रों के महत्वपूर्ण व्यक्ति (जैसे सेनानायक) इस उत्सव में भाग लेते थे। इस उत्सव द्वारा साम्राज्य के प्रादेशिक परिधीय भागों पर विजयनगर के शासकों की संप्रभुता की मान्यता को बल मिलता है। यद्यपि ब्राह्मण इस उत्सव में भाग लेते थे, उनकी भूमिका प्रमुख नहीं होती थी। उत्सव के अनुष्ठानिक कृत्यों का निष्पादन स्वयं राजा द्वारा किया जाता था।

4.4.2 ब्राह्मणों की राजनीतिक भूमिका

विजयनगर साम्राज्य का एक विशिष्ट लक्षण ब्राह्मणों का राजनैतिक एवं धर्म-निरपेक्ष कार्यकर्ताओं न कि धार्मिक मुखियाओं के रूप में महत्व था। अधिकतम *दुर्ग दन्नायक* (दुर्ग-प्रभारी) ब्राह्मण होते थे। साहित्यिक स्रोत इस बात की पुष्टि करते हैं कि उस युग में दुर्गों का बहुत महत्व था और उनका नियंत्रण ब्राह्मणों, विशेषतः तेलुगु मूल के, द्वारा किया जाता था।

इस काल में अधिकतर शिक्षित ब्राह्मण प्रशासक व लेखाकार के रूप में राजकीय कर्मचारी बनना चाहते थे, जहाँ उनके लिए उज्जवल जीविकोपार्जन के साधनों की संभावनाएँ थीं। शाही सचिवालय पूर्ण रूप से ब्राह्मणों द्वारा संचालित थे। ये ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणों से भिन्न थेः यह तेलुगु नियोगी नामक उपजाति से संबंधित थे। वे धार्मिक कृत्यों को लेकर बहुत पुरातनपंथी नहीं थे। ब्राह्मण प्रभावशाली ढंग से राजा के लिए प्रजा की दृष्टि में वैधता स्थापित करने का कार्य करते थे। विद्यारण्य नामक ब्राह्मण और उसके परिजन संगमा-बंधुओं के मंत्री थेः उन्होंने उनको पुनः हिंदू धर्म में स्वीकार कर उनके शासन को वैधता प्रदान की।

ब्राह्मणों ने सेनापतियों के रूप में विजयनगर की सेना में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उदाहरण के तौर पर, कृष्णदेव राय के काल में ब्राह्मण टिम्मा को आर्थिक सहायता प्रदान की गई क्योंकि वह राजनीतिक व्यवस्था का एक अंगीभूत अंग था। इन ब्राह्मणों का कार्य साम्राज्य के विभिन्न भागों में दुर्गों का निर्माण और देखरेख करना होता था, जिसके लिए उन्हें कुछ शाही गांवों (***भंडारवडा***) का राजस्व प्राप्त होता था। शाही गांवों और ***अमरम्*** गांवों (जिनकी आय स्थानीय सैनिक मुखियाओं के अधीन थी) में विभेदन किया गया।

4.4.3 राजाओं, संप्रदायों और मंदिरों के मध्य संबंध

दूरस्थ तमिल भू-भाग पर प्रभावी नियंत्रण हेतु विजयनगर के शासकों ने तमिल क्षेत्र के वैष्णव संप्रदायी मुखियाओं का सहयोग लिया। तमिल प्रदेश में अजनबी होने से विजयनगर के शासकों के लिए अपनी शक्ति को वैधता प्रदान करने हेतु मूलभूत तमिल धार्मिक संगठनों, जैसे मंदिरों, के साथ संबंध स्थापित करना आवश्यक हो गया।

राजाओं, संप्रदायों और मंदिरों के मध्य संबंधों की निम्नलिखित चार बिंदुओं के आधार पर व्याख्या की जा सकती है:

1) राजत्व को बनाए रखने के लिए मंदिर आधारभूत थे।

2) संप्रदायी मुखिया, राजाओं और मंदिरों के मध्य एक कड़ी का कार्य करते थे।

3) यद्यपि मंदिरों की सामान्य देखरेख स्थानीय संप्रदायी वर्गों द्वारा की जाती थी, मंदिरों संबंधी विवादों को सुलझाने का कार्य राजा के हाथों में होता था।

4) ऐसे विवादों में राजा का हस्तक्षेप वैधानिक न होकर, प्रशासनिक होता था।

1350-1650 के मध्य दक्षिण भारत में कई मंदिरों का निर्माण हुआ। भौतिक संपत्ति (निश्चित गांवों के कृषि उत्पादन का एक हिस्सा) के रूप में मंदिरों को प्राप्त होने वाले अनुदानों और उपहारों के फलस्वरूप विजयनगर राज्य के अधीन एक विशेष कृषि-अर्थव्यवस्था ने जन्म लिया।

संगमा वंश के आरंभिक शासक शैव थे, जिन्होंने विजयनगर के श्री विरुपाक्ष (पम्पापति) मंदिर का पुनः निर्माण किया। सलूव मुख्यतः वैष्णव थे, जिन्होंने शैव और वैष्णव दोनों ही मंदिरों को संरक्षण दिया। कृष्णदेव राय (तुलूव शासक) ने कृष्णास्वामी मंदिर (वैष्णव मंदिर) का निर्माण किया और शिव मंदिरों को भी अनुदान दिया। अराविडु राजाओं ने भी वैष्णव मंदिरों को उपहार प्रदान किए।

4.5 विजयनगर साम्राज्य में स्थानीय प्रशासन

विजयनगर साम्राज्य के काल में *नायक* और *आयगार* व्यवस्था की प्रमुखता के बावजूद *नाडु, सभा* और उर जैसी स्थानीय संस्थाएँ पूर्ण रूप से लुप्त नहीं हुईं।

4.5.1 *नायनकार* व्यवस्था

नायनकार व्यवस्था विजयनगर के राजनैतिक संगठन की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी। सेनानायक और योद्धा *नायक* या *अमरनायक* की पदवी धारण किया करते थे। इन योद्धाओं को इनकी जातीय पहचान, कर्तव्यों या अधिकारों और विशेषाधिकारों के आधार पर वर्गीकृत करना कठिन है।

नायक संस्था का गहन अध्ययन दो पुर्तगाली विद्वानों फरनाओं नूनिज़ और डोमेंगो पाएस द्वारा किया गया जिन्होंने 16वीं शताब्दी में तुलूव वंश के कृष्णदेव राय और अच्युतराय के राज्यकाल में भारत की यात्रा की थी। उन्होंने *नायकों* को महज रायों (केंद्रीय सरकार) के एजेंट के रूप में देखा। नूनिज़ द्वारा वर्णित *नायकों* द्वारा रायों को दी जाने वाली अदायगी, के प्रमाण से सामंती दायित्वों का प्रश्न सामने आता है। विजयनगर के अभिलेख और बाद में मेकेंजी की पांडुलिपियाँ *नायकों* का प्रादेशिक *नायकों* के रूप में चित्रण करती हैं, जिनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ कई बार शासकों के उद्देश्यों के विपरीत टकराती थीं।

एन. के. शास्त्री (1946 में) ने 1565 के पूर्व और उसके बाद के *नायकों* के मध्य एक विभाजन रेखा खींची है। पहले वे पूर्ण रूप से शासकों पर निर्भर थे, जबकि बाद में ये *नायक* अर्द्ध-स्वतंत्र हो गए थे। किंतु, बाद में उन्होंने अपनी राय में संशोधन करते हुए 1565 के पूर्व के *नायकों* को सैनिक-मुखिया बताया जिनके अधीन सैनिक *जागीरें* (fiefs) होती थीं। अपनी एक नवीनतम कृति (*सोर्सेस ऑफ इंडियन हिस्ट्री*) में उन्होंने विजयनगर साम्राज्य को एक सैनिक महासंघ बताया जिसमें कई सरदार मिलकर उनमें से सर्वाधिक शक्तिशाली के नेतृत्व में सहयोग करते थे। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि इस्लाम के बढ़ते खतरे को देखते हुए विजयनगर शासकों को सैन्य-शक्ति और धर्म पर महत्व देना पड़ा। कृष्णस्वामी *नायक* व्यवस्था को सामंती मानते हैं। परंतु वेंकटरमन्या का कहना है कि *नायक* व्यवस्था में यूरोपीय सामंतवाद के प्रमुख लक्षण जैसे स्वामीभक्ति, सम्मान और उप-सामंतीकरण अनुपस्थित थे। इसी तरह डी. सी. सरकार इस सिद्धांत का खंडन करते हुए इसकी सामंतवाद के एक रूपांतर के रूप में इसकी एक प्रकार की *ज़मींदारी* प्रथा के रूप में व्याख्या करते हैं, जिसमें राजा हेतु सैनिक सेवाओं के लिए *अमरनायकों* को भूमि आबंटित की जाती थी।

इस प्रकार, डी. सी. सरकार और टी. वी. महालिंगम विजयनगर के *नायकों* को योद्धाओं के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें केंद्रीय सरकार द्वारा सैन्य सेवा के बदले पद (कर) दिया जाता था। *अमरनायक*

उस सैन्य अधिकारी (*नायक*) को कहा जाता था, जिसके अधीन निश्चित संख्या में सैनिक टुकड़ियाँ रहती थीं। इन *नायकों* को भूमि या क्षेत्र में राजस्व अधिकार प्राप्त थे, जो *अमरम्* (*अमरमकरा* या *अमरमहाली*) कहलाते थे। तमिल-प्रदेश और विजयनगर साम्राज्य में भूमि का लगभग तीन-चौथाई भाग इसके अंतर्गत आता था। *नायकों* की जिम्मेदारियाँ और गतिविधियों में से कुछ इस प्रकार थीं: मंदिरों को उपहार देना, तालाबों का निर्माण और मरम्मत, उजाड़ भूमि को फिर से उपजाऊ बनाना और मंदिरों से शुल्क वसूल करना। तथापि, तमिल अभिलेख राजा या उसके अधिकारियों को *नायकों* द्वारा भुगतान का उल्लेख नहीं करते हैं।

मेकेंजी की पांडुलिपियों के आधार पर कृष्णस्वामी का मानना है कि विजयनगर के सेनापतियों (पहले कृष्णदेव राय के अधीन) ने कालांतर में स्वतंत्र *नायक* राज्यों की स्थापना की। इन खतरों से बचने के लिए विजयनगर सम्राटों ने सामुद्रिक व्यापार पर अधिक नियंत्रण का प्रयास किया, जो घोड़ों की खरीद-फरोख्त के लिए महत्वपूर्ण था। उन्होंने अच्छी नस्ल के घोड़ों के लिए उच्च दाम देकर इस व्यापार पर अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहा। उन्होंने वफादार सैनिकों की सुरक्षा सेनाएं बनायीं। इस प्रकार, जहां एक तरफ तेलुगु नायक विजयनगर साम्राज्य की शक्ति के स्रोत थे, वहीं दूसरी ओर वे इसके प्रतिद्वंद्वी भी बन गए।

4.5.2 *आयगार* व्यवस्था

विजयनगर युग में स्वायत्त स्थानीय संस्थाओं को, विशेषतः तमिल क्षेत्र में, आघात पहुंचा। विजयनगर काल से पहले कर्नाटक तथा आंध्र में स्थानीय संस्थाओं के पास तमिल क्षेत्र की अपेक्षा कम स्वायत्तता थी। विजयनगर काल में कर्नाटक में स्थानीय क्षेत्रीय डिवीज़नों में बदलाव आए। फिर भी, *आयगार* व्यवस्था जारी रही और संपूर्ण वृहत्तर क्षेत्र में व्यापक रूप से प्रचलित थी। 15-16वीं शताब्दी के मध्य *नाडु* और *नट्टार* की क्षीण होती शक्ति के फलस्वरूप तमिल प्रदेश में इसका विस्तार हुआ। *आयगार* ग्राम्य सेवक अथवा कर्मचारी होते थे, तथा इसके अंतर्गत परिवारों के समूह आते थे। ये थे – मुखियागण (रेड्डी या गौड़ा, मणियम्), लेखाकार (*कर्णम् सेनाभोवा*) और पहरेदार (*तलाईयारी*)। इन्हें गांव का एक भाग या गांव में एक भूखंड दे दिया जाता था। कभी-कभी उन्हें एक निश्चित लगान अदा करना पड़ता था, किंतु सामान्यतः ये भूखंड मान्या अर्थात कर-मुक्त होते थे, क्योंकि उनकी कृषिय आय पर कोई नियमित कर नहीं लगाया जाता था। कुछ विशेष स्थितियों में ग्राम्य कर्मचारियों को नकद के रूप में उनकी सेवा के लिए सीधा भुगतान किया जाता था। अन्य ग्राम्य-सेवकों जैसे धोबी या पुजारी को भी आनुष्ठानिक कार्यों और गांव के समुदायों की सेवा के लिए भुगतान भूमि के रूप में किया जाता था। अन्य सामान्य सेवाएं देने वाले ग्राम्य सेवकों में चमड़ा-कारीगर, जिनके बनाए चमड़े के थैले सिंचाई के साधनों (*कपिला* या *मोहते*) में उपयोगी थे, कुम्हार, लुहार, बढ़ई, जलापूर्ति कारक व्यक्ति (*निरनिक्करः* जो सिंचाई मार्गों की देखरेख करता था और साहूकारों, महाजनों का पर्यवेक्षक था) थे। *आयगार* व्यवस्था की विशिष्टता यह थी कि भूमि द्वारा आय का विशेष आवंटन तथा निश्चित नकद भुगतान पहली बार ग्रामीण सेवकों, जिनका निश्चित कार्य था, को किया गया।

4.5.3 भूमि एवं आय संबंधी अधिकार

चावल मुख्य पैदावार थी। कोरोमण्डल से लेकर पूलिकट तक काले और श्वेत दोनों किस्म के चावल उगाए जाते थे। इसके अलावा, दालों और चने जैसे खाद्यान्न भी उगाए जाते थे। अन्य महत्वपूर्ण उत्पादों में गर्म मसाले (विशेषतः काली मिर्च), नारियल और सुपारियाँ थीं। भू-राजस्व राज्य की आय का मुख्य स्रोत था। राजस्व निर्धारण की दर साम्राज्य के विभिन्न भागों में और एक ही स्थान पर भूमि की उर्वरता और उसकी क्षेत्रीय अवस्थिति के आधार पर भिन्न-भिन्न थी। सामान्य तौर पर यह आय का $\frac{1}{6}$ भाग थी, परन्तु कुछ मामलों में यह अधिक, $\frac{1}{4}$ भाग तक थी। ब्राह्मणों और मंदिरों पर यह क्रमशः $\frac{1}{20}$ भाग और $\frac{1}{30}$ भाग थी। इसका भुगतान नकद और वस्तुओं दोनों के रूप में किया जाता था। हमें भू-काश्तकारी के तीन मुख्य वर्गों का संदर्भ मिलता है: *आमरा, भंडारवडा* और *मान्या*। ये गांवों की आय के विभाजन को प्रदर्शित करते हैं। *भंडारवडा* राजा के अधीनस्थ गांव थे, यह वर्ग सबसे छोटा था। इसकी आय के एक भाग का उपयोग विजयनगर के दुर्गों के हितार्थ होता था। *मान्या* (कर-मुक्त) गांवों की आय का उपयोग ब्राह्मणों, मंदिरों और मठों की देख-भाल हेतु होता था। सबसे बड़ा वर्ग *आमरा* गांवों का था, जिन्हें विजयनगर शासकों द्वारा *अमरनायकों* को प्रदत्त किया जाता था। *आमरा* गांवों की भूमि

पर *अमरनायकों* का मालिकाना हक नहीं होता था, परन्तु इससे होने वाली आय पर उनका विशेषाधिकार था। *आमरा* काश्तकारी (पट्टेदारी) इस अर्थ में मुख्यतः अवशिष्ट (residual) संपत्ति थी कि इसमें से ब्राह्मण और दुर्गों के लिए कटौती करने के पश्चात् इसका वितरण होता था। सभी गांवों का तीन-चौथाई हिस्सा इस वर्ग में आता था। अधिकांश इतिहासकार *अमरमकनी* शब्द का अर्थ 'जागीर' अथवा 'भू-सम्पत्ति' बताते हैं, लेकिन इसका शाब्दिक अर्थ $\frac{1}{6}$ वां हिस्सा (*मकनी*) है। इससे संकेत मिलता है कि *अमरनायक* गांव की आय के एक सीमित भाग पर ही दावा कर सकते थे। इस काल में *मान्या* अधिकारों में भी परिवर्तन हुए। राज्य द्वारा भूमि की पट्टेदारी व्यक्तिगत रूप से (*एकभोगन*), ब्राह्मणों और ब्राह्मणों के समूहों, साथ ही मठों जिसमें गैर-ब्राह्मण शैव सिद्धांत और वैष्णव गुरु भी सम्मिलित थे, को दी जाती थी। परन्तु राज्य द्वारा दिए जाने वाले अनुदानों में तुलनात्मक रूप से *देवदान* अनुदान (मंदिर को दिए जाने वाले अनुदान) में अत्यधिक वृद्धि हुई।

भूमि कर के अतिरिक्त कई व्यावसायिक कर प्रचलित थे। ये दुकानदारों, खेतों में काम करने वाले कर्मचारियों, चरवाहों, धोबियों, कुम्हारों, संगीतकारों और जूते बनाने वालों पर लगाए जाते थे। संपत्ति कर का भी प्रावधान था। चराई और गृह कर भी आरोपित किए गए। गांववासियों को गांव के अधिकारियों के भरण-पोषण हेतु भी भुगतान करना पड़ता था। इसके अलावा, *स्थल दायम*, *मार्गदायम* और *मनुला दायम* तीन मुख्य परिवहन शुल्क थे।

भूमि अधिकार की एक अन्य श्रेणी के अंतर्गत सिंचाई में पूंजी निवेश द्वारा आय प्राप्त की जाती थी। इसे तमिल क्षेत्र में *दसावन्दा* और आन्ध्र तथा कनार्टक में *कट्टू-कोडगे* के नाम से जाना जाता था। सिंचाई संबंधित इस प्रकार की कृषि गतिविधियाँ अर्द्ध-शुष्क भागों में होती थीं जहाँ जलराशिकीय तथा स्थलाकृतिक लक्षण विकासात्मक कार्यों के लिए उपर्युक्त होते थे। ***दसावन्दा*** और ***कट्टू-कोडगे*** इस तरह के विकास कार्य, जैसे किसी तालाब या नहर का निर्माण करने वाले व्यक्ति द्वारा अर्जित अधिक उत्पादकता के भाग थे। आय पर यह अधिकार व्यक्तिगत और हस्तांतरणीय होता था। इस बढ़ी हुई उत्पादकता का एक भाग उस गांव के किसानों को जाता था, जहाँ विकास संबंधी कार्य किया जाता था।

4.5.4 मंदिरों की आर्थिक भूमिका

विजयनगर के काल में मंदिर महत्वपूर्ण भूस्वामी बने। सैकड़ों गांवों का अनुदान उन देवी-देवताओं को किया गया, जिनकी पूजा विशाल मंदिरों में होती थी। मंदिर-अधिकारी *देवदान* गांवों की व्यवस्था अनुदान के सही उपयोग के लिए करते थे। *देवदान* गांवों की आय से धार्मिक कर्मचारियों का पोषण होता था। इसका उपयोग आनुष्ठानिक कृत्यों हेतु आवश्यक खाद्य चढ़ावा या अन्य सामग्रियों (अधिकतर सुगंधित वस्तुओं और वस्त्रों) की खरीद हेतु भी किया जाता था। राज्य द्वारा मंदिरों को आनुष्ठानिक प्रयोजनों हेतु नकद धर्मदान भी दिए जाते थे।

मंदिरों द्वारा सिंचाई-संबंधी कार्य भी किया जाता था। *देवदान* भूमि प्राप्त बड़े मंदिरों में एक सिंचाई विभाग होता था, जिसका कार्य मंदिरों को प्राप्त मुद्रा-अनुदानों का समुचित उपयोग करना था। मंदिरों को नकद अनुदान देने वालों को परिवर्द्धित उत्पादन क्षमता से प्राप्त खाद्य भेंट (*प्रसादम्*) का एक भाग प्राप्त होता था।

वास्तव में, मंदिर दक्षिण भारत की आर्थिक गतिविधियों के मुख्य केन्द्र थे। वे केवल विशाल भूस्वामी ही नहीं थे, बल्कि बैंकिग गतिविधियों में भी संलग्न थे। उन्होंने कई लोगों को रोजगार दिया। महालिंगम एक अभिलेख का उल्लेख करते हैं जिसमें एक मंदिर में 370 सेवकों के होने का वर्णन है। आनुष्ठानिक सेवाओं के लिए मंदिर स्थानीय साज-सामान खरीदते थे। आर्थिक प्रयोजनों के लिए वे व्यक्तियों और ग्राम्य सभाओं को ऋण प्रदान करते थे। ये ऋण भूमि के बदले में दिए जाते थे, जिसकी आय मंदिरों को प्राप्त होती थी। तिरुपति मंदिर को राज्य द्वारा दिए जाने वाले नकद अनुदान सिंचाई के रूप में पुनः निवेशित किए जाते थे। इस प्रकार से प्राप्त आय का प्रयोग धार्मिक कार्यों के लिए किया जाता था। श्रीरंगम मंदिर में नकद अनुदानों का प्रयोग त्रिचनापल्ली के व्यवसाय संघों को व्यावसायिक ऋण प्रदान करने में किया जाता था। मंदिरों के अपने व्यापार संघ होते थे, जो अपनी निधि का उपयोग विभिन्न उद्देश्यों के लिए करते थे। इस प्रकार, मंदिर लगभग एक स्वतंत्र आर्थिक व्यवस्था के रूप में कार्य करते थे जिसमें व्यक्ति और संस्थाएं आर्थिक संबंधों द्वारा बंधे हुए थे।

4.6 विजयनगर राज्य की प्रकृति[1]

भारतीय राजनीति के मूल्यांकन के संदर्भ में सामन्तवादी खंडात्मक और एकीकरणात्मक आदि दृष्टिकोण हैं। यहाँ हम विजयनगर कालीन राजनीति का विश्लेषण इन दृष्टिकोणों के तहत करेंगे।

खंडात्मक राज्य

बर्टन स्टाइन विजयनगर राज्य को एक खंडात्मक राज्य के रूप में प्रदर्शित करते हैं। उनके अनुसार विजयनगर राज्य में संपूर्ण राजनीतिक संप्रभुता केंद्र के साथ रही, परंतु परिधीय क्षेत्रों में 'आनुष्ठानिक राजत्व' (प्रतीकात्मक नियंत्रण) *नायकों* और ब्राह्मण सेनानायकों के हाथों में रहा। इन अधीनस्थ इकाइयों – खंडों – के केंद्रीय सत्ता के साथ संबंध पिरामिडानुसार थे। केंद्र से जितना अधिक दूर कोई खंड होता था, उतनी ही ज्यादा अपनी स्वामीभक्ति को एक शक्ति पिरामिड से दूसरे की ओर स्थानांतरित करने की उसकी क्षमता होती थी।

सामान्तवादी मॉडल

कुछ विद्वानों ने विजयनगर राज्य के स्वरूप की सामंती-ढांचे की पृष्ठभूमि में व्याख्या करने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि ब्राह्मणों को नवीन भू-अनुदान प्रदान करने की नीति, सामंती विभाजन का प्रमुख कारण थी। बार-बार इन भू-अनुदानों के दिए जाने के कारण ब्राह्मणों की स्थिति सुदृढ़ बनी। इसके परिणामस्वरूप, उन्हें अपनी व्यवस्थाओं में बहुत अधिक स्वायत्तता प्राप्त हुई, उन्हें प्रशासनिक शक्तियाँ और राजस्व-स्त्रोतों को नियंत्रित करने के अधिकार मिल गए। विद्वानों का मानना है कि क्योंकि विजयनगर के शासकों ने हिंदू *धर्म* की रक्षा का प्रयास किया, इससे नई ब्राह्मण व्यवस्थाओं का जन्म हुआ।

इसी प्रकार सैन्य दृष्टि से तमिल-क्षेत्र में विस्तार में *अमरनायकों* (योद्धाओं) और अन्य उच्चाधिकारियों के नियंत्रण में सामंतीय भू-भागों का निर्माण हुआ। *अमरनायक* वंशानुगत भू-स्वामी होते थे। वे राजा को नजराना अदा करते थे और सैन्य-सेवा प्रदान करते थे (उत्तर भारत के *सामंतों* की तरह)।

इन भूमिधरों ने बदले में अपने अधीनस्थ लोगों को भूमि अनुदान देना प्रारंभ किया, जिसके फलस्वरूप उप-सामंतीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ। साम्राज्य की विशालता और परिवहन तथा संचार के पर्याप्त साधनों की कमी के कारण साम्राज्य के शासन संचालन हेतु शासकों द्वारा इन सामंती वर्गों को अधिकार प्रदान करना एक आवश्यकता बन गई। विजय और साम्राज्य के सुदृढ़ीकरण की इस प्रक्रिया में विरोधी सरदारों के स्वर को दबाकर उनके भू-भागों को नए सरदारों के बीच बांट दिया जाता था। फिर भी, कुछ पुराने सरदारों को इस नई व्यवस्था में भी जारी रखा गया।

अन्य व्याख्याएँ

एन. के. शास्त्री विजयनगर राज्य को बुनियादी तौर पर एक हिंदू-राज्य के रूप में देखते हैं जो बहमनी सल्तनत और उसके उत्तराधिकारी राज्यों के मुसलमानों के विरुद्ध हिंदू संस्कृति के रक्षक के रूप में एक वैचारिक (धार्मिक-राजनीतिक) भूमिका का निर्वहन करता था। इससे विजयनगर राज्य के सैनिकवादी स्वरूप का सिद्धांत जन्म लेता है। उसके अनुसार विजयनगर राज्य एक सैनिक राज्य था।

4.7 दक्षिण भारत में नायक राज्यों का उदय

1500 तक मालाबार (दक्षिण-पश्चिमी तट) तथा तिरुनेलवेली को छोड़कर शेष समूचे दक्षिणी भारत को विजयनगर साम्राज्य का हिस्सा बना लिया गया। बाद में, तिरुनेलवेली को भी विजयनगर साम्राज्य ने (1540 में) हथिया लिया। 16वीं शताब्दी के दौरान, विजयनगर साम्राज्य के भीतर इक्केरी, सेन्जी (जिन्जी), ओडेयार मैसूर, मदुरई तथा तन्जौर के नायक राज्यों का उदय हुआ जो केवल नाममात्र के लिए विजयनगर के अधिनस्थ बने रहे।

नायक राज्यों की उत्पत्ति कब हुई? कुछ इतिहासकारों (नीलकंठ शास्त्री, आदि) का मानना है कि विजयनगर की पराजय (1565) ने विद्रोहों को जन्म दिया। इसने 'पलायगरों की निरंकुशता'

---

[1]यह भाग हमारे पाठ्यक्रम **ई एच आई-03ः *भारत 8वीं सदी से 15वीं सदी तक,*** के पृष्ठ 63 से लिया गया है।

में भी बढ़ोतरी की जिसके परिणामस्वरूप मदुरा, तंजौर तथा सेन्जी के नायकों ने स्वतंत्रता प्राप्त की। किंतु अन्य इतिहासकारों (बर्टन स्टाइन, आदि) के अनुसार नायकों के उदय को 1530 से चिह्नित किया जा सकता है। इस विवाद में और अधिक जाए बिना हम यहाँ पर प्रत्येक नायक राज्य के विकास का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

सेन्जी

सेन्जी का राज्य (पूर्वी तट के किनारे उत्तर में पालार से लेकर दक्षिण में कोलेरुन तक) *नायक* शासकों के अधीन कृष्णदेव राय के शासनकाल के दौरान शुरू हुआ प्रतीत होता है। वैअप्पा (1526-1544) इसका प्रथम *नायक* था। 1592 तक सेन्जी के सभी *नायक* विजयनगर के प्रति वफादार बने रहे। हालांकि, विजयनगर के शासक वेंकट प्रथम ने *नायकों* पर विजयनगर के प्रभाव को मजबूत बनाने के इरादे से 1592 के बाद अपनी राजधानी पेनुकोंडा से बदलकर चंद्रगिरी में स्थापित की। इससे *नायकों* में आक्रोश व्याप्त हो गया क्योंकि इससे उन्हें अपने अंदरूनी मामलों में विजयनगर की दखलअंदाजी का अंदेशा हुआ (*नायकों* द्वारा बार-बार विजयनगर को अदा किए जाने वाले नज़राने के प्रति उपेक्षाभाव प्रकट करने का मुख्य कारण भी यही था, जिसने अंततः 1614 में वैंकट प्रथम की मृत्यु के बाद गृहयुद्ध का रास्ता तैयार किया)। इस तरह की दखलअंदाजी का एक उदाहरण वैलोर का नायक था, जो कि सेन्जी के नायकों के अधीन कार्यरत था, वैंकट प्रथम द्वारा उसे प्रोत्साहित किया गया कि वह सेन्जी के नायकों की सत्ता को अस्वीकार कर दे। वैंकट प्रथम ने साम्राज्य के अंतर्गत विभिन्न क्षेत्रों के नायकों को कमज़ोर बनाने के लिए 'फूट डालो और राज करो' की नीति का अनुसरण किया। इस सब के कारण वैलोर तथा सेन्जी के नायकों ने विद्रोह किया (1600 के कुछ समय बाद)। बाद में वैंकट प्रथम ने वैलोर और सेन्जी पर कब्जा (1604-1608) कर लिया।

तंजौर

नायकों के अधीन तंजौर (आधुनिक तंजौर तथा उत्तरी अरकॉट) का उदय 1532 में अच्युतराय के शासनकाल के दौरान सेवप्पा नायक के अधीन हुआ। तंजौर के नायक समूची 16वीं शताब्दी के दौरान विजयनगर शासकों के प्रति वफादार बने रहे। उन्होंने हमेशा लड़ाईयों में विजयनगर साम्राज्य का साथ दिया। उदाहरण के लिए, गोलकुंडा पर आक्रमण के समय उन्होंने वैंकट प्रथम की सहायता की और यह वफादारी 1614 में वैंकट प्रथम की मृत्यु के समय तक जारी रही।

मदुरा

मदुरा (कावेरी के दक्षिण में) को कृष्णदेव राय के शासनकाल के आखिरी वर्षों के दौरान (1529) *नायक* के नियंत्रण में लाया गया। पहला *नायक* विश्वनाथ (मृत्यु 1564) था। आमतौर पर वह और उसके उत्तराधिकारी विजयनगर के प्रति वफादार बने रहे, यहां तक कि तालीकोटा की लड़ाई के समय भी उन्होंने विजयनगर शासक का साथ दिया। उन्होंने पुर्तगालियों के खिलाफ भी साम्राज्य की मदद की। किंतु 1580 के दशक के आरंभ में, वैंकट प्रथम तथा वीरप्पा नायक के बीच तनाव उत्पन्न हो गया। शायद वीरप्पा नायक ने उसे नज़राना देने की उपेक्षा करने का प्रयास किया जिसे वैंकट प्रथम ने अपनी सेना भेजकर राजस्व देने के लिए मजबूर किया। पुनः मुट्टू कृष्णप्पा नायक ने 1605 के आसपास नज़राना अदा नहीं किया तो वैंकट प्रथम को एक बार फिर अपनी सेनाएं भेजनी पड़ी। इससे यह प्रदर्शित होता है कि अपने शासनकाल के अंतिम वर्षों के दौरान, जब वैंकट प्रथम ने अधिक से अधिक केंद्रीकरण थोपा तो नायकों ने उसकी सत्ता को चुनौती देने का प्रयत्न किया।

इक्केरी

इक्केरी (उत्तरी कर्नाटक) के नायकों का उदय भी कृष्णदेव राय के शासनकाल में ही हुआ। पहला *नायक* केलाडी नायक चौडप्पा था जिसने अच्युतराय तथा रामराय की सेवा की थी। चौडप्पा के बेटे व उत्तराधिकारी, सदाशिव नायक (1540-1565) ने रामराय के हाथों बीजापुर की पराजय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी और इसके पुरस्कार के रूप में उसे रामराय द्वारा 'राय' की उपाधि से सम्मानित किया गया। बाद में उसकी सैन्य सफलताओं के लिए रामराय, द्वारा 'राजा' की उपाधि से सम्मानित किया गया। इक्केरी के तुलू नायक 16वीं शताब्दी के शुरू से अंत तक विजयनगर के वफादार बने रहे। किंतु 17वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में वे वैंकटप्पा नायक प्रथम (1586-1629) के समय लगभग स्वतंत्र हो गए। इक्केरी के नायकों को हमेशा बीजापुर के भारी

दबाव का सामना करना पड़ा किंतु वे उसके हमलों को नाकाम करने में सक्षम रहे। इसके अलावा उन्हें मैसूर के ओडियार नायकों की शत्रुता का भी सामना करना पड़ा। इक्केरी के नायक गरसोप्पा को भी लालच की दृष्टि से देखते थे, जो कि उत्तरी कैनारा में कालीमिर्च की खेती के लिए सबसे अधिक समृद्ध भूमि थी। इसकी वजह से गरसोप्पा की रानी भैरवदेवी को कमजोर बनाने के लिए नियमित अभियान चलाए गए।

ओडियार मैसूर

ओडियार नायकों का इतिहास 1399 तक के सुदूर अतीत तक जाता है जबकि वे इस क्षेत्र में आकर बस गए थे। किंतु चामराजा तृतीय (1513-1553) तथा उसके पुत्र तिम्मराजा (1553-1572) के अधीनस्थ ही ओडियारों को प्रमुखता हासिल हुई। इस क्षेत्र पर (खासतौर से उम्मेटूर पर) कभी भी विजयनगर का संपूर्ण नियंत्रण नहीं रह सका। हम यह पाते हैं कि विजयनगर के सबसे शक्तिशाली शासक कृष्णदेव राय के लिए भी उम्मेटूर के इन मुखियाओं को दबा पाना कठिन रहा। ओडियार नायकों ने विजयनगर की सत्ता का उल्लंघन करना जारी रखा। अंततः श्रीरंगपट्टनम में विजयनगर के वायसराय को हटाकर 1610 में ओडियार राजा को अंतिम सफलता प्राप्त हुई तथा उसने श्रीरंगपट्टनम को अपनी राजधानी बनाया।

बोध प्रश्न-2

1) संक्षिप्त में विजयनगर साम्राज्य में ब्राह्मणों की भूमिका और कार्यों का वर्णन कीजिए।

....
....
....
....

2) निम्नलिखित को परिभाषित कीजिएः

क) *अमरम्* ....
....

ख) *भंडारवडा* ....
....

ग) *दुर्ग दन्नायक* ....
....

घ) *आयगार* ....
....

3) विजयनगर साम्राज्य में *नायनकार* व्यवस्था की व्याख्या कीजिए।

....
....
....
....

4) विजयनगर राज्य की प्रकृति का विश्लेषण कीजिए।

....
....
....
....

5) विजयनगर सम्राज्य में मंदिरों की क्या आर्थिक भूमिका थी?

....
....

....

....

6) नायक राज्यों का उदय कब हुआ?

....

....

....

....

4.8 बहमनी शक्ति का उदय

आइए हम बहमनी राज्य की स्थापना से ठीक पहले के दक्खन में राजनीतिक स्थिति का सर्वेक्षण करें। दक्खन के अधिकांश भागों पर विजय और उनका दिल्ली सल्तनत में अधिग्रहण मुहम्मद तुगलक के काल में संपन्न हुआ। उसने दक्खनी प्रदेश में विस्तृत प्रशासनिक व्यवस्था कायम की। उलुग़ खान को प्रदेश का विशिष्ट गर्वनर अथवा 'वायसरॉय' नियुक्त किया गया। संपूर्ण प्रदेश को 23 प्रांतों अथवा *इक्लीमों* में विभाजित किया गया। इनमें से अधिक महत्वपूर्ण जाजनगर (ओडिशा), मरहट (महाराष्ट्र), तेलंगाना, बीदर, कांपिली और द्वारसमुद्र थे। बाद में, मालवा भी दक्खन के गर्वनर के अधीन किया गया। प्रत्येक *इक्लीम* को कई ग्रामीण जिलों (*शिक़*) में विभाजित किया गया। राजस्व वसूली के लिए प्रत्येक *शिक़* को *हज़ारी* (एक हज़ार) और *सदी* (एक सौ) में विभाजित किया गया। मुख्य अधिकारी *शिक़दार, वली, अमीरान-ए हज़ाराह* और *अमीरान-ए सादाह* थे। राजस्व अधिकारी *मुतसर्रिफ, कारकुन, चौधरी,* इत्यादि कहलाते थे।

इस व्यवस्था में सर्वाधिक शक्तिशाली व्यक्ति दक्खन का 'वायसराय' होता था जो वास्तव में 23 प्रांतों वाले विशाल प्रदेश का स्वामी होता था। अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति जिसके पास विस्तृत अधिकार थे, *अमीरान-ए सादाह* होता था जिसके अधीन सौ गांव होते थे।

इस विस्तृत प्रशासनिक व्यवस्था के बावजूद सुल्तान का वास्तविक नियंत्रण निम्नलिखित कारणों से कमजोर थाः

- दिल्ली से दूरी,
- विषम भौगोलिक परिस्थितियाँ, और
- 'वायसरॉय' व अन्य अधिकारियों को प्राप्त विस्तृत अधिकार।

इन परिस्थितियों में दक्खन में नियुक्त अधिकारियों के केंद्र के साथ असंतोष से दिल्ली के साथ संबंधों के बिगड़ने का खतरा रहता था।

संकट का सूत्रपात

दक्खन को तुगलक शासन से मुक्त कराने में *अमीरान-ए सादाह* की भूमिका महत्वपूर्ण थी। उच्च-वंश के इन अधिकारियों के सैन्य अधिकारियों व राजस्व संग्रहकर्ताओं के रूप में दोहरे कर्तव्य थे। उनका अपने प्रदेश के लोगों के साथ सीधा संबंध था। दक्षिण में विद्रोह की झड़ी लगने पर मुहम्मद तुगलक ने इसके लिए इन *अमीरों* द्वारा हासिल विस्तृत अधिकारों को जिम्मेदार पाया। इसके फलस्वरूप उसने उन्हें दबाने की नीति का अनुसरण किया जिसने बदले में दक्खन में तुगलक वंश के पतन की शुरुआत की। हम संक्षेप में इस काल में हुए विभिन्न विद्रोहों और एक नए राज्य व नए वंश के उदय में उनके योगदान की चर्चा करेंगे।

केंद्र के विरुद्ध सबसे पहला विद्रोह 1327 में गुलबर्गा में सागर में हुआ। इसका नेतृत्व स्थानीय सरदारों व *अमीरों* के सहयोग से बहाउद्दीन गुरशस्प ने किया। विद्रोह को दबा दिया गया परंतु इसने राजधानी को दिल्ली की अपेक्षा अधिक केंद्रीय स्थान में स्थापित करने की जरूरत की ओर मार्ग प्रशस्त किया, जहां से दक्षिणी प्रांतों को नियंत्रित किया जा सके। इस प्रकार, मुहम्मद तुगलक ने 1328 में देवगिरि को साम्राज्य की दूसरी राजधानी बनाया। परंतु यह योजना असफल हुई क्योंकि उन्हीं सरदारों ने, जिन्हें दक्खन में केंद्रीय शक्ति मजबूत करने हेतु भेजा गया था, दिल्ली के नियंत्रण को कमजोर किया।

प्रथम बड़ा सफल विद्रोह माबार में हुआ। माबार के गर्वनर ने दौलताबाद के कुछ सरदारों के साथ सहयोग कर बगावत का झंडा उठाया। 1336-1337 में बीदर के गर्वनर ने भी विद्रोह किया परंतु इसे असफल कर दिया गया।

मुहम्मद तुगलक ने अनुभव किया कि दक्खन में तुगलक शासन के लिए खतरा उन पुराने कुलीन वंश के लोगों से है जिन्हें उसने दिल्ली से दक्षिण में भेजा था। इसके फलस्वरूप उसने इनको नए अमीरों द्वारा बदलने की नीति अपनाई जिससे यह उसके प्रति वफादार रहें। परंतु *अमीरान-ए सादाह* के विद्रोही रवैये की वजह से यह सफल नहीं हुआ और उन्होंने अंततः दक्खन में स्वतंत्र राज्य कायम करने में सफलता पाई।

1344 के लगभग दक्खन से मिलने वाली कुल राजस्व राशि में अत्यधिक गिरावट आई। मुहम्मद तुगलक ने दक्खन को 4 *शिक़ों* में विभाजित कर उन्हें नव-मुसलमानों के नेतृत्व में रखा जिन्हें बरनी 'नए अमीर' कहता है। इसे *अमीरान-ए सादाह* वर्ग द्वारा पसंद नहीं किया गया। 1345 में, गुजरात में नियुक्त सरदारों ने षड्यंत्र में शामिल होकर दिल्ली के विरुद्ध विद्रोह किया। मुहम्मद तुगलक को गुजरात की इस बगावत में *अमीरान-ए सादाह* की भूमिका को लेकर शक हुआ। मुहम्मद तुगलक ने, दक्खन के वायसरॉय को रायचूर, गुलबर्गा, बीजापुर, इत्यादि के *अमीरों* को भड़ौच आने का निर्देश जारी करने को कहा। *अमीरान-ए सादाह* ने मुहम्मद तुगलक के हाथों कठोर सजा के डर से दक्खन में तुगलक शासन पर चोट करते हुए स्वयं को दौलताबाद में स्वतंत्र घोषित किया और देवगिरि के वरिष्ठ अमीर नासिरउद्दीन इस्माइल शाह को अपना सुल्तान चुना।

दौलताबाद में अपने शासन की स्थापना के बाद, सर्वप्रथम गुलबर्गा को राज्य में मिलाया गया। दिल्ली सल्तनत का विरोध करने वालों में राजपूत, दक्खनी, मंगोल, गुजराती *अमीर* और तंजौर के राजा द्वारा भेजे गए सैनिक दल थे। अंत में उनकी जीत हुई। परंतु इस्माइल शाह ने हसन कंगू (अलाउद्दीन हसन बहमन शाह) के पक्ष में गद्दी छोड़ दी और इस प्रकार 1347 में दक्खन में बहमनी राज्य की नींव पड़ी। नए राज्य के अधीन दक्खन का संपूर्ण क्षेत्र था। अगले 150 वर्षों तक इस राजशाही ने दक्षिण की राजनीतिक गतिविधियों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।
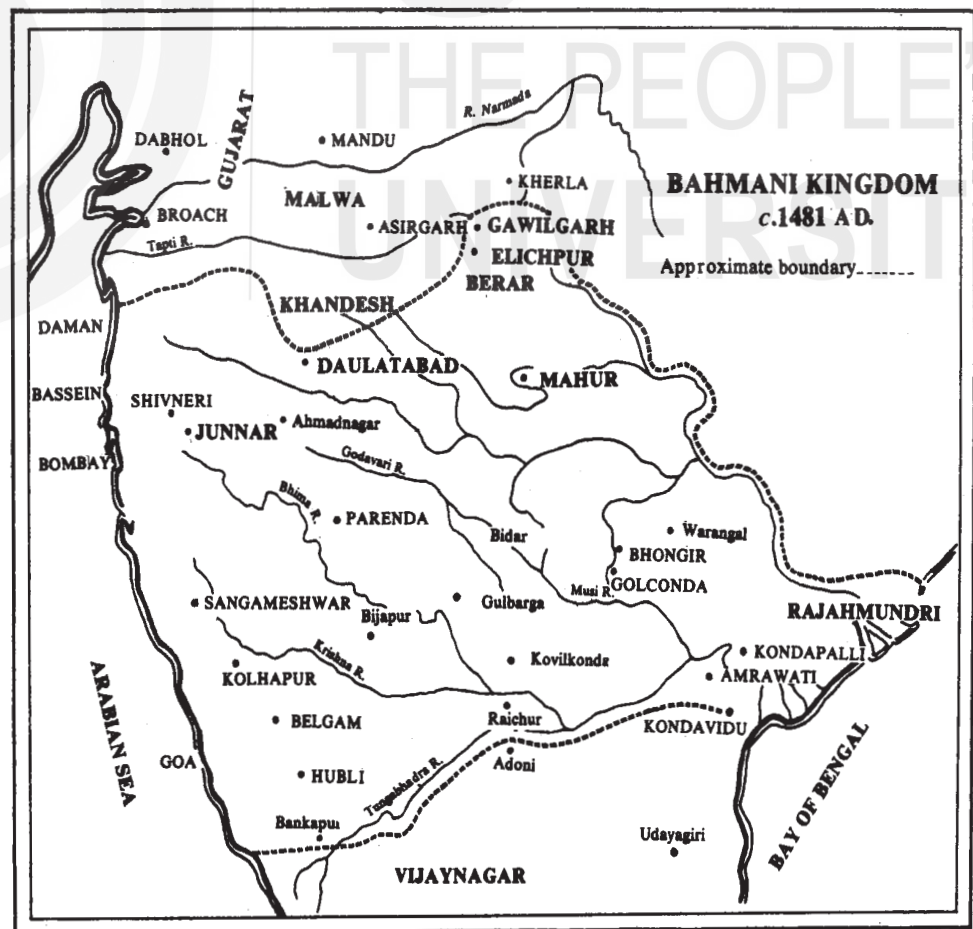
मानचित्र 4.2: बहमनी साम्राज्य, लगभग 1481 सी ई

स्रोतः ई एच आई-03: *भारतः 8वीं सदी से 15वीं सदी तक*, खंड 7, इकाई 28, पृ. 56

बहमनी राज्य के राजनीतिक विकास को दो चरणों में विभाजित किया जा सकता हैः प्रथम चरण (1347-1422) में गतिविधियों का केंद्र गुलबर्गा था। इसी चरण में प्रमुख विजयें हासिल की गईं जबकि द्वितीय चरण (1422-1538) में राजधानी बीदर स्थानांतरित हो गई, जो अपेक्षाकृत अधिक केंद्रीय स्थिति में थी और उपजाऊ थी। विजयनगर तथा बहमानी राज्यों के मध्य श्रेष्ठता के लिए संघर्ष इस काल में भी जारी रहा। इस चरण में अफाक़ियों और दक्खनियों के मध्य संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुंचा।

4.9 *अफाक़ियों* और *दक्खनियों* के मध्य संघर्ष एवं सम्राट के साथ उनके संबंध

अब तक हम देख चुके हैं कि अमीरों की भूमिका न केवल सल्तनत को सुदृढ़ बनाने के लिए थी बल्कि राजा-निर्माता के रूप में भी थी। प्रतीक सुल्तान की चाह अमीरों की वफादारी प्राप्त करना था। यही परंपरा बहमनी राज्य में भी जारी रही। अलाउद्दीन बहमन शाह के काल में ही हमें तीन गुट नजर आते हैंः एक वह गुट था जिसने दक्खन में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना में अलाउद्दीन बहमन शाह की सहायता की, दूसरा तुगलक गुट और तीसरे गुट में स्थानीय सरदार और उनके मातहत (vassal) थे, जिनके व्यक्तिगत स्वार्थ थे।

अलाउद्दीन मुज़ाहिद के काल (1375-1378) से अमीरों के इस संयोजन में एक नए घटक का आगमन हुआ, वह था – *अफाक़ी*। इस शब्द का अर्थ है 'सार्वभौमिक' – वे लोग जिन्हें मूलस्थान से उखाड़ दिया गया है और वे अब किसी प्रदेश से संबंधित नहीं हैं। उन्हें *गरीब-उद दियार* अर्थात 'अजनबी' भी कहा जाता था। *अफाक़ी* यहाँ ईरान, ट्रांसऑक्सियाना और ईराक से आए थे। *दक्खनियों* और *अफाक़ियों* के मध्य वास्तविक संघर्ष 1397 में ग़ियासुद्दीन तहमतान के काल में हुए जब उसने कई *अफाक़ियों* को उच्च पदों पर नियुक्त किया। उदाहरण के रूप में सलाबत खां को बरार का गर्वनर, मुहम्मद खान को *सर-ए नौबत* और अहमद बेग कज़वीनी को *पेशवा* बनाया गया। इन उच्च पदों पर, जो पहले *दक्खनियों* के हाथों में थे, *अफाक़ियों* की नियुक्ति ने पुराने अमीर वर्ग और तग़लचिन के नेतृत्व वाले तुर्की गुट में असीम असंतोष को जन्म दिया। तग़लचिन ने 1397 में इनके प्रभाव को कम करने में सफलता प्राप्त की जब उसने सफल षड्यंत्र कर ग़ियासुद्दीन को मरवा कर शम्सुद्दीन दाउद द्वितीय (1397) को एक 'कठपुतली' सुल्तान बनाया और स्वयं के लिए *मलिक नाएब* और *मीर जुमला* के पद हासिल किए। अहमद प्रथम (1422-1436) ने पहली बार एक अफाक़ी खलफ हसन बसरी (जिसकी मदद से उसे सिंहासन प्राप्त हुआ था) को *वकील-ए सल्तनत* के उच्चतम पद पर नियुक्त कर उसे *मलिक-उत तुज्जार* (व्यापारियों का शहज़ादा) की उच्चतम पदवी दी। *अफाक़ियों* की यह अद्भुत प्रगति उनके द्वारा *दक्खनियों* की तुलना में लगातार वफादारी के प्रदर्शन के कारण संभव हुई। *अफाक़ी* सैयद हुसैन बडखोही व साथियों ने ही अहमद प्रथम को अपने शासनकाल के प्रारंभिक वर्षों में विजयनगर अभियान के दौरान वहाँ से बच निकलने में सहायता प्रदान की थी। इसके परिणामस्वरूप अहमद प्रथम ने *अफाक़ी* तीरंदाज़ों की एक विशेष टुकड़ी तैयार की। उन्हें इसी प्रकार के अन्य लाभ भी मिलते रहे। इस नीति से *दक्खनियों* में बहुत असंतोष फैला।

इन दो गुटों के मध्य विवाद को अहमद के गुजरात के विरुद्ध मुहिम में देखा जा सकता है जब *दक्खनियों* के असहयोग के कारण *मलिक-उत तुज्जार* के नेतृत्व में बहमनी सेना को पराजय उठानी पड़ी। दोनों गुटों के बीच यह खाई अहमद द्वितीय के शासनकाल में और बढ़ी। खानदेश की सेनाओं के आक्रमण के समय *दक्खनियों* के असहयोग के कारण केवल *अफाक़ी* दलों को खलफ हसन बसरी के नेतृत्व में भेजा जा सका। हुमायूँ शाह (1458-1461) ने दोनों गुटों के मध्य सामंजस्यता लाने के प्रयास किए। अहमद तृतीय (1461-1465) के काल में, *दक्खनियों* ने शासन की पतवार *ख्वाजा-ए जहां* तुर्क, *मलिक-उत तुज्जार* और महमूद गावां के हाथों में देख अनुभव किया कि *अफाक़ियों* के हाथों में शक्ति केंद्रित थी। दूसरी तरफ, *अफाक़ी* इसलिए असंतुष्ट थे क्योंकि अहमद द्वितीय के अधीन उन्हें प्राप्त शक्तियों में, उसके उत्तराधिकारियों के काल में, बहुत कमी कर दी गयी। मुहम्मद तृतीय (1463-1482) के मुख्यमंत्री महमूद गावां ने भी दोनों गुटों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने के प्रयास किए। इसके परिणामस्वरूप, उसने मलिक हसन को तेलंगाना का *सर-ए लश्कर*

और फतउल्लाह को बरार के *सर-ए लश्कर* के पद पर नियुक्त किया। किंतु महमूद गावां स्वयं ज़रीफ-उल मुल्क दक्खनी और मिफ्ताह हब्शी के षड्यंत्रों का शिकार बना। इसके बाद गुटों का साम्य बिखर गया और बाद के कमजोर राजा एक या दूसरे गुट के हाथों में कठपुतली मात्र बनते चले गए।

शिहाबुद्दीन महमूद के शासनकाल (1482-1512) में संघर्ष चरमोत्कर्ष पर पहुंचा। जबकि राजा का *अफाक़ियों* के प्रति स्पष्ट झुकाव था, *दक्खनियों* ने हब्शी (अबीसीनियाई) गुट से दोस्ती की। हब्शी गुट ने 1487 में राजा को मारने का एक दुस्साहसिक प्रयास किया किंतु यह असफल रहा। इसके परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में *दक्खनियों* का कत्ले-आम प्रारंभ हुआ जो तीन दिनों तक जारी रहा। इन गुटों के झगड़ों ने केंद्र को कमजोर कर दिया था। शिहाबुद्दीन का शासनकाल कासिम बरीद, मलिक अहमद, निज़ाम-उल मुल्क, बहादुर गिलानी आदि के विद्रोहों और षड्यंत्रों से त्रस्त रहा। शिहाबुद्दीन की मृत्यु (1518) ने इन सरदारों को अपने प्रांतों में लगभग खुली छूट प्रदान की। अंत में, बीजापुर के इब्राहिम आदिल शाह ने सर्वप्रथम 1537 में अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की। इस प्रकार बहमनी सल्तनत के क्षेत्रीय विखंडन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई।

4.10 बहमनी साम्राज्य में केंद्रीय एवं प्रांतीय प्रशासन

बहमनी शासकों ने दिल्ली सुल्तानों की प्रशासनिक व्यवस्था का अनुकरण किया। शासन की बागडोर राजा के हाथों में थी और उसकी सहायता के लिए *वकील, वज़ीर, बख्शी* और *काज़ी* थे। इनके अलावा *दबीर* (सचिव), *मुफ्ती* (कानून की व्याख्या करने वाला), *कोतवाल* और *मुहतसिब* (जन-आचरण पर अंकुश रखने वाले) होते थे। *मुनहियानों* (जासूसों) को न केवल राज्य के हर भाग में नियुक्त किया जाता था, बल्कि इस बात के प्रमाण हैं कि मुहम्मद प्रथम के शासनकाल में उन्हें दिल्ली में भी नियुक्त किया गया।

मुहम्मद प्रथम के शासनकाल में बहमनी राज्य को चार *तरफों* या प्रांतों में बांटा गया, ये थे — दौलताबाद, बरार, बीदर और गुलबर्गा। इन प्रांतों के शासन का प्रमुख *तरफदार* कहलाता था। गुलबर्गा के महत्व को देखते हुए केवल बहुत ही विश्वसपात्र अमीरों की नियुक्ति वहाँ की जाती थी जिन्हें *मीर नायब* (वायसरॉय) कहा जाता था। ये अन्य प्रांतों के गर्वनरों (*तरफदारों*) से भिन्न थे। कालांतर में, राज्य की सीमाओं के विस्तार के साथ, महमूद गावां ने साम्राज्य को आठ प्रांतों में विभाजित किया। साम्राज्य के कुछ क्षेत्रों को सुल्तान द्वारा सीधे अपने नियंत्रण में (*खासा-ए सुल्तानी*) रखा गया।

4.11 बहमनी साम्राज्य में सैन्य संगठन

सेना का सेनापति *अमीर-उल उमरा* होता था। सेना में मुख्यतः सिपाही और घुड़सवार होते थे। हाथियों का प्रयोग भी प्रचलित था। शासक-गण बड़ी संख्या में अंगरक्षकों को रखते थे, जो *खासाखेल* कहलाते थे। ऐसा कहा जाता है कि मुहम्मद प्रथम के पास 4000 अंगरक्षक थे। इसके अतिरिक्त, *सिलहदार* होते थे जो राजा के व्यक्तिगत शस्त्रागार के प्रभारी का कार्य करते थे। आवश्यकता पड़ने पर *बरबरदानों* को सेना की लामबंदी के लिए कहा जाता था। बहमनी सेना की प्रमुख विशेषता बारूद का प्रयोग था जो सेना के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ।

इटली के यात्री, निकोलो कोंटी, जिसने 15वीं शताब्दी में भारत की यात्रा की थी, लिखा है कि उनकी सेना भालों, तलवारों, विभिन्न हथियारों, ढालों, धनुषों और बाणों का प्रयोग करती थी। वह आगे वर्णन करता है कि वे 'प्राक्षेपिक और गोलाबारी की मशीनों और साथ ही घेराबंदी के हथियारों का प्रयोग करते थे'। 1500-1517 के दौरान भारत-यात्रा पर आये दुआर्ते बारबोसा ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किए हैं कि वे गदाओं, फरसों, धनुषों और बाणों का प्रयोग करते थे। वह आगे लिखते हैं: 'वे (मुस्लिम) ऊंची काठी पर बने आसनों पर सवार... काठी से बंधे हुए लड़ते हैं... हिंदू... अधिकतर पैदल लड़ते हैं, जबकि कुछ घोड़ों की पीठ पर...'। महमूद गावां ने सैन्य प्रशासन को कारगर बनाया। पूर्व में *तरफदारों* को किलों के किलेदार नियुक्त करने का पूर्ण अधिकार था। गावां ने एक किले को एक *तरफदार* के क्षेत्राधिकार के अंतर्गत रखकर, एक ही प्रांत के बाकी अन्य सभी किलों को केंद्रीय नियंत्रण में ले लिया। भ्रष्टाचार पर अंकुश हेतु, उसने एक

नियम बनाया कि प्रत्येक अधिकारी को उसके द्वारा संचालित प्रत्येक 500 सिपाहियों के हिसाब से एक निश्चित रकम दी जाए। जब इस अधिकारी को नकद वेतन की जगह एक क्षेत्र से राजस्व वसूलने का अधिकार दिया जाता था तो उसे राजस्व वसूलने में होने वाला खर्चा नकद धन के रूप में अलग से दिया जाता था। यदि वह नियत संख्या में सिपाहियों को रखने में असफल होता था तो उसे उसी अनुपात में रकम राजकोष में वापस करनी होती थी।

4.12 दक्खन में राजनीतिक संरचनाएँ

बहमनी सत्ता के पतन ने दक्खन में पांच राज्यों के उदय का रास्ता तैयार किया। *अफाक़ी* कुलीन महमूद गावां की मृत्यु से दक्खन में बहमनी सत्ता को काफी धक्का पहुंचा था और अंततः बहमनी शासक महमूद शाह (1482-1518) की मृत्यु के साथ बहमनी शासन का अंत हुआ। इस पतन का निर्णायक कारक *अफाक़ियों* व *दक्खनियों* के बीच लंबे समय से चला आ रहा टकराव था। ये दोनों ही समुदाय असंतुष्ट थे। उदाहरण के लिए, *दक्खनियों* ने *अफाक़ियों* को अतिरिक्त रियायतें देने के लिए सुल्तान को दोषी ठहराया जबकि *अफाक़ियों* का विचार था कि उनकी स्थिति अब उतनी सुरक्षित एवं स्थिर नहीं रह गई है।
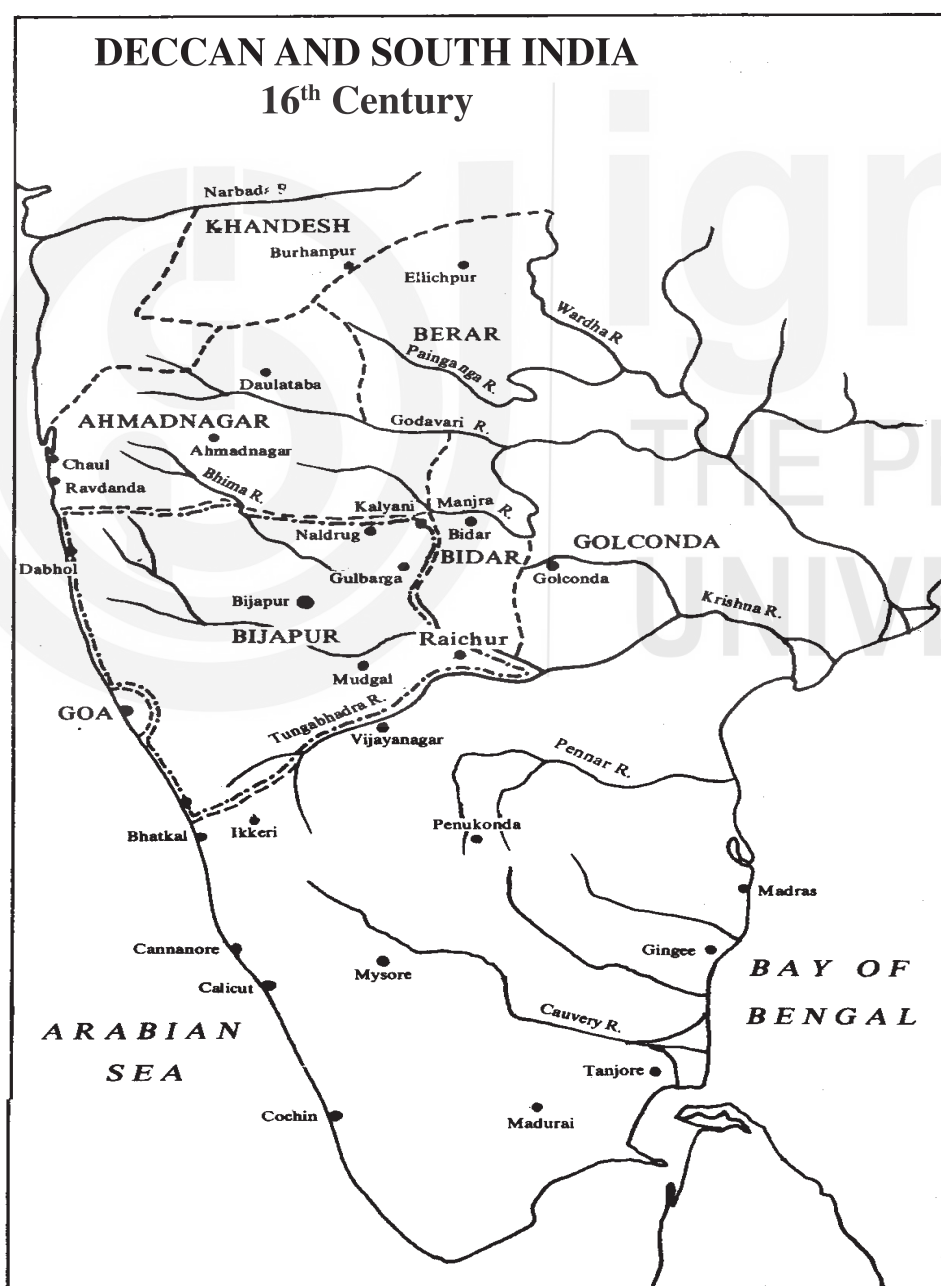
मानचित्र 4.3: 16वीं शताब्दी में दक्खन और दक्षिण भारत

स्रोत : ई एच आई-04 *भारतः 16वीं से 18वीं शताब्दी के मध्य तक*, खंड 1, इकाई 3, पृ. 33

ये कारक जिन्होंने दक्खन राज्यों की स्थापना में अपना योगदान किया था बहमनी शासन के दौरान ही उभरना शुरू हो गए थे। बहमनी शासन पराभव की तरफ बढ़ रहा था। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि सभी दक्खनी राज्यों के संस्थापक किसी न किसी समय पर बहमनी कुलीन रहे थे तथा जिन्होंने किसी ना किसी बहमनी शासक की सेवा की थी। उदाहरण के लिए, यूसुफ आदिल शाह जिसने 1489 में बीजापुर में आदिलशाही वंश की स्थापना की थी बीजापुर का *तरफ़दार* रहा था। अहमदनगर (1496) में निज़ामशाही राज्य का संस्थापक निज़ाम शाह बहरी, सहयाद्री पर्वत श्रेणियों में दुर्गों का प्रभारी रहा था। बीदर (1504) में बरीद शाही वंश के संस्थापक कासिम बरीद-उल ममालिक़ ने बीदर के *कोतवाल* के साथ-साथ *वकील* के रूप में भी महमूद शाह के शासनकाल में सेवा की थी। बरार (1510) में इमाद शाही वंश के संस्थापक फतहउल्लाह इमाद शाह ने बरार के *तरफ़दार* के रूप में सेवा की थी और कुतब शाही वंश की गोलकुंडा (1543) में स्थापना करने वाले कुली कुतबुलमुल्क ने तेलंगाना की गवर्नरशिप संभाली हुई थी।

बहमनी राज्यों के पतन के बाद उभरे पांच राज्यों में से तीन – बीजापुर, बीदर तथा गोलकुंडा के संस्थापक *अफाक़ी* कुलीन थे। अहमदनगर तथा बरार *दक्खनी* कुलीनों के अधीन थे। किंतु *अफाक़ी-दक्खनी* कारक शायद ही उनके पारस्परिक संबंधों पर हावी रहा हो। इसकी बजाय यह इस बात पर अधिक आधारित था कि उन्हें अपने हितों, परिस्थितियों तथा समय की आवश्यकताओं के अनुकूल क्या ठीक लगा। तदनुसार कोई *अफाक़ी* राज्य किसी एक *अफाकी* राज्य के खिलाफ किसी अन्य *दक्खनी* राज्य तक से हाथ मिलाता रहा या इसके विपरीत भी होता रहा।

16वीं शताब्दी के दक्खन राज्यों के इतिहास का अध्ययन अलग-अलग करके नहीं किया जा सकता। प्रत्येक राज्य अन्य राज्य की कीमत पर अपने शासन का विस्तार करना चाहता था जिसके परिणामस्वरूप गठजोड़ एवं जवाबी गठजोड़ एक नियमित लक्षण बने रहे।

जैसा कि बार-बार इंगित किया गया है भौगोलिक स्थिति ने दक्खन की राजनीति में निर्णायक भूमिका अदा की। अहमदनगर (उत्तर में), गोलकुंडा (पूर्व में) तथा बीजापुर (दक्षिण में) की भौगोलिक स्थिति इस तरह की थी कि उसने, उन्हें उत्तर तथा दक्षिण की तरफ विस्तार के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान किया। अतः इन राज्यों के पास शक्ति अर्जित करने का प्राकृतिक लाभ बना रहा। बीदर एवं बरार (जो कि मध्य दक्खन में स्थित थे) पिस गए क्योंकि वे शक्ति गुटों के बीच में स्थित थे। वे किसी न किसी दक्खनी सत्ता के हाथों की कठपुतली मात्र बनकर रह गए। शायद निष्ठाएं बदलते रहना ही उनके अस्तित्व के लिए एकमात्र रणनीति थी।

बीजापुर (जो कि उत्तर में अहमदनगर, पूर्व में बीदर तथा दक्षिण में विजयनगर और उसके उत्तराधिकारी नायक राज्यों से घिरा हुआ था) में कृष्णा-तुंगभद्रा दोआब के उपजाऊ मैदानी क्षेत्रों को प्राप्त करने की लालसा थी जिससे दक्षिण भारतीय राज्यों तथा बीदर एवं गोलकुंडा के हितों पर सीधी चोट पहुंची। पुनः शोलापुर एवं नालदुर्ग में बीजापुर के हित ही अहमदनगर के साथ हुए टकराव के पीछे प्रमुख कारण थे। गोलकुंडा के लिए (जो कि उत्तर में बरार, पश्चिम में बीदर तथा दक्षिण में विजयनगर एवं उसके उत्तराधिकारी राज्यों से घिरा हुआ था) बीदर एवं बरार का अस्तित्व गोलकुंडा एवं बीजापुर तथा अहमदनगर एवं गोलकुंडा के बीच प्रतिरोधक के तौर पर काम करने के लिए काफी महत्व रखता था। गोलकुंडा ने मुदगल एवं रायचूर दोआब में अपनी महत्वाकांक्षी योजनाओं के लिए अहमदनगर से सहायता लेना बेहतर समझा। दूसरी तरफ नालदुर्ग, शोलापुर तथा गुलबर्गा पर बीजापुर की आक्रमक योजनाओं के खिलाफ अहमदनगर को भी गोलकुंडा की मदद की जरूरत थी। बरार लगातार पश्चिम में अहमदनगर के साथ तथा दक्षिण में गोलकुंडा के साथ टकराव में उलझा रहा। गठबंधन करने के लिए केवल बीजापुर राज्य ही शेष बचा था, इसलिए 16वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बीजापुर-बरार गठबंधन अधिक समय तक कायम रहा। किंतु शताब्दी के उत्तरार्ध में धीरे-धीरे परिस्थिति बदल गई। इसकी वजह यह थी कि बीजापुर के हित गोलकुंडा तथा विजयनगर के विरुद्ध टकराव की स्थिति में अहमदनगर तथा बीदर का समर्थन जुटाने पर अधिक जोर देते थे। 1574 में बरार पर कब्जा करने में बीजापुर ने मुर्तज़ा निज़ाम शाह की मदद की। 1619 में बीजापुर ने बीदर पर कब्जा कर लिया। हालांकि मुगलों के उदय के साथ ही दक्खन के परिदृश्य में जबरदस्त बदलाव आया जिन्होंने 1595 में अहमदनगर पर आक्रमण किया। इस आक्रमण ने दक्खनी राज्यों को नए समझौते तथा संतुलन तलाश करने के लिए विवश किया (विस्तृत जानकारी के लिए **इकाई 6** देखें)।

बोध प्रश्न-3

1) तुगलक शासन से दक्खन को मुक्त करने में *अमीरान-ए सादाह* की भूमिका का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

2) हम कैसे कह सकते हैं कि *अफाक़ियों* और *दक्खनियों* के मध्य संघर्ष ने अंततः बहमनी राज्य के भविष्य पर मुहर लगा दी?

....

....

....

....

3) महमूद गावां द्वारा प्रशासन और सेना के संगठन में कौन-कौन से मुख्य परिवर्तन किए गए?

....

....

....

....

4) निम्नलिखित का मिलान कीजिएः

क		ख	
1)	बीजापुर	क)	निज़ाम शाही
2)	गोलकुंडा	ख)	ब़रीद शाही
3)	बरार	ग)	आदिल शाही
4)	बीदर	घ)	इमाद शाही
5)	अहमदनगर	ङ.)	कुतब शाही

5) निम्नलिखित में से सही या गलत वक्तव्यों के संदर्भ में सही/गलत लिखेंः

क) निज़ाम शाही शासक रायचूर दोआब पर कब्जा करना चाहते थे। ( )

ख) *अफाकी-दक्खनी* कारक द्वारा दक्खन में उत्तर-बहमनी राजनीति में शायद ही कोई उल्लेखनीय भूमिका निभाई गई हो। ( )

ग) 1550 के बाद बीजापुर के बरार के साथ संबंधों में परिवर्तन आया। ( )

घ) गोलकुंडा मुदगल तथा शोलापुर पर कब्जा करना चाहता था। ( )

4.13 सारांश

विजयनगर राज्य का अध्ययन यह प्रदर्शित करता है कि मुख्य संघर्ष विजयनगर और बहमनी के मध्य था। इस संघर्ष के केंद्र कृष्णा-गोदावरी डेल्टा, कावेरी बेसिन, तुंगभद्रा दोआब और कोंकण प्रदेश थे। विजयनगर राजत्व परिधीय क्षेत्रों में प्रतीकात्मक था, जिस पर शासक अपने अधिपतियों के द्वारा नियंत्रण रखते थे। ब्राह्मण धार्मिक मार्गदर्शक से अधिक राजनीतिक और धर्मनिरपेक्ष कार्मिक थे। विजयनगर शक्ति का आधार उसकी दो प्रमुख राजनीतिक संस्थाएँ *नायनकार* और *आयगार* थीं।

हमने यह भी देखा कि किस प्रकार *अमीरान-ए सादाह* एक स्वतंत्र बहमनी राज्य स्थापित करने में सफल हुए। अपने विकास-काल में उनका विजयनगर, मालवा और तेलंगाना के शासकों के साथ निरंतर संघर्ष चला। हमने यह भी देखा कि किस प्रकार *अफाक़ियों* और *दक्खनियों* के मध्य विवाद ने बहमनी सल्तनत के पतन का मार्ग प्रशस्त किया। जहाँ तक प्रशासनिक व्यवस्था का

प्रश्न है, वह पदवियों, नामावली और महमूद गावां के भूमि के नाप संबंधी सुधारों को छोड़कर, दिल्ली सल्तनत से अधिक भिन्न नहीं थी।

4.14 शब्दावली

अमरम्	सेनानायकों को प्रदत्त गांव
अफाक़ी	शाब्दिक अर्थ सार्वभौमिक; *अफाक* से; नया कुलीन वर्ग (ईरान, इराक और ट्रांसऑक्सियाना से आए)
भंडारवड़ा	गांव की शाही भूमि
दक्खनी	पुराना दक्खनी कुलीन वर्ग
देवदान	मंदिरों को प्राप्त गांव
दसावंदा **और** *कट्टू कोडगे*	सिंचाई निवेश से प्राप्त आय
मलिक-उत तुज्जार	व्यापारियों में सर्वश्रेष्ठ (राजकुमार)
नाडु	किसान सभा या संगठन
नायक	योद्धा प्रमुख
सभा	ब्राह्मण सभा
शिक़	जिले के समान एक प्रशासनिक इकाई
तरफदार	प्रांतीय गर्वनर

4.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) भाग 4.2 देखें
2) उप-भाग 4.3.1 देखें
3) उप-भाग 4.3.4 देखें
4) उप-भाग 4.3.6 देखें

बोध प्रश्न-2

1) देखें उप-भाग 4.4.1 एवं 4.4.2
2) देखें भाग 4.4 और 4.5
3) देखें उप-भाग 4.5.1
4) देखें भाग 4.6
5) देखें भाग 4.7

बोध प्रश्न-3

1) देखें भाग 4.8
2) देखें भाग 4.9
3) देखें भाग 4.10 और 4.11
4) 1) आदिल शाही 2) कुतुब शाही 3) बरीद शाही 4) इमाद शाही 5) निज़ाम शाही
5) i) गलत ii) सही iii) सही iv) गलत

4.16 संदर्भ ग्रंथ

महालिंगम, टी. वी., (1970) *एडमिनिस्ट्रेशन एंड सोशल लाइफ अंडर विजयनगर* (मद्रासः यूनिवर्सिटी ऑफ मद्रास).

पांडे, अवध बिहारी, (1970) *अर्ली मिडिवल इंडिया* (इलाहाबादः सेंटर बुक डिपो).

नीलकंठ, शास्त्री, (1960) *हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडिया फ्रॉम प्रीहिस्टोरिक टाइम्स टू द फॉल ऑफ विजयनगर* (लंदनः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

4.17 शैक्षणिक वीडियो

द विजयनगर एंपायर हिस्ट्री । पी डी एफ विज्यूएल्स
https://www.youtube.com/watch?v=yN7P2qefiFk

फोर्ट्स ऑफ इंडिया – बीजापुर – एपिसोड। 5। दूरदर्शन नेशनल
https://www.youtube.com/watch?v=pUXSz2Gw1MQ

स्पेशल रिपोर्टः हंपी – ज्वेल ऑफ विजयनगर एंपायर
https://www.youtube.com/watch?v=icF4uuppzTU

इकाई 5 प्रारंभिक मुगल और अफगान*

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आपः

- सिकंदर लोदी की राजनीतिक सत्ता की प्रकृति का वर्णन कर सकेंगे,
- इब्राहिम लोदी की समस्याओं का उल्लेख कर सकेंगे,
- मुगल साम्राज्य की स्थापना में बाबर की आरंभिक कठिनाइयों की चर्चा कर सकेंगे,
- लोदी सुल्तानों के अधीन प्रशासनिक ढांचे पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- बाबर के आक्रमण की पूर्व संध्या पर भारत की राजनीतिक स्थिति के विषय में समझ सकेंगे,

---

***प्रो. इक्तिदार हुसैन सिद्दीकी, इतिहास विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़; और डॉ. मीना भार्गवा, इतिहास विभाग, इंद्रप्रस्थ कॉलेज, दिल्ली। यह इकाई इग्नू के पाठ्यक्रम ई एच आई.-04ः *भारतः 16वीं सदी से 18वीं सदी के मध्य तक,* खंड 1, इकाई 2 तथा खंड 2, इकाई 5 से ली गई है।**

- लोदी शासकों के विरुद्ध बाबर के सफलतम अभियानों की चर्चा कर सकेंगे,
- स्थानीय शासक वर्ग विशेष रूप से अफगानों तथा राजपूतों के साथ मुगलों के संघर्ष एवं उनकी विजय के विषय में समझ सकेंगे,
- शेरशाह द्वारा हुमायूँ की पराजय के कारणों को रेखांकित कर सकेंगे,
- शेरशाह के उत्थान तथा सुदृढ़ीकरण के बारे में जान सकेंगे, और
- उन परिस्थितियों तथा कार्यों को, जिनके द्वारा हुमायूँ के नेतृत्व में मुगल शासन की पुनः स्थापना हुई, समझ सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

उत्तर भारत में 16वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजनीतिक अव्यवस्था और अनिश्चितता का माहौल था। इस काल में कई शासक राजवंश उभरे और विभिन्न शासक वर्गों का उदय हुआ। भारत में मुगलों का आगमन इसमें सबसे महत्वपूर्ण घटना थी। इसने आने वाले 200 वर्षों तक भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, अर्थव्यवस्था और समाज को काफी हद तक प्रभावित किया। इस इकाई में हम 16वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे। यहां हमारा उद्देश्य आपको उस राजनीतिक और आर्थिक पृष्ठभूमि से परिचित कराना है, जिसमें शक्तिशाली मुगल साम्राज्य ने भारत में अपने को स्थापित किया।

सबसे पहले हम इस काल में हुई राजनीतिक गतिविधियों की चर्चा करेंगे। हम अपनी बात अफगानों के लोदी राजवंश से शुरू करेंगे। इसके बाद हम देखेंगे कि किस प्रकार मुगलों ने अफगानों को हराया और अपनी राजनीतिक सत्ता स्थापित की। इसके बाद अफगानों द्वारा मुगलों को पदस्थ करने का मुद्दा सामने आएगा। इस इकाई के अंत में हुमायूं की वापसी और सत्ता की पुनर्स्थापना की चर्चा की जाएगी। इस काल में अफगानों के तहत प्रमुख आर्थिक गतिविधियों की भी चर्चा की जाएगी। हमें आशा है कि यह इकाई मुगलकालीन राजनीति को समझने में सहायक होगी। यहाँ मुगल सत्ता को उखाड़ फेंकने के अफगान प्रयत्नों का भी विवरण किया गया है। अफगान शासन का संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया गया है। यह इकाई मुख्यतः बाबर तथा हुमायूँ के नेतृत्व में किए क्षेत्रीय प्रसार का विवरण प्रस्तुत करती है। मुगल शासन के संगठनात्मक पक्षों का विवरण आगामी इकाइयों में किया जाएगा।

5.2 लोदी साम्राज्य

15वीं शताब्दी का अंत होते-होते बहलोल लोदी ने दिल्ली में लोदी राजवंश की स्थापना सुदृढ़ रूप से कर दी थी। उसने उत्तर भारत के बड़े हिस्से को अपने कब्जे में ले लिया था। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र सिकंदर लोदी गद्दी पर बैठा।

5.2.1 सिकंदर लोदी

16वीं शताब्दी में सुल्तान सिकंदर लोदी के नेतृत्व में उत्तर भारत में लोदी साम्राज्य उत्कर्ष पर पहुंच गया। 1496 में जौनपुर के भूतपूर्व शासक हुसैन शर्की को दक्षिण बिहार से खदेड़ दिया गया और उनके राजपूत सरदार सहयोगियों को या तो समझौते के लिए मजबूर कर दिया गया या परास्त कर दिया गया। उनकी *ज़मींदारियों* को या तो सुल्तान के सीधे नियंत्रण में ले लिया गया या उसका दर्जा अधीनास्थ राज्य का हो गया। इसी प्रकार से सुल्तान की सत्ता को चुनौती देने वाले अफगान और गैर-अफगान सरदारों को दिल्ली और उसके आसपास के इलाकों से खदेड़ दिया गया। 16वीं शताब्दी के प्रथम दशक में धौलपुर पर कब्जा होने के बाद राजपूताना और मालवा प्रदेशों में अफगान शासन के विस्तार का रास्ता प्रशस्त हो गया। नरवर और चंदेरी के किलों को जीत लिया गया। नागौर के ख़ानज़ादाओं ने 1510-1511 में लोदी सुल्तान की अधीनता स्वीकार कर ली। संक्षिप्त में, संपूर्ण उत्तर भारत, उत्तर-पश्चिम में पंजाब से लेकर पूर्व में उत्तर-बिहार के सारन और चंपारन तक और चंदेरी से लेकर दिल्ली के दक्षिण तक का क्षेत्र लोदी साम्राज्य की परिधि में आ गया था।
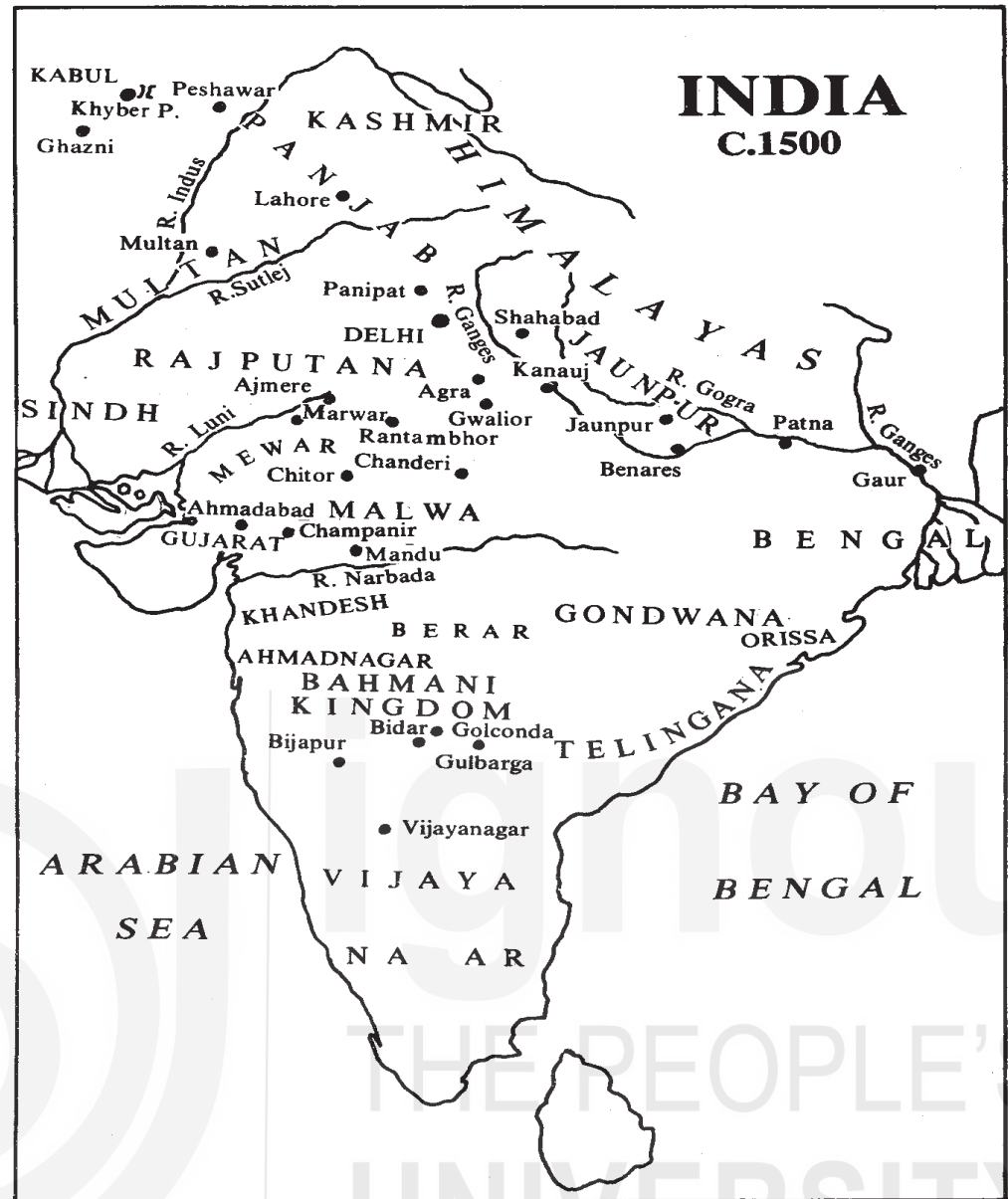
मानचित्र 5.1: भारत लगभग 1500 सी ई में

स्रोत: ई एच आई-04: *भारत: 16वीं सदी से 18वीं सदी के मध्य तक,* खंड 1, इकाई 2, पृ. 20

5.2.2 इब्राहिम लोदी

अपने पिता के विपरीत, सुल्तान इब्राहिम लोदी (1517-1526) को 1517 में गद्दी पर बैठते ही अफगान सरदारों की दुश्मनी का सामना करना पड़ा। उसने अपने को शक्तिशाली सामंतों से घिरा पाया, जो अपनी शक्ति बढ़ाने के चक्कर में केंद्रीय सत्ता को कमजोर बनाना चाहते थे। उसके पिता को अपने भाइयों व संबंधियों से लड़ना पड़ा था। इस लड़ाई में उन सरदारों ने उसके पिता का समर्थन किया, जो राजकुमारों को समृद्ध प्रांतों से हटाना चाहते थे। सुल्तान सिकंदर की मौत के बाद सरदारों ने सुल्तान इब्राहिम लोदी और उसके छोटे भाई राजकुमार जलाल खां लोदी (कालपी का गवर्नर) के बीच साम्राज्य का बंटवारा करने का निर्णय लिया।

सुल्तान इब्राहिम को यह बंटवारा मानने के लिए मजबूर किया गया जिससे स्वाभाविक रूप से केंद्र कमजोर हुआ। कुछ समय बाद, ख़ान-खानान नुहानी जैसे बुजुर्ग सरदारों ने, जो नए शासक को नज़राना पेश करने आए थे, बंटवारे के समर्थकों की आलोचना की। उन्होंने कहा कि यह विभाजन साम्राज्य के लिए घातक है। उन्होंने सुल्तान से विभाजन को निरस्त करने का आग्रह किया। उनके सुझाव पर सुल्तान इब्राहिम ने वरिष्ठ सरदारों को राजकुमार जलाल के पास भेजा। उनका उद्देश्य राजकुमार को अपने दावे को वापस करने के लिए और अपने बड़े भाई को सुल्तान के रूप में स्वीकार करने के लिए राज़ी करना था। ये प्रयत्न असफल रहे और इससे उत्तराधिकार का संकट उत्पन्न हो गया।

इस मोड़ पर अपने भाई की अपेक्षा सुल्तान इब्राहिम अधिक शक्तिशाली प्रतीत हो रहा था। अतः पुराने सरदार उससे जुड़े रहे। हालांकि कड़ा के गवर्नर आज़म हुमायूं सरवानी और उसके पुत्र फतह खां सरवानी जैसे कुछ अपवाद भी थे। वे कुछ देर के लिए ही सही, पर जलाल खां से जुड़े रहे। जब सुल्तान ने व्यक्तिगत रूप से उनके विरुद्ध मार्च किया तो दोनों ने जलाल खां को छोड़ दिया और सुल्तान से जा मिले।

सुल्तान ने आज़म हुमायूँ सरवानी को ग्वालियर के राजा विक्रमजीत के खिलाफ युद्ध करने के लिए भेजा क्योंकि जलाल खां ने वहाँ शरण ले रखी थी। जलाल खां ग्वालियर से मालवा की ओर भागा, पर वह गोंडों द्वारा पकड़ा गया और उसे बंदी बनाकर सुल्तान के पास आगरा भेज दिया गया। हालांकि ग्वालियर से उसके भागने पर सुल्तान को अपने पुराने सरदारों पर शक होने लगा। आज़म हुमायूँ को बुलाया गया और उसे कैदखाने में डाल दिया गया। ग्वालियर के राजा ने सरदारों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया और सुल्तान की सेवा में शामिल होने के लिए तैयार हो गया। उसे *इक्ता* के रूप में शमसाबाद (फर्रुखाबाद ज़िला) का इलाका दिया गया। इसी समय प्रतिष्ठित ***वज़ीर*** मियां भुआ पर भी सुल्तान का विश्वास उठ गया और उसे कैद कर लिया गया। सरदारों को कैद किए जाने से पूर्व क्षेत्र में विद्रोह की लहर फैल गई।

सुल्तान ने अपने विश्वासपात्रों को दरबार में महत्वपूर्ण पद दिए और अन्य को प्रांतों का गवर्नर बनाकर भेजा। इसके परिणामस्वरूप पुराने सामंतों को अपने भविष्य की चिंता होने लगी और वे प्रांतों में अपनी शक्ति मजबूत करने लगे। बिहार का शक्तिशाली गवर्नर दरिया खां नूहानी पूर्वी क्षेत्र के असंतुष्ट सरदारों का रहनुमा बन गया। लगभग इसी समय बाबर ने भेरा ***सरकार*** पर कब्जा जमा लिया और सतलज पार पंजाब का सर्वाधिक शक्तिशाली गवर्नर दौलत खां लोदी उसे मुक्त कराने में सफल नहीं हुआ। दौलत खां को दरबार में पेश होने का हुक्म मिला, पर उसने इससे इंकार कर दिया और लाहौर में सुल्तान के खिलाफ बगावत कर दी। उसने सुल्तान इब्राहिम के चाचा आलम खां लोदी (बलहोल लोदी का बेटा) को भी आमंत्रित किया और उसे सुल्तान अलाउद्दीन के नाम से नया सुल्तान घोषित कर दिया। इन्होंने सुल्तान इब्राहिम के खिलाफ काबुल के शासक बाबर के साथ संधि की। इब्राहिम लोदी के खिलाफ राणा संग्राम सिंह और बाबर के बीच भी लगभग संधि हो गई थी।

5.3 प्रशासनिक ढांचा

इस काल के दौरान कई नए प्रशासनिक कदम उठाए गए। अफगान राजत्व ने तुर्की अवधारणा को पीछे छोड़ दिया और नयी अवधारणाएँ सामने आयीं। इस बदलाव का प्रतिफलन लगभग सभी प्रशासनिक नीतियों के निर्माण में देखा जा सकता है।

5.3.1 राजत्व की प्रकृति

तुर्की सुल्तानों का राजत्व विशिष्ट रूप से केंद्रीकृत था। सुल्तान के पास निरंकुश शक्तियाँ थीं। हालांकि अफगान शक्ति के उदय के साथ राजतंत्र की प्रकृति में भी स्पष्ट बदलाव नजर आता है। अफगान राजतंत्र मूलतः अपनी प्रकृति में 'कबीलाई' था। उनके लिए राजा अन्य के साथ बराबरी का स्थान रखता था, पर वह 'उन सब में प्रथम स्थान का अधिकारी' ('first among equals') था।

वस्तुतः राजनीतिक कुशलता की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। एक अफगान होने के नाते बहलोल तुर्कों से सहयोग की उम्मीद नहीं रख सकता था। उसे वस्तुतः अपने साथी अफगानों की शर्तों को मानना पड़ता था। अफगान सरदार निश्चित रूप से पूर्ण स्थानीय स्वायत्तता का उपभोग करते थे। उनके और सुल्तान के बीच एक ही समझौता था कि जब कभी सुल्तान को सैन्य सहायता की आवश्यकता होगी, वे अपने सुल्तान की मदद करेंगे। बहलोल की स्थिति यह थी कि वह अपने साथी अफगानों के समक्ष कभी भी सिंहासन पर नहीं बैठा था और न ही उसने खुला *दरबार* आयोजित करने की चेष्टा की। वह अपने अफगान सरदारों को *मसनद-ए आली* कहकर सम्मान से संबोधित किया करता था।

लेकिन सुल्तान सिकंदर लोदी के समय में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। सिकंदर लोदी अनियंत्रित सरदारों के खतरे से पूरी तरह वाकिफ था। उसे इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि उसने कुछ महत्वपूर्ण बदलाव लाकर अपने साम्राज्य में केंद्रीकृत सत्ता की स्थापना की।

अपने पिता सुल्तान बहलोल लोदी के विपरीत सुल्तान सिकंदर लोदी ने अपने सरदारों से आज्ञा पालन की अपेक्षा की। उसके सैनिक अभियानों और विजयों के कारण सरदार उसके प्रति पूरी तरह वफादार और आज्ञाकारी बने रहे। इससे सुल्तान के साथ समानता की भावना को भी धक्का पहुंचा। वह खुले दरबार आयोजित करता था, सिंहासन पर बैठता था और उसके सरदार सेवकों की तरह सुल्तान को सम्मान देने की मुद्रा में खड़े रहते थे। यहाँ तक कि उसकी अनुपस्थिति में भी उच्च अमीर बड़े सम्मान से *फरमान* ग्रहण किया करते थे। जिस अमीर को *फरमान* भेजा जाता था उसे छह मील आगे बढ़कर *फरमान* ग्रहण करना पड़ता था। एक मंच बनाया जाता था। संदेशवाहक उस मंच पर खड़ा होकर *फरमान* नीचे खड़े अमीर के सिर पर रखता था। इसके बाद सभी संबद्ध लोग इसे खड़े होकर सुनते थे। जो अमीर सुल्तान का विश्वास नहीं प्राप्त कर पाते थे, उन्हें सुल्तान का कोप-भाजक बनना पड़ता था। एक समकालीन लेखक के अनुसार, 'अगर कोई आज्ञा के रास्ते से भटकता था, तो वह (सुल्तान) या तो उसे मृत्युदंड देता था या उसे साम्राज्य से बाहर निकाल दिया करता था'।

हालांकि आमतौर पर सुल्तान स्थानीय स्तर पर उनकी स्वायत्तता में दखल नहीं देता था, पर कई बार अमीरों का स्थानांतरण हुआ करता था और कभी-कभी उन्हें पदच्युत भी कर दिया जाता था। सुल्तान ने अहमद खां जिलवानी के पुत्र सुल्तान अशरफ को पदच्युत कर दिया था क्योंकि उसने सुल्तान बहलोल लोदी की मृत्यु के बाद बयाना में अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया था। 1500 में उसने अपने खिलाफ षड्यंत्र में शामिल बाइस बड़े अफगान और गैर-अफगान अमीरों को देश निकाला दे दिया था। 1506 में जलाल खां लोदी, जिसे उसके पिता के स्थान पर कालपी का गवर्नर बनाया गया था, उसे केवल इसलिए कालकोठरी में *डाल* दिया गया, क्योंकि उसने 1508 में नरवर के किले का घेरा डालने में ढील दिखायी थी।

अमीरों की *इक्ताओं* में भी उन पर कड़ी नजर रखी जाती थी। पर इन परिवर्तनों के बावजूद अफगान राजत्व मूल रूप से अपरिवर्तनशील रहा। कुछ पद वंशानुगत बने रहे। अफगानों को *खान-ए जहान, ख़ान-ए ख़ानान, आज़म हुमायूँ, खान-ए आज़म,* आदि जैसी बड़ी पदवियाँ दी जाती रहीं। खेल के मैदान, अभियानों, शिकार आदि जगहों पर सुल्तान के साथ उन्हें अनौपचारिक संबंध बनाए रखने की छूट दी जाती रही। अतः सिकंदर लोदी के अधीन राजतंत्र तुर्की और कबीलाई संगठनों के मिले-जुले रूप में विकसित हुआ।

इब्राहिम के नेतृत्व में केंद्रीकरण की प्रवृत्ति को और भी बल मिला। उसका मानना था कि 'राजत्व में भाई-बंधुत्व का कोई स्थान नहीं था' ('kingship knows no kinship')। उसके शासनकाल में सुल्तान की प्रतिष्ठा इस कदर ऊंचाई पर पहुंच गई थी कि शाही डेरे को भी सम्मान की निगाह से देखा जाने लगा था। हालांकि, इब्राहिम की नीति के बुरे परिणाम सामने आये और यह अफगान साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुआ। अफगान सरदार सुल्तान के साथ मालिक-सेवक के संबंध को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। इससे अमीरों में असंतोष फैला और उनमें से कईयों ने बगावत कर दी। स्थिति यहाँ तक पहुंच गयी कि सुल्तान को अपदस्थ करने के लिए उन्होंने बाबर तक का साथ दे दिया। जब भारत में दूसरी बार अफगान साम्राज्य की स्थापना हुई (सूर साम्राज्य), तो उन्होंने पहले के अनुभवों से सीख ली और कभी भी कबीलाई राजतंत्र स्थापित करने की कोशिश नहीं की। इसके स्थान पर शेरशाह सूर ने अति केंद्रीकृत निरंकुश राजतंत्र की स्थापना की और उसे इसमें सफलता भी मिली। मुगलों के आगमन के बाद एक नया अध्याय शुरू होता है। मुगल तुर्क और मंगोल दोनों परंपराओं से प्रभावित थे।

5.3.2 प्रशासन व्यवस्था

एक सदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना का श्रेय सुल्तान सिकंदर लोदी को जाता है। ***मुक्तियों*** और *वलियों* (गवर्नरों) के हिसाब-किताब को जांचने के लिए उसने लेखा-परीक्षण की प्रथा आरंभ की। सबसे पहले 1506 में जौनपुर के गवर्नर मुबारक खां लोदी (तुजी ख़ैल) के हिसाब-किताब की जांच हुई थी। उसके हिसाब-किताब में गड़बड़ी पायी गयी और उसे बर्खास्त कर दिया गया। इसी प्रकार भ्रष्टाचार के आरोप में दिल्ली प्रशासन के प्रभारी गैर-अफगान पदाधिकारी ख्वाजा असग़र को कैदखाने में डाल दिया गया। साम्राज्य की स्थिति से अपने को पूर्ण अवगत रखने के लिए सुल्तान ने गुप्तचर व्यवस्था को पुनःसंगठित किया। परिणामस्वरूप सुल्तान की अप्रसन्नता के डर से अमीर आपस में राजनैतिक मामलों की चर्चा करने से डरते थे।

सुल्तान ने आम जनता की भलाई के लिए राजधानी और प्रांतों में कल्याणकारी केंद्र खोले गए, जहाँ अनाथ और विकलांग लोगों की सहायता की जाती थी। ये कल्याणकारी केंद्र जरूरतमंदों को वित्तीय सहायता दिया करते थे। पूरे साम्राज्य में विद्वानों और कवियों को संरक्षण दिया जाता था और शिक्षण संस्थानों को वित्तीय सहायता प्रदान की जाती थी। उसने सरकारी कार्यालयों में फारसी के अलावा किसी अन्य भाषा के उपयोग पर पाबंदी लगा रखी थी। इससे अनेक हिंदू फारसी सीखने लगे और जल्द ही वे फारसी में निपुण हो गए। परिणामस्वरूप वे राजस्व व्यवस्था में हाथ बंटाने लगे। भारत आने पर बाबर यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि राजस्व विभाग में पूर्णतः हिंदू ही काम करते थे।

इसी प्रकार सिकंदर लोदी निष्पक्ष न्याय का हिमायती था। इस कारण उसके साम्राज्य में शांति और समृद्धि का वर्चस्व रहा।

बोध प्रश्न-1

1) सिकंदर लोदी के साम्राज्य के विस्तार का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

2) निम्नलिखित का मिलान कीजिए:

1)	आज़म हुमायूँ	क)	बिहार का गवर्नर
2)	दरिया खां नूहानी	ख)	पंजाब का गवर्नर
3)	जलाल खां लोदी	ग)	कड़ा का गवर्नर
4)	दौलत खां लोदी	घ)	कालपी का गवर्नर

3) तुर्की और अफगान राजनीतिक व्यवस्था में क्या अंतर था?

....

....

....

....

4) अमीरों की शक्ति को दबाने के लिए शासकों ने कौन-कौन से कदम उठाए?

....

....

....

....

5.4 बाबर के आक्रमण की पूर्व संध्या पर राजनीतिक स्थिति

अब तक हमने यह पढ़ा है कि तुगलक शासन के पतन के पश्चात् 15वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध राजनैतिक अस्थिरता का दौर था। सैय्यद (1414-1451) तथा लोदी (1451-1526) शासक दोनों ही विनाशक शक्तियों का सामना करने में असफल रहे। कुलीन वर्ग अवसर प्राप्त होते ही विरोध एवं विद्रोह करते। उत्तर-पश्चिम प्रांतों में व्याप्त राजनैतिक अराजकता ने केंद्र को कमजोर किया। अब हम भारत के विभिन्न भागों में घटित घटनाचक्र का विवरण करेंगे।

मध्य भारत में तीन राज्य थे – गुजरात, मालवा एवं मेवाड़। किंतु मालवा के सुल्तान महमूद खलजी द्वितीय की शक्ति का पतन हो रहा था। गुजरात मुज़फ्फर शाह के अधीन था, जबकि मेवाड़ सिसोदिया शासक राणा सांगा के अधीन सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य था। मालवा के शासकों पर निरंतर लोदी, मेवाड़ एवं गुजरात के शासकों का दबाव था क्योंकि यह न केवल एक

उपजाऊ क्षेत्र एवं हाथियों की आपूर्ति का महत्वपूर्ण स्रोत था अपितु इस क्षेत्र से होकर गुजरात के बंदरगाहों की ओर महत्वपूर्ण मार्ग गुजरता था। अतः यह क्षेत्र लोदी शासकों के लिए एक महत्वपूर्ण क्षेत्र था। इसके अतिरिक्त यह गुजरात एवं मेवाड़ के शासकों के लिए लोदी शासकों के विरुद्ध मध्यवर्ती राज्य का कार्य कर सकता था। मालवा का सुल्तान एक अक्षम शासक था और उसके प्रधानमंत्री मेदिनी राय के लिए आंतरिक कलहों के कारण राज्य की एकता बनाए रखना मुश्किल था। अंततः मेवाड़ के शासक राणा सांगा ने मालवा एवं गुजरात पर अपने प्रभाव को बढ़ाने में सफलता प्राप्त कर ली। 15वीं सदी के अंत तक राणा सांगा द्वारा रणथम्भौर एवं चंदेरी पर अधिकार प्राप्त करने के साथ ही संपूर्ण राजपूताना उसके अधीन आ गया। दक्षिण में विजयनगर एवं बहमनी दो शक्तिशाली राज्य थे (इस पाठ्यक्रम की **इकाई 4** देखें)। पूर्व की ओर बंगाल पर नुसरत शाह का शासन था।

इब्राहिम लोदी के शासन के अंतिम वर्षों में अफगान सरदारों नसीर खां लोहानी, मारूफ फरमूली आदि ने सुल्तान मुहम्मद शाह के नेतृत्व में अलग जौनपुर राज्य की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की। इन बड़े राज्यों के अतिरिक्त आगरा के आसपास बहुत से अफगान सरदारों के अधीन कुछ महत्वपूर्ण छोटे-छोटे स्वायत्त क्षेत्र भी थे – मेवात में हसन खां, बयाना में निज़ाम खां, धौलपुर में मुहम्मद जैतून, ग्वालियर में तातार खां सारंग खानी, रापरी में हुसैन खां लोहानी, इटावा में कुतुब खां, कालपी में आलम खां, सम्भल में कासिम सम्भली आदि।

बाबर के आक्रमण की पूर्व संध्या पर राजनैतिक स्थिति का विश्लेषण करते हुए सामान्यतः यह कहा गया है (रशब्रुक विलियम्स) कि उस समय राजपूत राज्यों का एक 'महासंघ' था जो हिंदुस्तान पर नियंत्रण करने की तैयारी में था। यह भी कहा जाता है कि यदि बाबर का आक्रमण न हुआ होता तो राजपूत अपने प्रख्यात नेता राणा सांगा के नेतृत्व में उत्तर भारत में राजनैतिक सत्ता पर अधिकार करने में सफल हो जाते। यह तर्क दिया जाता है कि क्षेत्रीय राज्यों के बीच राजनैतिक विभाजन की प्रकृति धार्मिक थी और राणा सांगा के नेतृत्व में राजपूत महासंघ, जो कि धार्मिक भावना से प्रेरित था, हिंदू साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था। यह मान्यता ***बाबरनामा*** में उद्धृत उस अंश पर आधारित है जहाँ बाबर कहता है कि हिंदुस्तान पांच मुसलमान शासकों – लोदी (केंद्र में), गुजरात, मालवा, बहमनी तथा बंगाल और दो 'हिंदू' शासकों – मेवाड़ के राणा सांगा तथा विजयनगर द्वारा शासित है। इसके अतिरिक्त खानवा की लड़ाई के बाद जारी किए गए *फतहनामा* के आधार पर कहा जाता है कि राणा सांगा के नेतृत्व में राजपूत महासंघ धार्मिक भावना से प्रेरित था और उसको 'इस्लाम की सत्ता' को उखाड़ फेंकने की भावना से संगठित किया गया था।

किंतु इस तरह के अनुमानों के विषय में इतिहासकारों ने प्रश्न उठाए हैं। बाबर ने ऐसा नहीं कहा कि ये राज्य एक दूसरे के विरुद्ध धार्मिक आधार पर शत्रुता रखते थे। बल्कि बाबर स्वयं स्वीकार करता है कि बहुत से *राय* एवं *राणा* इस्लाम (मुस्लिम शासकों) के प्रति वफादार थे। यदि हम महासंघ संरचना को देखें तो हम पाएंगे कि हसन खां मेवाती, महमूद खां लोदी आदि मुसलमान शासक भी इस महासंघ के सदस्य थे और वे बाबर के विरुद्ध राणा सांगा के साथ थे। इसकी अपेक्षा *वाक़ियात-ए मुश्तकी* (1560) में हसन खां मेवाती पर भारत में मुगल सत्ता को उखाड़ने के लिए 'महासंघ' बनाने का आरोप लगाया गया है। वास्तव में यह राणा नहीं अपितु सुल्तान महमूद था जिसने स्वयं को दिल्ली का राजा घोषित कर दिया था। यद्यपि राणा सांगा निश्चित ही शक्तिशाली था किंतु बाबर अफगान भय से ज्यादा चिंतित था। अतः धार्मिक दृष्टिकोण का कोई आधार नहीं है।

5.5 मध्य एशिया तथा बाबर

15वीं सदी के अंत से तैमूर शासकों की शक्ति का पतन होने लगा था। इस समय तक उज़्बेगों ने शैबानी खां के अधीन ट्रांसऑक्सियाना में अपनी स्थिति मजबूत करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। इसी समय के लगभग शाह इस्माइल के नेतृत्व में ईरान में सफवियों का एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उदय हुआ। जबकि और आगे पश्चिम की ओर ऑटोमन तुर्कों का प्रभुत्व था। लगभग संपूर्ण ट्रांसऑक्सियाना तथा खुरासान पर शैबानी खां ने प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। अंततः 1510 में ईरान के शाह इस्माइल ने शैबानी खां को पराजित कर दिया। परंतु

थोड़े समय बाद ही (1512) ऑटोमन सुल्तान ने शाह इस्माईल को पराजित कर दिया। इस प्रकार उज़्बेगों को संपूर्ण ट्रांसऑक्सियाना का स्वामी बनने का पुनः एक बार अवसर प्राप्त हो गया।

बाबर 12 वर्ष की आयु में फ़रगना (ट्रांसऑक्सियाना की एक मामूली रियासत) की गद्दी पर 1494 में सत्तारूढ़ हुआ। किंतु बाबर को यह उत्तराधिकार सरलता से प्राप्त नहीं हुआ था। मंगोल खान के साथ-साथ तैमूर राजकुमार विशेषकर समरकंद का सुल्तान अहमद मिर्ज़ा, बाबर का चाचा, दोनों फरगना में रुचि रखते थे। इसके अतिरिक्त बाबर को असंतुष्ट कुलीनों का भी सामना करना पड़ा। इन सभी विपत्तियों के बावजूद बाबर ने मध्य एशिया में अपनी स्थिति को मजबूत करने तथा समरकंद पर दो बार (1497 एवं 1500) अधिकार करने में सफलता प्राप्त की। लेकिन इस पर वह लंबे समय तक अधिकार बनाये रखने में असफल रहा। तैमूर सत्ता के चार केंद्रों में से एक खुरासान पर (1507) शैबानी खां के द्वारा अधिकार कर लिए जाने के कारण बाबर के लिए मध्य एशिया के द्वार अंततः बंद हो गए और अब उसके सम्मुख काबुल के अलावा कोई विकल्प शेष न रहा क्योंकि काबुल में परिस्थितियाँ उसके लिए सबसे अधिक अनुकूल थीं। इसके शासक उलुग़ बेग मिर्ज़ा की मृत्यु पहले ही (1501) हो चुकी थी। बाबर ने 1504 में काबुल को अपने अधीन कर लिया। लेकिन बाबर इस समय तक मध्य एशिया पर शासन करने के स्वप्न को त्याग नहीं सका था। शाह इस्माइल सफवी की मदद से वह (1511) समरकंद पर अधिकार करने में सफल हो गया। किंतु 1512 में इस्माइल के पराजित हो जाने एवं उज़्बेगों के उत्थान से बाबर के पास काबुल में अपनी स्थिति को मजबूत करने के अलावा कोई विकल्प शेष न रहा।

इस तरह मध्य एशिया की स्थिति ने बाबर पर दबाव डाला एवं उसको यह मानने के लिए बाध्य किया (1521 के बाद) कि वह मध्य एशिया साम्राज्य स्थापित करने की आशा का परित्याग कर दे और भारत की ओर देखे। जैसा कि अबुल फज़ल लिखता है, भारत के संपन्न संसाधन एवं अफगानिस्तान की जर्जर आर्थिक स्थिति भी बाबर के लिए आकर्षण का कारण रहे होंगे। सिकंदर लोदी की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली सल्तनत की राजनैतिक स्थिति ने बाबर को लोदी साम्राज्य में राजनैतिक असंतोष तथा अराजकता का विश्वास दिलाया। राणा सांगा एवं पंजाब के गवर्नर दौलत खां लोदी द्वारा बाबर को दिए गए निमंत्रण ने बाबर की लालसाओं को और बढ़ाया। संभवतः तैमूर की संपत्ति पर पैतृक अधिकार ने भी उसके आक्रमण की पृष्ठभूमि तैयार की। 1519 में भीरा पर अधिकार करने के बाद बाबर ने इब्राहिम लोदी से पश्चिमी पंजाब की मांग की जो कभी उसके चाचा उलुग़ बेग मिर्ज़ा के अधिकार में था। इस प्रकार बाबर के पास भारत आक्रमण के लिए कारण एवं अवसर दोनों थे।

5.6 भारत में मुगल शासन की स्थापना

पानीपत के युद्ध (1526) से पूर्व बाबर ने भारत पर चार बार आक्रमण किए। ये भिड़न्तें मुगल एवं लोदी सेनाओं के बीच शक्ति परीक्षण मात्र था।

बाबर ने प्रथम विजय हिंदुस्तान के प्रवेशद्वार भीरा (1519-1520) पर प्राप्त की। फिर स्यालकोट (1520) तथा इसके बाद लाहौर (1524) पर अधिकार प्राप्त किया। निर्णायक मुकाबला इब्राहिम लोदी एवं बाबर की सेनाओं के मध्य ऐतिहासिक पानीपत के मैदान पर हुआ। कुछ घंटों में ही बाबर ने इस युद्ध में विजय प्राप्त कर ली। यह लड़ाई युद्धकला में बाबर की निपुणता को प्रदर्शित करती है। संख्या में कम होने के बावजूद उसका संगठन उच्च कोटि का था। इब्राहिम लोदी की सेना संख्या में बहुत अधिक होने के बावजूद (लगभग 1,00,000 सैनिक तथा 500-1000 हाथी जबकि इसकी तुलना में बाबर के पास मात्र 12,000 घुड़सवार थे) युद्ध के मैदान में अच्छा प्रदर्शन नहीं कर पाई। बाबर ने सफलतापूर्वक रूमी (ऑटोमन) युद्ध पद्धति का इस्तेमाल किया (**चित्र 5.1** देखें)।

जैसे ही अफगान सेनाओं ने दाहिने भाग पर आक्रमण किया, बाबर ने तुरंत अब्दुल अज़ीज के नेतृत्व में अपनी सुरक्षित सेनाओं को आगे बढ़ने का आदेश दिया। अफगान सेनायें संख्या में अधिक होने के बावजूद न आगे बढ़ सकीं और न पीछे। उन पर दोनों ओर से आक्रमण किया गया। इससे अफगान सेना में पूर्णतः गड़बड़ी पैदा हो गई। बाबर ने इस स्थिति का भरपूर लाभ उठाया तथा उसके दायें एवं बायें दोनों भागों ने अफगान सेना पर शीघ्रता से पीछे से हमला किया। इसी के साथ तोप से आग के गोले बरसाये जाने प्रारंभ कर दिये गए। इससे संपूर्ण सेना तुरंत निष्क्रिय हो गई। बाबर के अनुसार सुल्तान इब्राहिम लोदी सहित अफगान सेना के 20,000

सैनिक मारे गए। युद्ध में बाबर के तोपखाने ने नहीं अपितु उसकी 'सर्वोच्च युद्ध नीति' तथा 'घोड़ों पर सवार धनुर्धारियों' ने निर्णायक भूमिका अदा की। इस तथ्य की पुष्टि स्वयं बाबर ने की है।
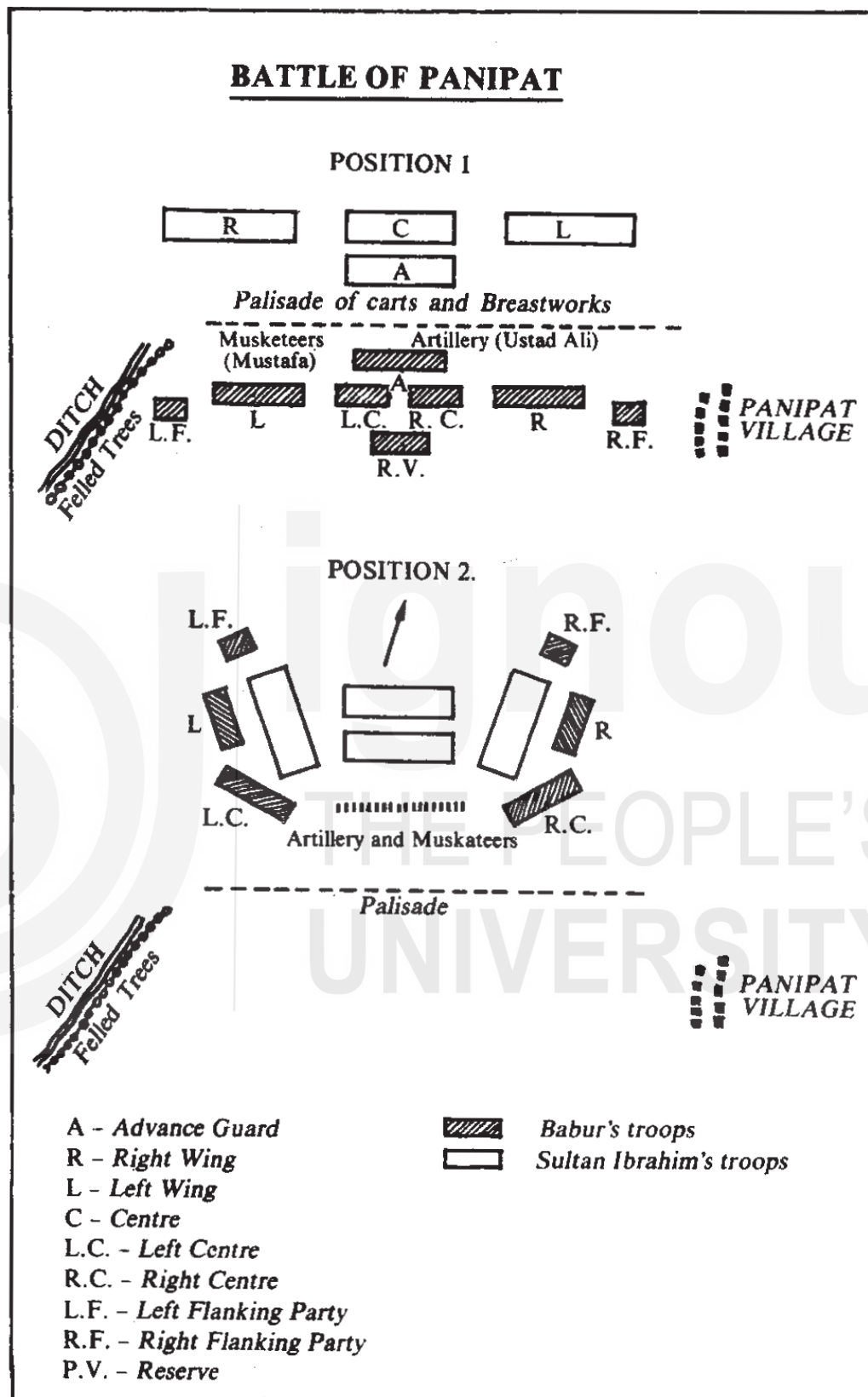
Source: Rushbrooke Williams, *An Empire Builder of the 16th Century.* pp 130-131

चित्र 5.2: बाबर द्वारा पानीपत के युद्ध में इस्तेमाल की गई रूमी युद्ध पद्धति

स्रोत: ई एच आई-04 *भारत: 16वीं सदी से 18वीं सदी के मध्य तक,* खंड 2, इकाई 5, पृ. 08

यद्यपि पानीपत के युद्ध से औपचारिक तौर पर भारत में मुगल शासन की स्थापना हो गई किंतु यह आगामी वर्षों में होने वाली लड़ाई में प्रथम मात्र थी। दृष्टांत के रूप में इस विषय को सुनिश्चित

करने के लिए मेवाड़ के राणा सांगा पर तथा दिल्ली एवं आगरा तथा उसके आसपास के सरदारों पर विजय प्राप्त करना भी समान रूप से महत्वपूर्ण था। दूसरे महत्वपूर्ण प्रतिद्वंद्वी पूर्वी भारत के अफगान राज्य थे। इसके अतिरिक्त बाबर के स्वयं के कुलीनों की समस्याएँ भी बढ़ रही थीं।

5.6.1 बाबर तथा राजपूत राज्य

जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं कि मेवाड़ का राणा सांगा एक महत्वपूर्ण शक्ति था। बाबर ने अपने संस्मरणों में राणा सांगा पर आरोप लगाया है कि इब्राहिम लोदी के विरुद्ध पानीपत के युद्ध में उसने उनका साथ न देकर अपना वायदा तोड़ा था। यहां इस विवाद में न जाते हुए कि सहायता का प्रस्ताव राणा की तरफ से अथवा बाबर की तरफ से आया था यह वास्तविकता है कि दोनों के मध्य इब्राहिम लोदी के विरुद्ध समझौता करने के लिए अवश्य कुछ सहमति थी जिससे राणा सांगा पीछे हट गया था। राणा को आशा थी कि बाबर काबुल वापस लौट जाएगा और ऐसी स्थिति में राणा सांगा को अगर संपूर्ण हिन्दुस्तान पर नहीं तो कम से कम राजपूताना पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की स्वतंत्रता प्राप्त हो जाएगी। बाबर के ठहर जाने के निर्णय से राणा सांगा की अभिलाषाओं पर गहरा आघात लगा। बाबर भी इस तथ्य से भली-भांति परिचित था कि उसके लिए अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना तब तक असंभव होगा जब तक कि वह राणा की शक्ति को नष्ट नहीं कर देता। राणा ने अफगान सरदारों की मदद से बाबर के विरुद्ध 'महासंघ' की स्थापना करने में सफलता प्राप्त कर ली। हसन खां मेवाती न केवल राणा के साथ मिल गया अपितु उसने 'महासंघ' के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका भी अदा की। इस समय (1527) बारी के हसन खां और हुसैन खां गुर्ग-अंदाज़ भी राणा से जा मिले। हुसैन खां नोहानी ने रापरी पर अधिकार कर लिया; रुस्तम खां ने कोल पर जबकि कुतुब खां ने चंदावर पर अधिकार कर लिया। पूर्वी अफगानों पर भी इतना अधिक दबाव था कि सुल्तान मुहम्मद दुलदई को कन्नौज छोड़ना पड़ा और वह बाबर के साथ शामिल हो गया। साथ ही, बाबर के सेनापति अब्दुल अज़ीज़ तथा मुहिब अली की बयाना में पराजय और उनके द्वारा राजपूत सेना के शौर्य की प्रशंसा ने बाबर की सेना को निरुत्साहित किया। फरिश्ता तथा बदायुंनी (अकबर के समकालीन) के अनुसार पराजय की भावना इतनी अधिक प्रबल थी कि युद्ध परिषद् की बैठक में बहुमत से यह प्रस्ताव पारित किया गया कि बादशाह को पंजाब वापस जाना चाहिए तथा अप्रत्याशित घटनाक्रम की प्रतीक्षा करनी चाहिए। यद्यपि *बाबरनामा* में इस प्रकार के प्रस्ताव के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है, किंतु इस वक्तव्य से 'निराशा एवं भटकाव' का स्पष्ट आभास मिलता है। लेकिन बाबर ने इस स्थिति पर नियंत्रण पाने के लिए अपने साथियों की धार्मिक भावनाओं को छूने वाला एक ओजस्वी भाषण दिया।

बाबर ने सीकरी के पास खानवा गांव में अपनी स्थिति को घेरेबंदी द्वारा मजबूत किया। यहाँ पर भी उसने अपनी सेना को 'ऑटोमन' पद्धति के आधार पर योजनाबद्ध एवं संगठित किया। इस बार उसने अपनी बायीं ओर एक तालाब की सहायता ली। अग्रिम भाग को सुरक्षित बनाने के लिए इस बार भी लकड़ी की गाड़ियों का प्रयोग किया गया किंतु इस बार इनको रस्सी के स्थान पर लोहे की जंजीरों से कसकर बांधा गया। इस बार लकड़ी की मजबूत तिपाइयों (tripods) का प्रयोग उनको एक-दूसरे से रस्सी से बांधकर किया गया। इससे न केवल सुरक्षा एवं तोपों को आराम से रखना संभव हुआ अपितु उनको पहियों की मदद से सरलता से आगे-पीछे भी घुमाया जा सकता था। इस युद्धकला को उस्ताद मुस्तफा तथा उस्ताद अली के नेतृत्व में पूरा करने में लगभग 20-25 दिन लगे। इस लड़ाई, 17 मार्च 1527, में बाबर ने अपने तोपखाने का सफल प्रयोग किया। राणा सांगा गंभीर रूप से घायल हो गया और उसको आमेर के पास बसवा ले जाया गया। उसके अन्य सहायकों में महबूब खां लोदी भाग निकला किंतु हसन खां मेवाती मारा गया। राजपूतों को भारी नुकसान उठाना पड़ा। वास्तव में सेना की ऐसी कोई टुकड़ी न थी जिसका सेनापति न मारा गया हो। श्यामल दास (*वीर विनोद*) ने रायसेन के शासक सिलहदी पर विश्वासघात का आरोप लगाया है और इसे राणा की पराजय का मुख्य कारण माना है। किंतु वास्तव में राणा द्वारा तीन सप्ताह तक निष्क्रिय बने रहना अतार्किक था। इससे बाबर को स्वयं को शक्तिशाली बनाने और लड़ाई की पूर्ण तैयारी करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। बाबर की अनुशासनबद्ध सेना, गतिशील घुड़सवार एवं उसके तोपखाने ने युद्ध में निर्णायक भूमिका अदा की।

यद्यपि मेवाड़ के राजपूतों को खानवा के युद्ध में भारी आघात पहुंचा था। किंतु मालवा में मेदिनी राय अभी भी निश्चित रूप से शक्तिशाली था। राणा सांगा ने मालवा के महमूद द्वितीय के मुख्यमंत्री मेदिनी राय को 1520 में पराजित कर मालवा पर अपना प्रभाव कायम करने में सफलता प्राप्त की थी। 1528 में चंदेरी के युद्ध में यद्यपि राजपूतों ने अपने पूरे पराक्रम के साथ युद्ध किया किंतु बाबर ने मेदिनी राय पर सरलता से विजय प्राप्त कर ली। मेदिनी राय की पराजय के साथ ही राजपूताना में विद्रोही ताकतें पूर्णतः विखण्डित हो गयीं। लेकिन अभी भी बाबर को अफगान समस्या का सामना करना शेष था क्योंकि महमूद खां लोदी पहले ही पूर्व की ओर भाग गया था और यदि उसे स्वतंत्र छोड़ दिया जाता तो वह बाबर के लिए समस्या पैदा कर सकता था।

5.6.2 बाबर तथा अफगान सरदार

यद्यपि अफगानों को दिल्ली समर्पण करना पड़ा फिर भी वे बिहार एवं जौनपुर के क्षेत्रों में काफी शक्तिशाली थे जहां पर सुल्तान मुहम्मद नोहानी के नेतृत्व में नोहानी अफगानों का प्रभुत्व था। किंतु चुनार, जौनपुर तथा अवध के अफगाान, नोहानी अफगानों के साथ मिलकर मुगल शक्ति का संयुक्त विरोध करने के लिए तैयार नहीं थे। बल्कि उन्होंने कायरतापूर्वक हुमायूँ के सम्मुख समर्पण (1527) कर दिया। इसी बीच सुल्तान मुहम्मद नोहानी की मृत्यु (1528) हो गई जिसने नोहानियों को असंगठित कर दिया क्योंकि उसका पुत्र जलाल खां नाबालिग था। परंतु इस खाली स्थान को शीघ्र ही सिकंदर लोदी के पुत्र तथा इब्राहिम के भाई राजकुमार महमूद लोदी के पूर्व में आगमन ने भर दिया। इससे गैर-नोहानी अफगान जो पहले नोहानियों के साथ सहयोग करने में थोड़ा हिचकिचा रहे थे महमूद लोदी के नेतृत्व को स्वीकार करने को तैयार हो गए। इसके अतिरिक्त बब्बन, बायज़िद तथा फतह खां सरवानी जैसे नोहानी अफगान, जो जलाल के बंगाल चले जाने पर नेतृत्वविहीन हो गए थे, ने भी महमूद का स्वागत किया। यद्यपि बंगाल का शासक नुसरत शाह बाह्य तौर पर बाबर के साथ मित्रता का दावा कर रहा था किंतु गुप्त रूप में उसने बाबर के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण उपायों को अपनाया। उसके लिए बिहार के नोहानी राज्य का अस्तित्व अपने अधीनस्थ बिहार अधिकृत क्षेत्र की सुरक्षा के लिए मुगलों के विरुद्ध मध्यवर्ती राज्य के समान था।

चित्र 5.3: बाबर का साम्राज्य

स्रोतः ई एच आई. 04: *भारतः 16वीं सदी से 18वीं सदी के मध्य तक*, खंड 2, इकाई 5, पृ.10
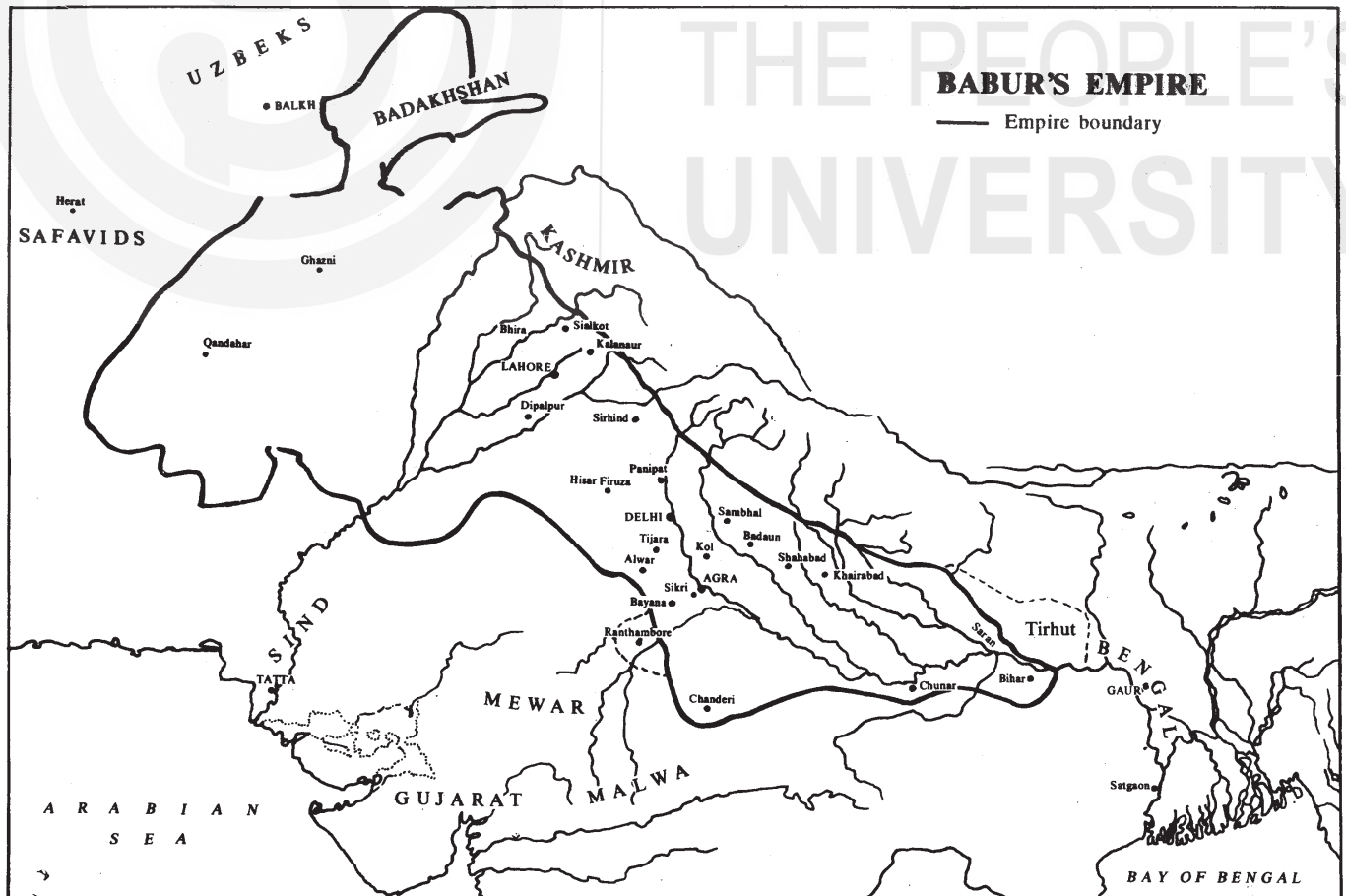
बाबर इन घटनाक्रमों की अनदेखी नहीं कर सकता था। उसने अपनी सेनाओं को घाघरा नदी के समीप एकत्रित किया और नुसरत शाह की सेना पर विजय (1529) प्राप्त की। इस प्रकार अफगान-नुसरत गठबंधन टूट गया और नुसरत खां को भारी मात्रा में अफगान विद्रोहियों का समर्पण करना पड़ा जिन्होंने उसके राज्य में शरण ले रखी थी। इस घटनाक्रम से अफगानों का मनोबल पूर्णतः टूट गया। यद्यपि बब्बन एवं बायज़िद ने अवध में मुगल शक्ति का प्रतिरोध करने का प्रयास किया लेकिन जब उन पर मुगल दबाव पड़ा तो वे भी महमूद के पास भाग गए (1529)। इस प्रकार बाबर ने चार वर्षों के अंदर समस्त विरोधी शक्तियों को कुचलने में सफलता प्राप्त की और वह अब स्वयं की स्थिति को दिल्ली में सुदृढ़ करने की योजना बना सकता था। परंतु उसको शासन करने का उचित अवसर प्राप्त नहीं हो सका क्योंकि शीघ्र ही उसकी मृत्यु 29 दिसंबर, 1530 में हो गई।

बाबर के संरक्षणत्व में मुगल साम्राज्य की स्थापना एक महत्वपूर्ण घटना थी। यद्यपि उसके द्वारा राजपूत एवं अफगान शक्ति का पूर्ण दमन नहीं किया जा सका था, यह कार्य उसके उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ दिया गया, लेकिन पानीपत तथा खानवा की सफलताएँ निर्णायक थीं जिन्होंने इस क्षेत्र में तत्कालीन शक्ति संतुलन को नष्ट किया और संभवतः वह अखिल भारतीय साम्राज्य की स्थापना की दिशा में एक कदम था।

बोध प्रश्न-2

1) बाबर के आक्रमण की पूर्व संध्या पर भारत की राजनीतिक स्थिति का विवेचना कीजिए।

....

....

....

....

2) 'यह मध्य एशिया की स्थिति ही थी जिसने बाबर को भारत की ओर देखने के लिए बाध्य किया'। टिप्पणी कीजिए।

....

....

....

....

3) खानवा के युद्ध के महत्व की विवेचना कीजिए।

....

....

....

....

4) बाबर के विरुद्ध नुसरत-अफगान गठबंधन पर एक टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

5.7 हुमायूँ: 1530-1540

हुमायूं के अधीन स्थिति काफी भिन्न थी। बाबर के विपरीत उसे कुलीनों का सम्मान एवं आदर प्राप्त न था। इससे भी खतरनाक स्थिति यह थी कि चग़ताई कुलीन वर्ग हुमायूं के विशेष पक्ष में नहीं था। साथ ही भारतीय कुलीन भी जिन्होंने बाबर की स्वायत्तता स्वीकार कर ली थी, हुमायूं के सत्तारूढ़ होने पर उसका साथ छोड़ गए। तैमूर के वंशज मुहम्मद सुल्तान मिर्ज़ा, मुहम्मद

ज़मां तथा बाबर के बहनोई मुहम्मद मंहदी ख्वाजा सिंहासन पर अपना अधिकार करना चाहते थे और विशेषकर बाबर के एक कुलीन अमीर निज़ामुद्दीन अली खलीफा ने एक षड्यंत्र रचा किंतु वह असफल रहा। हुमायूं को शाही सत्ता तथा आधिपत्य बनाए रखने के लिए पूर्व एवं पश्चिम में उन अफगानों के विरुद्ध संघर्ष करना था जिनके पास व्यापक सामाजिक आधार था। लेकिन हुमायूं के लिए सबसे बड़ा खतरा उसके स्वयं के भाई कामरान मिर्ज़ा से था। साम्राज्य में सत्ता के दो केंद्रों – केंद्र में हुमायूं और अफगानिस्तान तथा पंजाब में मिर्ज़ा कामरान – की स्वायत्तता स्थापित हो जाने से स्थिति और भी बिगड़ गई। हुमायूं ने पहले पश्चिम के अफ़गानों से निपटने का निर्णय किया।

5.7.1 बहादुर शाह तथा हुमायूँ

परिस्थितियों के कारणवश बहादुरशाह तथा हुमायूं के संबंधों के बीच एक विचित्र विरोधाभास था। बहादुर शाह ने प्रारंभ में (1531 के प्रारम्भ से 1533 के मध्य तक) हुमायूँ को मित्रता एवं वफादारी का आश्वासन दिया। लेकिन ठीक उसी समय उसने मुगल सीमाओं से लगे क्षेत्रों में अपने प्रभाव का भी प्रसार करने का प्रयत्न किया। बहादुर शाह का प्रथम शिकार मालवा था। बहादुर शाह को पहले से ही मालवा पर मुगलों की नीयत का आभास हो गया था। उसको डर था कि यदि मध्यवर्ती राज्य पर अधिकार किए बगैर छोड़ दिया गया तो मुग़ल शासक इसको विजित करने का प्रयास कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त गुजरात की ओर जाने वाले सभी व्यापारिक मार्ग मालवा से होकर गुजरते थे। यह अनाज उत्पादन की दृष्टि से भी एक उपजाऊ एवं सम्पन्न क्षेत्र था और गुजरात अनाज की आपूर्ति के लिए मालवा पर निर्भर था। 1530 के बाद बहादुर शाह ने मालवा पर सैनिक दबाव डालना प्रारंभ कर दिया। अंततः जनवरी 1531 में बहादुर शाह ने इस पर अधिकार कर लिया। इस घटना के तुरंत बाद बहादुर शाह ने हुमायूं के विरोधियों – बिहार में शेरशाह (1531-1532) तथा बंगाल में नुसरत शाह (अगस्त-सितंबर 1532) – के साथ गठबंधन की प्रक्रिया शुरू कर दी। नुसरत शाह ने भी ख्वाजासरा मलिक के अधीन (अगस्त-सितंबर 1532) एक प्रतिनिधि मंडल गुजरात भेजा जिसका बहादुर शाह ने पूर्ण स्वागत किया। इसके अतिरिक्त उत्तर तथा पूर्व के अनेक हताश अफगान भी अपने खोये सम्मान को 'पुनः स्थापित' करने के लिए मुगलों को बाहर निकालने के प्रयास में बहादुर शाह के साथ शामिल हो गए। बहलोल लोदी का पुत्र सुल्तान अलाउद्दीन लोदी तथा उसके पुत्र फतेह खां एवं तातर खां, ग्वालियर के राजा विक्रमाजीत का भतीजा राय नर सिंह (1528) तथा कालपी का आलम खां लोदी (1531) ये सभी नेतृत्व के लिए बहादुर शाह की ओर देखने लगे और उन्होंने उसे मुगलों के विरुद्ध मदद देने की पेशकश की। पूर्व के अफगान बब्बन खां लोदी (शाहू खैल), मलिक रूपचंद, दत्तू सरवानी तथा मारूफ फरमूली बहादुर शाह के साथ मिल गए।

इन घटनाक्रमों की हुमायूँ द्वारा अवहेलना करने पर उसे भयंकर परिणामों का सामना करना पड़ सकता था। हुमायूं पर पश्चिम एवं पूर्व की ओर से संयुक्त आक्रमण की स्थिति और भी भयंकर सिद्ध होती। इस दौरान बहादुर शाह का विजय अभियान बगैर किसी रुकावट के जारी था। उसने भीलसा, रायसेन, उज्जैन तथा गगरौन पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार वह मुगलों को ग्वालियर, कालिंजर, बयाना एवं आगरा से दूर रख सका। जिस समय बहादुर शाह मालवा तथा राजपूताना की ओर क्षेत्रीय प्रसार में व्यस्त था उस समय हुमायूं चुनार पर अधिकार करने में उलझा हुआ था। इस घटनाक्रम ने हुमायूँ को आगरा वापस लौटने के लिए बाध्य किया (1532-1533)। लेकिन बहादुर शाह प्रकट तौर पर मुगलों के साथ किसी भी प्रकार के संघर्ष को टालना चाहता था। उसने तत्काल खुरासान खां (1533-1534) के अधीन एक प्रतिनिधिमंडल हुमायूँ के पास भेजा। हुमायूँ ने मांग की कि बहादुर शाह किसी भी मुगल विद्रोही विशेषकर मुहम्मद ज़मां मिर्ज़ा को शरण नहीं देगा। इसी के साथ हुमायूँ बहादुर शाह के गुजरात अधीनस्थ क्षेत्रों को चुनौती न देने के लिए सहमत हो गया और बहादुर शाह ने भी मांडू छोड़ने का वायदा किया। तत्पश्चात् बहादुर शाह पुर्तगालियों द्वारा उत्पन्न खतरे का दमन करने में (सितंबर-दिसंबर 1533) तथा हुमायूं पूर्व में अफगान समस्या का समाधान करने में व्यस्त रहा।

नए घटनाक्रम का परिणाम गुजरात पर 1535 में हुमायूँ के आक्रमण के रूप में निकला। जनवरी 1534 में बहादुर शाह ने मुहम्मद ज़मां मिर्ज़ा को शरण दी और चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया। चित्तौड़ बहादुर शाह के लिए इसलिए महत्वपूर्ण था क्योंकि इससे उसे राजपूताना में एक मजबूत

आधार प्राप्त हो जाता जिससे वह सफलतापूर्वक अजमेर, नागौर तथा रणथम्भौर की ओर प्रसार कर सकता था। लेकिन हुमायूँ ने इस बिंदु पर बहादुर शाह को चित्तौड़ विजय करने से रोकने के लिए कोई विशेष प्रयास नहीं किया। आगरा से कालपी की ओर हुमायूं का प्रस्ताव भी काफी धीमा था। ठीक इसी प्रकार उसने चित्तौड़ पहुंचने के लिए भी लंबे मार्ग को चुना। ऐसा प्रतीत होता है कि हुमायूँ को बहादुर शाह को चित्तौड़ पर अधिकार करने से रोकने में कोई विशेष दिलचस्पी न थी। बहादुर शाह हुमायूँ के अवरोध खड़ा करने से पूर्व ही मांडू पहुंचने के लिए चिंतित था। लेकिन हुमायूं काफी पहले मांडू पहुंचने में सफल रहा। चित्तौड़ से गुजरात वापस लौटने का एकमात्र मार्ग मांडू से था और इस पर पहले ही हुमायूँ द्वारा अधिकार कर लिया गया था। हुमायूँ ने बहादुरशाह की सेना की सभी ओर से घेराबंदी कर उसकी आपूर्ति रोक दी। एक माह के अंदर ही, जब कोई आशा शेष न रही, गुजरात की सेना को मुगलों को रोकने के लिए उनके विरुद्ध प्रयोग करने वाले अपने सर्वश्रेष्ठ तोपखानों को स्वयं ही नष्ट करना पड़ा। बहादुर शाह मांडू से चम्पानेर, अहमदाबाद होता हुआ कैम्बे (खंभात) की ओर भाग गया और काठियावाड़ को पार कर द्यु पहुंचा। मुगलों ने उसका पीछा किया। लेकिन एक बार फिर उन्होंने बहादुर शाह को गिरफ्तार करने या उसकी हत्या करने के लिए कोई उत्सुकता नहीं दिखाई।

ऐसा लगता है कि हुमायूँ का मुख्य उद्देश्य मात्र गुजरात की शक्ति को नष्ट करना था। जिस समय चम्पानेर में मुगल सेनाओं ने बहादुरशाह को पहचान लिया उन्होंने उसको गिरफ्तार नहीं किया। इसी समय आगरा में लंबे समय से हुमायूँ की अनुपस्थिति के कारण दोआब एवं आगरा में विरोध भड़क उठे। अतः उसे शीघ्र ही मांडू छोड़ना पड़ा तथा उसने आगरा की ओर तेजी से कूच किया। अतः मांडु को मिर्ज़ा असकरी के आधिपत्य में दे दिया गया। उधर गुजरात तथा मालवा में मुगलों द्वारा स्थानीय जनता के साथ किए गए व्यवहार के कारण स्थानीय-विद्रोह प्रारंभ हो गए। मुगल सेनाओं ने लोगों को लूटा एवं उनकी हत्या की। इसके फलस्वरूप जैसे ही हुमायूँ ने मांडू छोड़ा वैसे ही लोगों ने बहादुर शाह का द्यू से वापस लौटने पर स्वागत किया। बहादुर शाह ने अवसर का लाभ उठाते हुए मुगलों को अहमदाबाद में पराजित कर दिया। किंतु इस बीच बहादुर शाह को पुर्तगालियों को आगे बढ़ने से रोकने के लिए द्यू वापस लौटना पड़ा लेकिन इस बार पुर्तगाली अपने अभियान में सफल रहे और उन्होंने विश्वासघात से बहादुर शाह की हत्या कर दी (17 फरवरी 1537)। इससे सभी जगहों पर भ्रांति की स्थित उत्पन्न हो गई। अफगानों के सम्मुख कोई विकल्प शेष न रहा और वे नेतृत्व के लिए शेरशाह की ओर देखने लगे।

5.7.2 पूर्वी अफगान तथा हुमायूँ

नवम्बर 1531 में हुमायूँ के हाथों (चुनार के युद्ध में) पराजित हो जाने पर अफगान कुलीन गुजरात की ओर भाग गए थे। इससे पूर्व में राजनैतिक रिक्तता उत्पन्न हो गई जिसने शेरशाह को अपनी सत्ता को सुदृढ करने का सुअवसर प्रदान किया।

1530-35 के वर्ष शेरशाह के लिए निर्णायक साबित हुए। पूर्व में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करते समय उसको बंगाल एवं उन अफगान कुलीनों का सामना करना पड़ा जिनको बंगाल के शासक द्वारा आश्रय प्रदान किया गया था। दूसरी ओर वह मुगलों के साथ सीधा संघर्ष करने की स्थिति में भी नहीं था। भाग्यवश परिस्थितियों में शेरशाह के अनुकूल परिवर्तन हुआ। हुमायूँ ने गुजरात के शासक बहादुर शाह को गंभीर खतरा मानकर सर्वप्रथम उससे निपटने का निर्णय किया। इन वर्षों के दौरान शेरशाह को अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया गया।

शेरशाह को बंगाल शासकों के दो हमलों का सामना करना पड़ा। प्रथम आक्रमण मुंगेर के *मुक्ती* (गवर्नर) कुतुब खां के नेतृत्व में 1532-1533 में सुल्तान नुसरत शाह के शासनकाल में हुआ। और दूसरा सुल्तान महमूद शाह के शासनकाल में इब्राहिम खां के नेतृत्व में 1534 में किया गया। लेकिन दोनों अवसरों पर बंगाल की सेना को पराजय का सामना करना पड़ा। इन सफलताओं ने बंगाल सेनाओं की कमजोरियों को पूर्णतः उजागर कर दिया। इससे शेरशाह की प्रतिष्ठा में भी वृद्धि हुई। पूर्व के वे अफगान जो पहले उसको छोड़कर चले गए थे अब उसकी अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार हो गए। इसके अतिरिक्त हुमायूँ द्वारा बहादुर शाह की शक्ति नष्ट कर दिए जाने एवं बहादुर शाह की मृत्यु हो जाने के कारण अफगानों के पास मुगलों के विरुद्ध शेरशाह का साथ देने के अलावा कोई विकल्प शेष न रहा था।

अब शेरशाह स्वयं को अफगानों का सार्वभौमिक नेता सिद्ध करना चाहता था। इस समय 1535 में उसने स्वयं बंगाल के शासक पर आक्रमण किया तथा सूरजगढ़ के युद्ध में बंगाल की सेना को पराजित कर दिया। युद्ध के बाद एक शांति समझौते के अनुसार शेरशाह को जब कभी भी आवश्यकता होगी बंगाल का सुल्तान महमूद शाह उसको हाथियों की आपूर्ति एवं वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए सहमत हो गया। इस शानदार सफलता के बाद शेरशाह ने मुगलों के पूर्वी क्षेत्र गोरखपुर एवं बनारस पर आक्रमण किया जो हुमायूं के लिए चेतावनी थी। हुमायूँ ने पूर्वी क्षेत्र की निगरानी करने के लिए हिंदू बेग को जौनपुर का गवर्नर (*हाकिम*) नियुक्त किया। लेकिन शेरशाह ने एक ओर सावधानीपूर्वक हिंदू बेग को मुगलों के प्रति अपनी निष्ठा का आश्वासन दिया, दूसरी ओर इस समय का सदुपयोग अपनी सेना को मुगलों पर कड़ा प्रहार करने के लिए मजबूत करने में लगाया। जैसे ही शेरशाह की तैयारियां पूर्ण हो गईं उसने हिंदू बेग को एक धमकी भरा पत्र लिखा। ठीक उसी समय उसने बंगाल पर (1537) दूसरा आक्रमण किया। हिंदू बेग ने शेरशाह के इस व्यवहार से नाराज हो उसके शत्रुतापूर्ण इरादों की सूचना हुमायूँ को दी। हुमायूँ के अफगान कुलीनों ने उसे सुझाव दिया कि वह शेरशाह को बंगाल पर अधिकार करने से रोके जबकि उसके मुगल कुलीनों का विचार था कि उसको प्रथम चुनार पर अधिकार करना चाहिए तथा उसे आधार बनाकर पूर्व में अपनी कार्यवाहियों का संचालन करना चाहिए। आगरा के साथ संपर्क बनाए रखने के लिए द्वितीय विकल्प महत्वपूर्ण था। लेकिन रुमी खां को चुनार पर अधिकार करने में (छः माह का) लंबा समय लगा। इतिहासकार इसको एक 'भयंकर भूल' मानते हैं क्योंकि हुमायूँ को इसका मूल्य अपना 'साम्राज्य' खोकर चुकाना पड़ा। यद्यपि चुनार को अफगानों के हाथों में स्वतंत्र छोड़ना जहाँ एक ओर मूर्खतापूर्ण कार्य था वहीं शेरशाह को बंगाल में स्वतंत्र एवं बगैर किसी नियंत्रण के छोड़ना भी 'गलत' था।

शेरशाह ने इस समय का उपयोग बंगाल की राजधानी गौड़ पर अधिकार (अप्रैल 1538) करने के लिए किया। हुमायूँ ने शेरशाह से बंगाल एवं रोहतासगढ़ की मांग की, किंतु शेरशाह बंगाल देने के लिए तैयार न था। अतः वार्तालाप असफल हो गया। अंततः हुमायूँ ने शेरशाह की शक्ति को समाप्त करने का निर्णय किया, लेकिन वह स्वयं को बंगाल की राजनीति में फंसाना नहीं चाहता था। फिर भी परिस्थितियों ने उसको ऐसा करने के लिए बाध्य किया। शेरशाह ने चतुराई से स्वयं को बंगाल से अलग कर लिया (सितंबर 1538) और हुमायूं को बगैर किसी बाधा के बंगाल तक पहुंचने दिया।

हुमायूँ को बंगाल में चार माह तक वहाँ पर व्याप्त अराजकता को ठीक करने के लिए ठहरना पड़ा। इसी बीच शेरशाह ने आगरा के मार्गों पर नियंत्रण करने में सफलता प्राप्त की और इस प्रकार हुमायूँ के लिए आगरा के साथ संपर्क मुश्किल कर दिया। हिन्दाल मिर्ज़ा ने हुमायूँ की चिंताओं को उस समय और बढ़ा दिया जबकि उसे सेना के लिए आपूर्ति की व्यवस्था करने के लिए भेजा गया था, किंतु उसने स्वयं को एक स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। हुमायूँ ने तुरंत चुनार की ओर प्रस्थान किया और वह मार्च 1538 को चौसा पहुंचा। उसने कर्मनासा नदी के पश्चिमी किनारे पर अपनी सेना का पड़ाव डाल दिया। इस समय भी हुमायूँ का स्थिति पर पूर्ण नियंत्रण था। उसका अग्रिम भाग नदी द्वारा सुरक्षित था पीछे के हिस्से में चुनार स्थित था, जिस पर अभी भी उसकी सेना का नियंत्रण था। शेरशाह ने भी समझौता करने की इच्छा व्यक्त की। लेकिन इस स्थिति में हुमायूँ ने नदी पार कर स्वयं को अनावश्यक खतरे में डाल दिया। शेरशाह हुमायूँ की सामग्री, हथियारों एवं परिवहन की कमी से भली-भांति परिचित था। अतः उसने स्थिति से लाभ उठाने में कोई समय नष्ट नहीं किया। उसने समझौते की शर्तों को पूरा करने का बहाना करते हुए मुगल सेना पर अचानक आक्रमण कर दिया। मुगल खेमे में भगदड़ व्याप्त हो गई। बड़ी संख्या में मुगल सेना नष्ट हो गई। हुमायूँ एवं असकरी मिर्ज़ा ने भागने में सफलता प्राप्त की। हुमायूँ मानिकपुर तथा कालपी के रास्ते आगरा पहुंचा (जुलाई 1539)। गहोरा के राजा वीरभान ने उनके बचाव में काफी मदद की। कामरान मिर्ज़ा ने हुमायूँ का नष्ट हुई सेना के साथ आगरा वापस लौटने पर स्वागत किया। जबकि शेरशाह ने अपनी विजय से पुलकित होकर स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर दिया। इन परिस्थितियों में अंतिम संघर्ष अपरिहार्य था। हुमायूँ को गंगा के तट पर 1540 में हुए कन्नौज के युद्ध में बुरी तरह से पराजय का सामना करना पड़ा। इस हार ने भारत में 'दूसरे अफगान साम्राज्य' की स्थापना के मार्ग को प्रशस्त्र किया। शेरशाह के विरुद्ध हुमायूँ की असफलता के बहुत से कारण थे। कुछ मुख्य इस प्रकार हैः

क) भाइयों का वैमनस्य। उसने भाइयों के साथ कई अवसरों पर अत्यधिक दयालुतापूर्वक व्यवहार किया।

ख) कई परिस्थितियों में जबकि उसे तीव्रता के साथ कार्यवाही करनी चाहिए थी उसने सुस्ती दिखाई। इसे उसके गुजरात एवं बंगाल अभियानों के दौरान देखा जा सकता है।

ग) वह 'निष्ठुर भाग्य' का भी शिकार हुआ। उदाहरण के लिए, बंगाल के महमूद शाह ने उसे अनावश्यक बंगाल की राजनीति में उलझाये रखा जिससे शेरशाह को अपनी स्थिति सुदृढ़ करने का अवसर प्राप्त हुआ।

घ) निरंतर युद्धों को जारी रखने के लिए आवश्यक वित्तीय संसाधनों की भी हुमायूँ के पास कमी थी। जिस समय वह बंगाल में था (1539) वह निःसहाय था एवं उसके पास धन तथा आपूर्ति दोनों की कमी थी।

ङ.) इसके अतिरिक्त शेरशाह के पास साहस, अनुभव तथा संगठनात्मक योग्यता थी। वह राजनैतिक अवसरों का लाभ उठाने में निपुण था। हुमायूँ का इन गुणों में उससे कोई मुकाबला न था।

5.7.3 हुमायूँ एवं उसके भाई

अपने पिता बाबर की मृत्यु के पश्चात् हुमायूँ ने अपने साम्राज्य को चार भागों में विभाजित कर दिया। मेवात हिन्दाल को, सम्भल असकरी को तथा पंजाब, काबुल तथा कंधार कामरान को दिया। साम्राज्य का हुमायूँ द्वारा किया गया विभाजन उसके लिए हानिकारक था क्योंकि इससे उसके पास सीमित संसाधन शेष रहे। उसके उदारतापूर्ण व्यवहार के बावजूद जब कभी भी उसको आवश्यकता हुई उसके भाइयों ने उसकी मदद नहीं की। अहमदाबाद पर बहादुर शाह के आक्रमण के समय उसका भाई असकरी मिर्ज़ा जिसे हुमायूँ ने गुजरात का गवर्नर नियुक्त किया था, उत्पन्न समस्या का हल न कर सका। फलस्वरूप हुमायूँ को मालवा खोना पड़ा (1537)। कन्नौज के युद्ध में शेरशाह द्वारा पराजित होने के पश्चात् जब हुमायूँ को सहायता की अति आवश्यकता थी उस समय असकरी मिर्ज़ा ने इस निर्णायक अवसर पर उसका साथ छोड़कर कामरान के साथ कंधार की ओर प्रस्थान किया। परंतु हिन्दाल मिर्ज़ा हुमायूँ के प्रति वफादार बना रहा। अंततः वह उसके लिए युद्ध करता हुआ मारा (1551) गया।

हुमायूँ को सबसे बड़ा खतरा कामरान मिर्ज़ा से था क्योंकि उसने अफगानिस्तान तथा पंजाब में लगभग एक स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया था। इस प्रकार सत्ता के दो केंद्र बन गए – एक काबुल में और दूसरा आगरा में। इस स्थिति ने एक केंद्रीकृत राज्य के उदय में बाधा उत्पन्न की और उस प्रथम संकट के समय (1538-1540), जिसका सामना मुगलों को करना पड़ा, उत्पन्न राजनीतिक अस्थिरता इसका प्रमाण थी। यद्यपि कामरान मिर्ज़ा हुमायूँ के प्रति प्रारंभिक वर्षों में वफादार बना रहा और एक बार हिन्दाल मिर्ज़ा द्वारा उत्पन्न समस्या का समाधान करने के लिए वह दिल्ली के गवर्नर यादगार नासिर मिर्ज़ा के आमंत्रण पर दिल्ली भी आया (जून 1539)। किंतु दोनों भाई हिन्दाल तथा कामरान चौसा के युद्ध में हुमायूँ की सहायता करने के स्थान पर दूर से ही स्थिति का आकलन करते रहे। यदि उन्होंने समय पर हुमायूँ की भरपूर सहायता की होती तो संभवतः हुमायूँ शेरशाह को पराजित कर पाता।

ऐसा प्रतीत होता है कि कामरान अफगानों के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बनाने की अपेक्षा अपने क्षेत्र की सुरक्षा बनाए रखने में अधिक रुचि रखता था। हुमायूँ का शेरशाह के साथ अंतिम युद्ध (1540) से पूर्व ही कामरान मिर्ज़ा ने लाहौर में हुमायूँ की सेवा में संपूर्ण सेना भेजने के स्थान पर मात्र 3000 सिपाहियों को ही भेजा। 1540 में हुमायूँ के शेरशाह के हाथों पराजित हो जाने के बाद कामरान ने काज़ी अब्दुल्लाह के माध्यम से शेरशाह को पंजाब की सीमा के रूप में स्वीकार करने का प्रस्ताव भेजा। शेरशाह ने इससे अनुमान लगाया कि दोनों भाइयों के मध्य एकता का अभाव है। अतः मौके का फायदा उठाकर उसने उसे सिंधु नदी को सीमा मानने पर मजबूर किया। कामरान का विचार था कि उसको अपने भाई हुमायूँ की अक्षमता के कारण शेरशाह को पंजाब देना पड़ा और वह काबुल तथा कंधार को बचाने के लिए अधिक चिंतित हो गया। 1545-1553 के वर्षों में हुमायूँ सतत् कामरान मिर्ज़ा से संघर्षरत रहा। परंतु इन सब के बावजूद हुमायूँ की

असफलता का पूरा उत्तरदायित्व उसके भाइयों पर नहीं थोपा जा सकता। फिर भी यदि हुमायूँ को अपने भाइयों का भरपूर समर्थन प्राप्त हुआ होता तो साम्राज्य को बचाया जा सकता था।

5.8 भारत में द्वितीय अफगान साम्राज्य की स्थापनाः 1540-1555

अंततः हुमायूँ को निष्कासित करने के बाद शेरशाह पूर्व में सिंधु से लेकर बंगाल की खाड़ी तक तथा उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में मालवा तक उत्तर भारत का सम्राट बन गया। मुल्तान और ऊपरी सिंध के बलोच सरदार और पश्चिमी राजपूताना में मालदेव और रायसेन के भैया पूरनमल पराजित हो गए। शेरशाह सूर के अधीन एक बार फिर एक केंद्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था की शुरुआत हुई। शेरशाह के आगमन के बाद, उत्तर भारत में एक नए इतिहास का सूत्रपात हुआ। विचारों और संस्थानों में भी कई महत्वपूर्ण बदलाव आए।

मुगल सम्राट को पराजित करने के पश्चात् शेरशाह ने स्वयं को सम्राट घोषित कर दिया तथा 'दूसरे अफगान साम्राज्य' को संगठित करना शुरू किया। अफगान शासन के पंद्रह वर्ष (1540-1555) मुगल साम्राज्य के इतिहास में अंतराल के वर्ष थे। लेकिन इसके बावजूद भी यह समय प्रशासनिक प्रयोगों एवं पुनर्गठन की दृष्टि से महत्वपूर्ण था। शेरशाह अपने संक्षिप्त शासनकाल (1540-1545) में नए साम्राज्य को एकीकृत बनाए रखने के लिए युद्धरत रहा। यहाँ हम इस काल के दौरान शेरशाह के संघर्षों का संक्षिप्त विवरण करेंगे।

शेरशाह का प्रथम संघर्ष घक्करों (सिंधु तथा झेलम की बीच बसे उत्तर-पश्चिम सीमा के निवासी) के साथ हुआ। लेकिन शेरशाह को अपने इस अभियान में पूर्ण सफलता प्राप्त न हो पाई। घेक्करों ने कड़ा संघर्ष किया। बंगाल का गवर्नर खिज्र खां भी स्वतंत्र होने के लिए प्रयत्न करने लगा जिसके कारण उसे पंजाब से पीछे हटना पड़ा और उसने 1541 में बंगाल की ओर प्रस्थान किया। जहाँ उसने खिज्र खां को अपदस्थ कर दिया। शेरशाह का अगला लक्ष्य मालवा था जहां कादिर शाह उसके विरुद्ध षड्यंत्ररत था। मार्ग में उसने अब्दुल कासिम को हराकर ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। कादिर शाह ने भी आत्मसमर्पण कर दिया और उसे 1542 में गिरफ्तार कर लिया गया। राजपूत समस्या का समाधान करने के लिए सर्वप्रथम उसने रायसेन (1543) पर अधिकार कर लिया। रायसेन का राजा पूरनमल यद्यपि शेरशाह की संप्रभुता को स्वीकार करने के लिए तैयार था लेकिन शेरशाह ने उस पर आक्रमण कर दिया जिससे पूरणमल कई अन्य सिपाहियों के साथ युद्ध में मारा गया।

1543 में मुल्तान प्रांत को भी विजित कर लिया गया। रायसेन के युद्ध में राजपूतों की पराजय के बावजूद मेवाड़ का राजा मालदेव अभी भी काफी शक्तिशाली था। उसने अपने प्रभुत्व का प्रसार साम्भर, नागौर, बीकानेर, अजमेर तथा बेदनार तक कर दिया था। शेरशाह ने उसकी ओर कूच किया और 1544 में अजमेर, पाली तथा माउंट आबू पर अधिकार कर लिया। चित्तौड़ के शासक उदय सिंह ने भी बिना किसी विशेष विरोध के चित्तौड़ शेरशाह को सौंप दिया। इस प्रकार लगभग संपूर्ण राजपूताना उसके अधीन हो गया। शेरशाह को कालिंजर के अजेय दुर्ग पर भी अधिकार करने में सफलता प्राप्त हुई। लेकिन जिस समय वह इस दुर्ग पर अपना अधिकार करने का प्रयत्न कर रहा था शेरशाह एक विस्फोट में घायल हो गया और इस घटना के बाद शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गई (22 मई, 1545)। इस प्रकार शेरशाह के शानदार जीवन का अंत हो गया।

शेरशाह के पुत्र इस्लाम शाह (1545-1553) ने हालांकि अपने पिता के साम्राज्य को बनाए रखा किंतु वह साम्राज्य का और अधिक विस्तार तथा सुदृढ़ीकरण न कर सका। उसका अधिकतर समय अपने ही खेमे के उन आंतरिक षड्यंत्रों को दबाने में ही व्यतीत हो गया जिनका नेतृत्व उसका भाई आदिल शाह, आज़म हुमायूँ तथा खव्वास खां के साथ मिलकर कर रहा था। इसके अतिरिक्त उसका अफगान कुलीनों, विशेषकर नियाज़ी और अफगानों के साथ अपमानजनक व्यवहार से मदद की बजाय उनमें उसके विरुद्ध विरोध को बढ़ावा मिला। जिसका प्रभाव उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारियों को झेलना पड़ा। इस्लाम शाह द्वारा अपनी मृत्यु (1553) के पश्चात् अपने पुत्र को सरलता से उत्तराधिकारी बनाने के लिए मार्ग को प्रशस्त करने के प्रयत्नों के बावजूद यह नवीन अफगान साम्राज्य आंतरिक कलहों की चपेट में आ गया, जो हुमायूँ के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ। इस्लाम शाह की मृत्यु के तुरंत बाद मुबारक खां ने इस्लाम शाह के पुत्र फिरोज़ की हत्या

कर दी और आदिल शाह के नाम से स्वयं सत्तारूढ़ हो गया। विद्रोह एवं षड्यंत्र संपूर्ण राज्य में व्याप्त हो गए। अंततः साम्राज्य 'पांच' भागों में विभाजित हो गया (अहमद खां सूर पंजाब में; इब्राहिम शाह सम्भल तथा दोआब में; आदिल शाह चुनार तथा बिहार में; मालवा में बाज बहादुर और सिकंदर शाह आगरा तथा दिल्ली में)। इन परिस्थितियों ने हुमायूँ को पुनः आक्रमण करने के लिए आदर्श पृष्ठभूमि प्रदान की।

सूर प्रशासनिक व्यवस्था

शेरशाह सम्भवतः अलाउद्दीन खलजी (1296-1316) के शासन के इतिहास से प्रेरित था। उसने सुल्तान के अधिकांश नियमों और कानूनों को अपनाया, हालांकि खलजी के समान उसने उन्हें लागू करने के लिए उतनी कठोरता नहीं अपनायी। दोआब क्षेत्र में ***सरकार*** (खलजियों के *शिक* का पर्याय) प्रशासनिक व राजस्व की इकाई था, जबकि प्रतिरक्षा एवं प्रशासन की सहूलियत के लिए बंगाल, मालवा, राजपूताना, सिंध और मुल्तान जैसे दूरस्थ क्षेत्रों में प्रशासनिक इकाई के रूप में ***विलायत*** की व्यवस्था को कायम रखा गया। एक *विलायत* में कई *सरकारें* होती थीं। एक *सरकार* के अंतर्गत कई ***परगने*** होते थे, प्रत्येक *परगने* में कई गांव होते थे। गांव मूलतः राजस्व की प्राथमिक इकाई था।

सरकार या *विलायत* में नियुक्त सरदार को असीमित अधिकार नहीं दिए जाते थे। नए नियमों और कानूनों को लागू करने के लिए उसे हमेशा शाही *फरमान* के जरिए निर्देश भेजे जाते थे। जासूस पदाधिकारियों के व्यवहार की सूचना सुल्तान को देते रहते थे। सही ढंग से काम न करने वाले पदाधिकारियों को दंड दिया जाता था। बंगाल के गवर्नर खिज्र तुर्क को इस कारण से बर्खास्त कर जेल में डाल दिया गया क्योंकि उसने शेरशाह की अनुमति के बिना बंगाल के भूतपूर्व सुल्तान की बेटी से शादी कर ली थी और स्वतंत्रता जाहिर करने की कोशिश की थी।

इसी प्रकार शेरशाह को जिन क्षेत्रों में विरोध की आशंका थी, उन क्षेत्रों में उसने अफगानों को बसाकर अफगान क्षेत्र स्थापित किए। यह उसकी राजत्व नीति की प्रकृति को प्रतिबिंबित करता है। उदाहरण के लिए, शेरशाह के शासनकाल में ग्वालियर अफगानों की एक मुख्य बस्ती थी। संक्षेप में, सभी दृष्टियों से शेरशाह एक निरंकुश शासक था।

शेरशाह ने अपने कुलीनों की नियुक्ति में यह खास ध्यान रखा कि एक ही प्रजाति या समुदाय के लोगों का वर्चस्व न हो जाए। उसने विभिन्न संप्रदायों से कुलीनों की भर्ती की ताकि उसके शासन को किसी गंभीर चुनौती का सामना न करना पड़े। कोई भी समूह इतना शक्तिशाली नहीं था कि वह शासक पर किसी प्रकार का दबाव डाल सके। हम पाते हैं कि खव्वास खां, हाजी खां और हबीब खां सुल्तानी जैसे गैर-अफगान सरदारों को महत्वपूर्ण प्रांत और बड़े '*इक्ते*' सौंपे गए थे। इससे पता चलता है कि शेरशाह ने कभी भी शुद्ध अफगान कुलीन वर्ग की स्थापना को महत्व नहीं दिया।

शेरशाह की मृत्यु के बाद उसका दूसरा बेटा राजकुमार जलाल खां इस्लाम शाह के नाम से गद्दी पर बैठा। उसने कई वरिष्ठ और अनुभवी सरदारों को निष्कासित कर दिया जिन्होंने उसके बड़े भाई आदिल खां का समर्थन किया था। उन्हें निकालने के बाद इस्लाम शाह अपने राजनीतिक विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिए स्वतंत्र था। उसने अपनी राजधानी आगरा के बजाय ग्वालियर बनाई और चुनार से अपने पिता का खजाना भी ले आया। इस प्रकार दिल्ली की तरह ग्वालियर भी भारतीय-मुस्लिम संस्कृति का केंद्र बना।

यह उल्लेखनीय है कि साम्राज्य की राजनीतिक व्यवस्था को केंद्रीकृत करने में इस्लाम शाह शेरशाह से एक कदम और आगे बढ़ गया। उसने सभी सरदारों से *इक्ते* वापस ले लिए और पूरे साम्राज्य को *खालिसा* के अंतर्गत व्यवस्थित किया गया। उसने अपने अधिकारियों को *इक्तों* की जगह नगद वेतन देना शुरू किया। कुलीन वर्ग और सेना को उसने नए स्तरों में पुनर्गठित किया। सैनिकों के सही रखरखाव के निरीक्षण और उनकी देखभाल करने के लिए तथा सरदारों के लिए जरूरी अस्त्र-शस्त्रों की पूर्ति के लिए उन्हीं में से पदाधिकारियों की नियुक्ति की गई। कुलीनों को युद्ध में काम में लाए जाने वाले हाथी रखने की इजाजत नहीं दी गई थी; वह राजा का विशेषाधिकार था।

इस्लाम शाह अपने सरदारों से बड़ी कड़ाई से पेश आता था, पर वह जनता के प्रति उदार था। उसने जनता के जीवन और संपत्ति को पूर्ण सुरक्षा प्रदान की। अगर किसी व्यक्ति की हत्या हो जाती थी या उसकी संपत्ति को कोई हानि पहुंचती थी, तो इसके लिए उस इलाके के पदाधिकारी को जिम्मेदार ठहराया जाता था। अतः पदाधिकारी अपने क्षेत्र में दोषी व्यक्तियों को गिरफ्तार करने में बहुत मुस्तैदी दिखाते थे। अपने पिता के समान इस्लाम शाह ने अपने साम्राज्य में निष्पक्ष न्याय व्यवस्था की स्थापना भी की।

5.9 भारत में मुगल शासन की पुनःस्थापना

कन्नौज के युद्ध में हुमायूं की पराजय के बाद असकरी मिर्ज़ा तथा कामरान उत्तर-पश्चिम में चले गए किंतु हिन्दाल तथा यादगार नासिर मिर्ज़ा ने हुमायूं का साथ देने का निर्णय किया। हुमायूँ ने सर्वप्रथम सिंध में अपना भाग्य आजमाने का प्रयत्न किया लेकिन यहां हिन्दाल मिर्ज़ा ने भी उसका साथ छोड़ दिया और वह कामरान के निमंत्रण पर कंधार चला गया। सिंध के शासक शाह हुसैन अर्घुन ने यादगार नासिर मिर्ज़ा के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर उसको भी अपने साथ मिला लिया। इस बीच हुमायूं सेहवान पर अधिकार करने में असफल रहा। इन सभी घटनाक्रमों से निराश होकर हुमायूँ ने अकेले ही अपने भाग्य की परीक्षा राजपूताना में लेने का निर्णय किया। मारवाड़ के शासक मालदेव ने हुमायूँ को आमंत्रित किया (जुलाई 1542)। लेकिन शेरशाह ने मालदेव पर हुमायूँ को उसे देने के लिए दबाव डाला। हुमायूँ भयवश भाग गया (अगस्त 1542)। राजपूत शासक राणा बीरसल द्वारा उसका स्वागत किया गया। हुमायूँ ने राणा बीरसल की मदद से एक बार फिर सिंध में अपने भाग्य की परीक्षा लेने की ठानी, किंतु इस बार भी असफल रहा। अब उसने गज़नी के मार्ग से ईरान की ओर प्रस्थान किया (दिसम्बर, 1543)। ईरान के शासक शाह तहमस्प द्वारा उसका गर्मजोशी के साथ स्वागत किया गया (1544)। ईरान के शाह ने हुमायूँ से वायदा किया कि अगर वह उसको कंधार दे देगा तब वह उसकी कंधार, काबुल एवं गज़नी पर अधिकार करने में सहायता करेगा। हुमायूँ इसके लिए तैयार हो गया। कंधार उस समय असकरी मिर्ज़ा के अधीन था। हुमायूँ ने शीघ्र ही कंधार पर अधिकार कर लिया और उसे शाह के हवाले कर दिया।

लेकिन दोनों के मध्य गलतफहमियां प्रारंभ हो गई क्योंकि ईरानियों ने काबुल एवं गज़नी पर अधिकार करने में हुमायूँ की मदद करने में कोई जल्दबाजी नहीं दिखाई। इससे बाध्य होकर हुमायूँ ने ईरानियों से कंधार छीन लिया (1545)। कंधार में हुमायूँ की सफलता ने कई कुलीनों को, विशेषकर हिन्दाल तथा यादगार नासिर मिर्ज़ा को पुनः उसके पक्ष में कर दिया। इस घटनाक्रम से भयभीत होकर कामरान काबुल से गज़नी भाग गया और वहां से सिंध। इस कारण हुमायूँ सरलता से काबुल में (नवंबर, 1545) प्रवेश कर सका। 1545 से 1553 के मध्य हुमायूँ ज्यादातर अपने भाई कामरान की शक्ति का दमन करने में ही व्यस्त रहा। लेकिन कामरान भी हुमायूँ को लगातार संकट में डाले रहा। इस संघर्ष में ही उसका भाई हिन्दाल मिर्ज़ा मारा गया (1551)। इससे उत्तेजित होकर हुमायूँ ने कामरान पर अंतिम प्रहार करने का निर्णय लिया। कामरान ने इस संघर्ष में इस्लाम शाह से सहायता प्राप्त करने का प्रयास किया किंतु वह सफल ना हो सका। जिस समय मिर्ज़ा कामरान एक स्थान से दूसरे स्थान अपने बचाव में दौड़ रहा था उसको घक्कर सरदार सुल्तान आदम ने गिरफ्तार कर हुमायूँ के हवाले कर दिया। अंत में हुमायूँ ने कामरान को अंधा करने का हुकुम दिया और उसे मक्का जाने की आज्ञा दी गई (जहाँ पर अक्टूबर, 1557 में उसकी मृत्यु हो गई)।

कामरान के विरोध का अंत हो जाने पर हुमायूँ काबुल का सार्वभौमिक स्वामी बन गया। भारत में अनुकूल राजनैतिक परिस्थिति देख हुमायूं ने अपने खोए साम्राज्य को पुनः स्थापित करने के लिए व्यवस्थित ढंग से योजना तैयार की। उसने नवंबर, 1554 में लाहौर की ओर प्रस्थान किया और फरवरी, 1555 में वहां पहुंच गया। थोड़ी बहुत मुश्किलों के बावजूद मुगल सेना का विजय अभियान जारी रहा। उसने शीघ्र ही माच्छीवाड़ा पर अधिकार कर लिया। अंतिम संघर्ष सरहिंद में हुआ। सिकंदर शाह सूर को शिवालिक की पहाड़ियों की ओर भागना पड़ा। इस प्रकार दिल्ली प्रस्थान के लिए मार्ग साफ कर लिया गया। हुमायूँ जून 1555 में सलीमगढ़ पहुँचा और दिल्ली पर अपना अधिकार कर लिया। किंतु हुमायूँ अभी अपने विजय अभियान को पूर्ण एवं सुदृढ़ भी

न कर पाया था कि शीघ्र ही 26 जनवरी, 1556 को उसकी मृत्यु हो गई। वह अपने पीछे अपने नाबालिग पुत्र अकबर को विपरीत परिस्थितियों में अकेला छोड़ गया।

बोध प्रश्न-3

1) बहादुर शाह के साथ हुमायूँ के संघर्ष की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

....

....

....

....

2) शेरशाह के विरुद्ध हुमायूँ की असफलता के कारणों को बताइये।

....

....

....

....

3) हुमायूँ के अपने भाइयों के साथ संबंधों पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

....

....

....

....

4) उन परिस्थितियों का विवरण कीजिए जिनके कारण हुमायूँ को अपने खोए साम्राज्य को पुनः प्राप्त करने में सफलता मिली।

....

....

....

....

5.10 सारांश

16वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अफगानों और खासकर लोदी वंश की राजनीतिक व्यवस्था पर प्रभुता बनी रही। मुगलों का आगमन भी हो चुका था पर वे अफगान राजनीतिक व्यवस्था पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए संघर्ष कर रहे थे। वस्तुतः यह काल अस्थिरता का युग था। अफगान सरदार सुल्तान की निरंकुशता को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। इस काल की राजनीतिक घटनाओं के पीछे इस तथ्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। राजनीतिक परिस्थितियों के अनुकूल, बहलोल अफगान सरदारों के द्वारा पूर्ण रूप से नियंत्रित था। सिकंदर ने कुलीनों की कमर तोड़ी पर वह समझौते के लिए तैयार रहता था। पर इब्राहिम लोदी और बाद में सूर शासकों ने निरंकुश केंद्रीकृत राजतंत्र की स्थापना की और कुलीनों को सुल्तान का मातहत बना दिया। राजनीतिक अस्थिरता के बावजूद समृद्धि और आर्थिक स्थिरता थी।

इस इकाई में हमने बाबर के आक्रमण की पूर्व संध्या पर व्याप्त भारत की राजनैतिक परिस्थितियों का अध्ययन किया। यह स्वीकार करना गलत होगा कि भारत की राजनीति के निर्धारण में धार्मिक हितों की प्रमुख भूमिका थी, अपितु उसके निर्धारण में तत्कालीन परिस्थितियों एवं व्यक्तिगत हितों ने प्रमुख भूमिका निभाई। लेकिन पानीपत में बाबर की सफलता के पश्चात् भी उसका मार्ग सरल नहीं था। उसे न केवल राजपूत सरदारों अपितु निराश अफगानों का भी सामना करना था। इन संघर्षों के दौरान बाबर के विरुद्ध जो गठबंधन बनाए गए उनमें धर्म प्रमुख आधार नहीं था। हम देख चुके हैं कि 'महासंघ' में अफगान एवं राजपूत दोनों थे। यह बाबर का महान् नेतृत्व

ही था कि विपरीत परिस्थितियों के बावजूद वह सफल रहा। हुमायूँ अपने पिता के समान महान् सेनापति नहीं था। अतः वह अफगानों के संयुक्त मार्चे का सामना न कर सका। इस प्रकार वह एक समय (1540) अपने पिता के साम्राज्य को बनाए न रख सका।

उसको भारत छोड़ना पड़ा और वह लगभग 13 वर्षों तक वनवास की स्थिति में भटकता रहा। इस दौरान हमने एक महान् अफगान – शेरशाह – का उत्थान देखा। यद्यपि शेरशाह ने मात्र पाँच वर्षों तक शासन किया किंतु उसने इतिहास पर अपनी सफलता की अमिट छाप छोड़ी। उसने न केवल एक ऐसे मजबूत प्रशासनिक ढांचे का निर्माण किया जिसका अकबर द्वारा अनुसरण किया गया तथा उसने इसे और मजबूती प्रदान की, बल्कि इसी ढांचे की बदौलत वह संपूर्ण उत्तर भारत को एक प्रशासनिक इकाई के अंतर्गत ला सका। लेकिन शेरशाह के उत्तराधिकारी उसके साम्राज्य को सुदृढ़ता प्रदान करने में असफल रहे। उनके व्यक्तिगत षड्यंत्रों एवं व्याप्त अराजकता ने हुमायूं को हमला करने का शानदार अवसर प्रदान किया। इस बार उसने कोई गलती नहीं की। उसने 1555 में पुनः सत्ता प्राप्त की। किंतु शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गई। अतः साम्राज्य के सुदृढ़ीकरण के कार्य को वह अपने पुत्र अकबर के लिए छोड़ गया। इसके बाद की परिस्थितियों के बारे में हम अगली इकाई में पढ़ेंगे।

5.11 शब्दावली

अमीन	राजस्व निर्धारित करने वाला पदाधिकारी
बाबरनामा	बाबर की आत्मकथा, इसे *तुजुक-ए बाबरी* भी कहा जाता है
मुक्ती	गवर्नर, *इक्ताधारी*
परगना	कई गांवों को मिलाकर बनाई गई एक प्रशासनिक इकाई
सरकार	कई परगनों को मिलाकर *सरकार* का प्रशासनिक क्षेत्र बनता था
वज़ीर	प्रधानमंत्री
विलायत	प्रांत। इस काल में प्रांत सुपरिभाषित प्रशासनिक इकाई नहीं थी। 1580 में पहली बार अकबर के शासन काल में परिभाषित प्रांतों (*सूबे*) का उदय हुआ

5.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 5.2
2) (1) कड़ा का गवर्नर; (2) बिहार का गवर्नर; (3) कालपी का गवर्नर; (4) पंजाब का गवर्नर
3. देखें उप-भाग 5.3.1
4. देखें उप-भाग 5.3.2

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 5.4
2) देखें भाग 5.5
3) देखें उप-भाग 5.6.1
4) देखें उप-भाग 5.6.2

बोध प्रश्न-3

1) देखें उप-भाग 5.7.1
2) देखें उप-भाग 5.7.2
3) देखें उप-भाग 5.7.3
4) देखें भाग 5.9

5.13 संदर्भ ग्रंथ

हसन, मोहिबुल, (1985) *बाबर फाउंडर ऑफ द मुगल एंपायर इन इंडिया* (नई दिल्लीः मनोहर पब्लिकेशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स).

पांडे, अवध बिहारी, (1956) *द फर्स्ट अफगान एंपायर इन इंडिया* (1451-1526 ए डी) (नई दिल्लीः बुकलैंड लिमिटेड).

सिद्दीकी, इक्तिदार हुसैन, (1969) *सम आस्पैक्टस ऑफ अफगान डेस्पॉटिज़्म इन इंडिया* (अलीगढः थ्री मैन पब्लिकेशन).

त्रिपाठी, आर.पी., (1963) *राइज एंड फॉल ऑफ द मुगल एंपायर* (नई दिल्लीः सेंट्रल बुक डिपो).

5.15 शैक्षणिक वीडियो

टॉकिंग हिस्ट्री ।8। दिल्लीः द फाउंडेशन ऑफ मुगल एंपायर। राज्यसभा टी वी
https://www.youtu.be/anQWopp1NCo

टॉकिंग हिस्ट्री ।9। दिल्लीः द मुगल एंपायर अंडर हुमायूं। राज्यसभा टी वी
https://www.youtu.be/SeCpvMT_vA4

इकाई 6 मुग़ल साम्राज्य : अकबर से औरंगज़ेब तक*

इकाई की रूपरेखा

***डॉ. मीना भार्गव, इंद्रप्रस्थ कॉलेज, दिल्ली; प्रो. मंसूरा हैदर, और डॉ. आर. ए. अलवी, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़; डॉ. सीमा अलवी, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली प्रो. इनायत अली ज़ैदी, इतिहास तथा संस्कृति विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली; प्रो. आभा सिंह, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली। यह इकाई इग्नू के पाठ्यक्रम ई एच आई-03: *भारतः 8वीं सदी से 15वीं सदी तक,* खंड 3, इकाई 11 और ई एच आई-04: *भारत 16वीं सदी से 18वीं सदी के मध्य तक,* खंड 2, इकाई 6, इकाई 7; खंड 3, इकाई 9, इकाई 10 और खंड 9, इकाई 35 से ली गई है।**

6.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आपः

- बैरम खां के संरक्षण का किस प्रकार से अंत हुआ और अकबर ने कैसे राज्य के मामलों को अपने नियंत्रण में कर लिया का उल्लेख कर सकेंगे,
- अकबर और उसके उत्तर अधिकारियों के काल में मुग़ल साम्राज्य के क्षेत्रीय प्रसार को समझ सकेंगे,
- साम्राज्य के प्रसार के समय मुग़लों को किन समस्याओं का सामना करना पड़ा उन्हें समझ सकेंगे,
- अकबर के अधीन प्रांतों के निर्माण की चर्चा कर सकेंगे,
- मुग़ल सम्राटों एवं स्वायत्त सरदारों के संबंधों की तथा इसने कैसे साम्राज्य के प्रसार एवं सुदृढ़ीकरण में मदद की, को रेखांकित कर सकेंगे,
- विभिन्न मुग़ल बादशाहों की राजपूतों, दक्खन राज्यों तथा मराठा शासकों के प्रति नीति का उल्लेख कर सकेंगे,
- मुग़ल तथा उत्तर-पश्चिमी सीमा के मध्य संबंधों को समझ सकेंगे, और
- मुग़ल साम्राज्य के पतन से संबंधित प्रश्न से समग्र रूप में परिचित हो पाएंगे।

6.1 प्रस्तावना

हुमायूँ ने मुग़ल साम्राज्य का उद्धार कर उसे सन् 1555 में पुनः स्थापित किया। लेकिन अकबर की नीतियों ने ही साम्राज्य को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अकबर के शासनकाल में ही मुग़ल साम्राज्य एक राजनीतिक वास्तविकता बन पाया और उसने भारतीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। अकबर के उत्तराधिकारियों ने कुछ परिवर्तनों के साथ उसकी नीतियों को अपनाया या यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने समय के राजनीतिक वातावरण के अनुरूप नीतियाँ अपनाईं।

इस इकाई में हम प्रशासनिक व्यवस्था एवं शासन वर्ग के उद्भव की विस्तृत चर्चा नहीं करेंगे (इसकी विस्तृत विवेचना **खंड II** में की जाएगी)। इस इकाई में मुख्य रूप से क्षेत्रीय प्रसार एवं इससे जुड़ी समस्याओं तक ही हम स्वयं को सीमित रखेंगे। एक विशाल साम्राज्य के रूप में विकसित होने के दौरान मुग़ल शासकों को ऐसी राजनीतिक शक्तियों के साथ जूझना पड़ा जिनका कई क्षेत्रों में आधिपत्य कायम था। इनमें राजपूत, विंध्यपर्वत श्रृंखला के दक्षिण में स्थित बीजापुर, गोलकुंडा, अहमदनगर और मराठा शासक महत्वपूर्ण थे।

अपनी सत्ता को स्थापित करने के बाद मुग़लों ने अपनी उत्तर-पश्चिमी सीमा की सुरक्षा के प्रति काफी गंभीरता से ध्यान दिया। अकबर ने अपने सैनिक अभियानों का संचालन अपने साम्राज्य को मजबूत एवं सुदृढ़ करने के लिए भारत की सीमाओं के अंदर ही किया और वह हिंदूकुश या होरमुज की सीमाओं से बाहर नहीं गया। अपने शासन के प्रारंभ से ही अकबर काबुल एवं कंधार को इस कारण से अपने अधीन करना चाहता था जिससे कि किसी भी बाह्य आक्रमण के समय वह ढाल का काम करें। अबुल फज़ल ने इस वास्तविकता पर बल दिया कि काबुल एवं कंधार दोनों भारत के दोहरे प्रवेश द्वार थे। एक ईरान को तो दूसरा मध्य एशिया की ओर जाता था। इससे पूर्व बाबर ने भी इस वास्तविकता का विवरण अपने संस्मरण *बाबरनामा* में किया था। बाद के इतिहासकारों जैसे सुजान राय भंडारी ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए। जहाँ एक ओर अकबर तथा उसके पूर्ववर्ती शासकों को अपनी मातृभूमि से अथाह प्रेम था, वहीं उसके

उत्तराधिकारी बिना किसी सोच-विचार के साम्राज्यवादी अभिलाषा को पूरा करने में उलझ गए तथा इस नीति के कारण शाहजहां के अधीन भेजे गए उत्तर-पश्चिमी सैनिक अभियान के कारण मुग़ल साम्राज्य को भारी मूल्य चुकाना पड़ा।

इस इकाई में हम अपनी विवेचना का प्रारंभ अकबर से करते हैं कि कैसे उसने अपने विरोधियों पर विजय प्राप्त की और किस प्रकार से अपनी सर्वोच्चता को मुग़ल दरबार में स्थापित किया। आइए सर्वप्रथम हम बैरम खां के संरक्षण काल की चर्चा करते हैं।

6.2 सत्ता की राजनीति और बैरम खां का संरक्षणः 1556-1560

हुमायूं के मृत्यु के समय अकबर की आयु मात्र 13 वर्ष थी। हुमायूं के विश्वासपात्र एवं अकबर के शिक्षक बैरम खां ने 1556-1560 तक उसके **संरक्षक** के रूप में काम कार्य किया। बैरम खां के संरक्षण काल को चार भागों में विभाजित किया जा सकता हैः प्रथम अकबर के सिंहासन ग्रहण करने से पानीपत के युद्ध से पूर्व अर्थात जनवरी 1556 से अक्टूबर 1556 तकः यह वह समय था जबकि अभिजात वर्ग ने अपने हितों की रक्षा करने के लिए बैरम खां के नेतृत्व को स्वीकार किया। दूसरा चरण पानीपत की लड़ाई के बाद भारत में शाही महिलाओं (हमीदा बानो बेगम और माहम अनगा) आदि के आगमन तक का था। इस समय के दौरान बैरम खां ने राज्य के मामलों पर अपना पूर्ण नियंत्रण स्थापित किया। उसने अपने व्यक्तिगत समर्थकों का एक गुट बनाने का प्रयास किया। तीसरा चरण जो 1559 के मध्य तक था, में बैरम खां की शक्ति एवं प्रभाव का ह्रास हुआ। अंतिम चरण में बैरम खां ने पुनः अपने नियंत्रण को स्थापित करने का प्रयास किया। इसी समय में गुटों के मध्य तनाव भी बढ़ा जिसके कारण बैरम खां को सत्ता से निरस्त कर दिया गया।

राजनीतिक तौर पर, प्रथम चरण असुरक्षा का था। इस समय में ना केवल हुमायूं की मृत्यु हुई अपितु साम्राज्य को हेमु की अफगान सेनाओं का सामना करना पड़ा। इस समय अकबर काफी छोटा था जिसके कारण इन घटनाओं से निराशा का वातावरण छा गया। इस स्थिति से सुरक्षित बचने का उपाय सम्राट के लिए एक संरक्षण की नियुक्ति करना था। लेकिन इस बात का भय था कि यदि किसी अभिजात को एक संरक्षण के रूप में नियुक्त किया गया और अगर इससे अभिजात वर्ग के पारस्परिक संबंधों में तनाव उत्पन्न होगा जिससे प्रशासन को खतरा पैदा हो जाएगा। इन सभी खतरों के बावजूद बैरम खां को *वकील* नियुक्त किया गया। आश्चर्य की बात यह है कि किसी भी अभिजात सदस्य ने बैरम खां की नियुक्ति का विरोध नहीं किया, जबकि अभिजात वर्ग का कोई भी सदस्य लंबी सेवा, रक्त संबंधी रिश्ते या अकबर के साथ पूर्ववर्ती निकटता के आधार पर *वकालत* के लिए दावा प्रस्तुत कर सकता था। इसमें बैरम खां के कड़े आलोचक भी शामिल थे।

कुलीनों के द्वारा बैरम खां को संरक्षक स्वीकार करने में ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वे उसके साथ सत्ता एवं प्रभाव में भागीदारी चाहते थे। दूसरी ओर बैरम खां स्वयं सत्ता का उपयोग करने के लिए कृतसंकल्प था। *वकील-उस सल्तनत* का पद ग्रहण करने पर बैरम खां को सत्ता के लिए गुटीय संघर्ष की आशंका थी। इसलिए उसने उन सभी कुलीनों के प्रभाव को समाप्त करने का निश्चिय किया जो उसको चुनौती दे सकते थे। उसने अपने कड़े आलोचक शाह अबुल माली को पदमुक्त कर जेल में डाल दिया। माली कुलीनों के बीच अलोकप्रिय था जिसके कारण बैरम खां की कार्यवाही का कोई विशेष विरोध नहीं हुआ।

आगे चलकर ऐसे सभी कुलीनों को काबुल भेज दिया गया जो बैरम खां के लिए खतरा उत्पन्न कर सकते थे। बैरम खां ने काबुल के गवर्नर मुनीम खां तथा अवध में स्थित मुग़ल सेना के प्रधान अली कुली खां उज़बेग के समर्थन को भी प्राप्त करने के प्रयास किए। बैरम खां को मुनीम खां पर विश्वास न था। वह उसको काबुल तक सीमित कर दरबार से दूर रखना चाहता था। जिस समय मई 1556 में मिर्ज़ा सुलेमान ने काबुल पर आक्रमण किया तब उसे मुनीम खां को अलग करने का अवसर प्राप्त हो गया और उसने आगामी 4 माह तक मुनीम खां के दरबार के साथ संपर्कों को काट कर रखा और इस बीच बैरम खां ने अपनी स्थिति को दरबार में और सुदृढ़ करने में लगाया।

कुलीनों के बीच लगातार तनाव बढ़ रहे थे और पानीपत की द्वितीय लड़ाई के समय तक यह संकट और भी गहरा हो गया था। तारदी बेग के नेतृत्व में शाही सेनायें तुगलकाबाद की लड़ाई में अफगान सेनाओं का सामना करने में असफल रहीं। इस अवसर का लाभ उठाते हुए बैरम खां ने अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए विश्वासघात का आरोप लगाकर सम्राट की आज्ञा के बिना तारदी बेग को फांसी देने का आदेश दिया। इससे कुलीन वर्ग में असंतोष बढ़ने लगा। किंतु पानीपत की लड़ाई ने उसके सम्मान को पुनः स्थापित करने में सहायता प्रदान की। उसने अपने विश्वासपात्रों को उपाधियां एवं दोआब में *जागीरें* तथा तरक्की प्रदान कर अपनी स्थिति को और मजबूत किया। उसने अपने समर्थकों को कुछ महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया। पीर मुहम्मद खां को अपना व्यक्तिगत *वकील*, ख्वाजा अमीनुद्दीन को *बख़्शी* और शेख गदई को *सदर* नियुक्त किया।

तारदी बेग को फांसी देने के छः माह तक साम्राज्य के मामलों पर बैरम खां का पूर्ण नियंत्रण था। सत्ता पर लगभग अपना पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने के बाद उसने संभावित प्रतिद्वंद्वियों को बादशाह पर प्रभाव कायम करने से रोकने का कार्य किया। मुनीम खां तथा ख्वाजा जलालुद्दीन महमूद को काबुल भेज दिया गया और उनको दरबार के साथ संपर्क स्थापित करने से रोका गया। बैरम खां की मजबूत होती स्थिति तथा उसके द्वारा वास्तविकसत्ता के उपभोग करने का कुलीनों ने विरोध किया।

बैरम खां की सत्ता के ह्रास का प्रथम साक्ष्य बैरम खां के प्रबल विरोध के बावजूद अकबर द्वारा मुनीम खां के दामाद मिर्ज़ा अब्दुल्ला मुग़ल की पुत्री के साथ विवाह करना था। अप्रैल 1557 में काबुल से हमीदा बानू बेगम के आगमन ने भी बैरम खां की स्थिति को प्रभावित किया। हमीदा बानू बेगम के साथ माहम अनगा भी थीं जिसने तारदी बेग की फांसी की घटना के समय बैरम खां का समर्थन किया था। बैरम खां को केंद्रीय सरकार के कार्यों का संचालन करने में महत्वपूर्ण कुलीनों के साथ समझौता करने को बाध्य होना पड़ा। उसे प्रमुख कुलीनों के साथ अपनी सत्ता को बांटना पड़ा। एक *वकील* के रूप में बैरम खां प्रमुख कुलीनों की सहमति के बगैर राजा के सम्मुख कोई प्रस्ताव नहीं रख सकता था। इस समझौते ने उसकी ताकत को और क्षीण कर दिया तथा 1558 तक उसका व्यक्तिगत *वकील* पीर मुहम्मद भी उसका विरोधी हो गया।

पुनः अपनी ताकत को प्राप्त करने के लिए 1559 में उसने सत्ता हथियाने का प्रयास किया। इस प्रयास में उसने अपने व्यक्तिगत *वकील* पीर मुहम्मद के स्थान पर मुहम्मद खान सीस्तानी को नियुक्त किया। शेख गदई को *सदर* के अतिरिक्त अन्य कार्य भार सौंपा गया। कई छोटे अधिकारियों को तरक्की दी गई। किंतु बैरम खां का अधिकतर कुलीनों एवं सम्राट से अलगाव बना रहा। अपनी स्वेच्छाचारिता के कारण उसने कुलीनों के असंतोष में और वृद्धि की।

आर. पी. त्रिपाठी जैसे इतिहासकारों ने बैरम खां की यह कह कर आलोचना की है कि उसने सुन्नियों की उपेक्षा कर शियाओं का पक्ष लिया। इस कारण उसने सुन्नियों को अपना विरोधी बना लिया। किंतु इक्तिदार आलम खान का तर्क है कि यद्यपि बैरम खां शिया था फिर भी ऐसा कोई भी ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध नहीं होता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि बैरम खां ने धार्मिक आधार पर पक्षपातपूर्ण कार्य किए। वास्तव में, बैरम खां का कृपापात्र शेख गदई, जो *सद्र* था, वह एक सुन्नी था शिया नहीं।

बैरम खां ने अकबर की चतुरता का आकलन कम करके देखा। उसने बादशाह के विश्वास को जीतने के लिए कोई प्रयास नहीं किया और जब मार्च 1560 में बादशाह ने बैरम खां को पद से हटाने की घोषणा की तब बैरम खां के सभी वफादारों ने बादशाह का समर्थन किया या फिर वे तटस्थ हो गए।

बैरम खां के संरक्षक काल के अध्ययन से स्पष्ट है कि वास्तविक राजनीतिक सत्ता कुलीन वर्ग में निहित थी। कुलानों ने बैरम खां के प्रभुत्व को सीमित रूप में ही स्वीकार किया। वे उसकी वास्तविक सार्वभौम सत्ता को स्वीकार करने को तैयार न थे। अपनी स्थिति को बनाए रखने के लिए उसको कभी कुलीन वर्ग के एक गुट पर निर्भर रहना पड़ता तो कभी दूसरे पर। इस प्रकार वह स्वतंत्र समर्थकों के एक स्थायी गुट को प्राप्त करने में असफल रहा। वास्तव में उसने अपेक्षाकृत छोटे अधिकारियों के ओहदों में वृद्धि और उनको तरक्की प्रदान कर कुलीनों के एक बड़े समूह को अपना विरोधी बना लिया। इस प्रक्रिया में उसने अयोग्य अमीरों का भी गठन किया। अपने जीवन के अंत में उसने महसूस किया कि उसके अपने समर्थक भी उसके विरोधी हो गए थे।

बैरम खां तथा कुलीनों के बीच संघर्ष वास्तव में संरक्षक द्वारा प्रतिनिधित्व करने वाली केंद्रीय सत्ता एवं कुलीन वर्ग के बीच का संघर्ष था। इस काल के दौरान सम्राट सत्ता का प्रतीक मात्र था और वह बैरम खां के विरोधियों की कठपुतली मात्र बनकर रह गया था। बैरम खां ने मुग़ल कुलीनों के दो गुटों, चग़ताई तथा खुरासानी, को संयुक्त करने का प्रयास किया। लेकिन बैरम खां के इस मेल-मिलाप के प्रयास को कुलीनों ने अपनी शक्ति एवं स्वतंत्रता के लिए खतरा समझा। बैरम खां के वफादारों ने भी बैरम खां द्वारा प्रतिनिधित्व की जाने वाली केंद्रीय प्रभुसत्ता को स्वीकार नहीं किया।

बैरम खां का संरक्षक काल उसके लिए एक संकट बना रहा। जहाँ एक ओर वह कुलीनों की स्वतंत्रता में कटौती करना चाहता था वहीं दूसरी ओर उसे अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए उनके समर्थन की भी आवश्यकता थी। इस कारण उसके संपूर्ण काल में एक विरोधाभास बना रहा। एक नए गुट का गठन कर इसको संतुलित किया जा सकता था, किंतु यह उसके लिए संभव न था। नए गुट का गठन करने के लिए अफगानों को शामिल नहीं किया जा सकता था क्योंकि वे सिंहासन के प्रमुख दावेदार थे। उसके सम्मुख राजपूत सरदारों, एवं स्थानीय सरदारों का विकल्प था। लेकिन इनको शामिल करने का कार्य एक लंबी प्रक्रिया थी। इस प्रकार बैरम खां ने जब कभी भी अपनी स्थिति को मजबूत करने का प्रयास किया तभी दरबारी कुलीनों ने उसका विरोध किया। इसके फलस्वरूप वह यदा-कदा स्वयं को अलग-थलग पाता और अतंतः उसको सत्ता से हटना पड़ा।

बैरम खां के निष्कासन ने मुग़ल राजनीति में अंतर्निहित केंद्रीय सत्ता एवं इसकी विपरीत प्रवृत्ति के बीच के संघर्ष की पुष्टि की। इसकी परिणति केंद्रीकृत सत्ता की विरोधी प्रवृत्ति पर विजय के रूप में हुई। इस प्रवृत्ति के द्वारा उन मुश्किलों को समझने में मदद मिलती है जिनका सामना अकबर ने सार्वभौम सत्ता को संभालने के बाद 1562-1567 के वर्षों में किया। हम देखते हैं कि बैरम खां के संपूर्ण संरक्षक काल में राजनीतिक सत्ता तूरानी मूल के अन्य गुटों एवं चग़ताई कुलीनों में निहित थी। एक संरक्षक के रूप में बैरम खां तभी तक सत्ता का उपयोग कर सका जब तक इन गुटों ने उसका समर्थन किया। जैसा कि पहले भी बताया गया कि कुलीन गुटों ने बैरम खां की सत्ता को सीमित तौर पर ही स्वीकार किया था ना कि एक वास्तविक शासक के रूप में। उन्होंने उसका तब तक विरोध नहीं किया जब तक अफगानों को न कुचल दिया गया। लेकिन पानीपत के द्वितीय युद्ध में हेमू की पराजय के बाद उन्होंने संरक्षण के केंद्रीकरण की नीतियों का विरोध करना प्रारंभ कर दिया और उसको मुख्य कुलीन गुटों के प्रभुत्व को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया।

6.3 अकबर के अधीन क्षेत्रीय प्रसार

प्रारंभिक समस्याओं का समाधान करने और सिंहासन पर अपने अधिकार को सुदृढ़ करने के बाद अकबर ने मुग़ल साम्राज्य के क्षेत्रीय प्रसार की नीति का प्रारंभ किया। प्रसार की किसी भी नीति के अनुसरण का अभिप्राय देश के विभिन्न भागों में विद्यमान भिन्न-भिन्न राजनीतिक शक्तियों के साथ संघर्ष था। इनमें से कुछ राजनीतिक शक्तियाँ सुसंगठित थीं। राजपूत राज्य इसी श्रेणी के थे। हालांकि वे स्वयं सरदारों एवं राजाओं के रूप में सारे देश में विद्यमान थे। अफगानों का राजनीतिक नियंत्रण मुख्य तौर पर गुजरात, बिहार और बंगाल पर था। दक्खन तथा दक्षिण भारत में खानदेश, अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुंडा तथा अन्य दक्षिणी शक्तियाँ विद्यमान थीं। उत्तर-पश्चिम भारत में कुछ कबाईलियों के छोटे-छोटे राज्य कायम थे। यद्यपि काबुल तथा कंधार पर मुग़ल गुटों का अधिकार था किंतु वह अकबर का विरोध करते थे।

अकबर ने सुनियोजित ढंग से साम्राज्य के प्रसार का प्रारंभ किया। यहां पर यह भी याद रखा जाना चाहिए कि मुग़ल साम्राज्य का महत्वपूर्ण प्रसार अकबर के शासनकाल के दौरान हुआ। उसके उत्तराधिकारियों (जहांगीर, शाहजहां, औरंगजेब) के शासनकाल में साम्राज्य के क्षेत्रीय प्रसार में आंशिक वृद्धि हुई। औरंगजेब के शासनकाल में मुख्य प्रसार दक्षिण भारत तथा उत्तर-पूर्वी (असम) भारत को साम्राज्य में शामिल करने के रूप में हुआ।

6.3.1 उत्तर तथा मध्य भारत

प्रथम सैनिक अभियान 1559-1560 में ग्वालियर एवं जौनपुर पर अधिकार करने के लिए किया गया। एक संक्षिप्त लड़ाई के बाद राम शाह ने ग्वालियर के किले का समर्पण कर दिया। खान ज़मां को जौनपुर पर अधिकार करने के लिए भेजा गया। खान ज़मां ने जौनपुर के अफगान शासकों को पराजित कर उसे मुग़ल साम्राज्य में शामिल कर लिया।

मध्य भारत के मालवा पर बाज बहादुर का शासन था। उसे अधम खान के नेतृत्व में मुग़ल सेनाओं ने पराजित कर दिया तथा बाज बहादुर बुरहानपुर की ओर भाग गया।

मध्य भारत में गढ़ कटंगा या गोंडवाना का एक अन्य स्वतंत्र राज्य था। इस राज्य पर दलपत शाह की विधवा रानी दुर्गावती का शासन था। दुर्गावती को 1564 में पराजित कर दिया गया। बाद में 1567 में इस राज्य को अकबर ने दलपत शाह के भाई चंद्र शाह को सौंप दिया।

इस काल के दौरान अकबर को मध्य भारत में अनेक विद्रोहों का सामना करना पड़ा। अब्दुल्लाह खां उज़्बेक इन विद्रोहों का नेता था। उसके साथ अन्य दूसरे उज़्बेक भी शामिल हो गए। खान ज़मां तथा आसफ खां ने भी विद्रोह किया। अकबर ने मुनीम खां की सहायता से इन विद्रोहों का दमन कर दिया और अपनी स्थिति को सुदृढ़ किया।

बैरम खां के पतन के बाद (1560) कुलीनों के साथ अकबर का जो संघर्ष प्रारंभ हुआ था अब उसका भी अंत हो गया। अकबर ने अपनी कूटनीतिक निपुणता, संगठनात्मक योग्यताओं तथा विश्वसनीय मित्रों की सहायता से इस गंभीर समस्या का समाधान किया।

6.3.2 पश्चिम भारत

राजपूताना की विजय

अकबर का मानना था कि स्थाई साम्राज्य के लिए उसको राजपूताना में विद्यमान राजपूत राज्यों को अपने अधीन करना होगा। अतः अकबर ने इन राज्यों के प्रति एक सुनिश्चित नीति का निर्धारण किया। इन राज्यों को न केवल विजित करने का निर्णय लिया अपितु इसके शासकों को अपना सहयोगी बनाने का निश्चय किया। यहां पर हम अकबर की राजपूत राज्यों के प्रति नीति की विस्तृत विवेचना नहीं करेंगे, इसकी चर्चा **भाग 6.7** में की गई है। चित्तौड़ के शासक महाराणा प्रताप को छोड़कर सभी राजपूत शासकों ने अकबर के प्रति राजभक्ति अभिव्यक्त की। बहुत से राजपूत शासकों को मुग़ल कुलीनों में शामिल कर लिया गया और इस प्रकार अकबर ने न केवल मुग़ल साम्राज्य का प्रसार किया अपितु उसे सुदृढ़ भी किया।

गुजरात की विजय

अकबर ने मध्य भारत तथा राजपूताना में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के बाद 1572 में गुजरात पर अपना ध्यान केंद्रित किया। गुजरात से हुमायूँ के वापस लौट जाने के बाद से कोई संगठित राज्य कायम नहीं हो सका था तथा वहां के छोटे-छोटे राज्यों के बीच निरंतर आपसी वैमनस्य बना रहता था। गुजरात जहाँ एक ओर कृषि की दृष्टि से अत्यंत उपजाऊ क्षेत्र था वहीं दूसरी ओर वहाँ पर अनेकों व्यस्त बंदरगाह थे और उन्नत तथा विकसित व्यापारिक केंद्र थे।

सुल्तान मुज़फ्फर शाह तृतीय नाममात्र का शासक था और सात युद्धरत रियासतें उसके अधीन थीं। राजकुमार इतिमाद खां ने इन रियासतों को विजित करने के लिए अकबर को आमंत्रित किया। स्वयं अकबर ने अहमदाबाद की ओर कूच किया। बगैर किसी गंभीर विरोध के नगर पर अधिकार कर लिया गया। सूरत की मजबूत किलेबंदी के कारण कुछ प्रतिरोध का सामना करना पड़ा लेकिन उस पर भी अधिकार कर लिया गया। थोड़े ही समय में गुजरात की सभी रियासतों ने अकबर के अधिपत्य को स्वीकार कर लिया।

अकबर ने गुजरात को एक प्रांत के रूप में संगठित किया और उसको मिर्ज़ा अज़ीज़ कोका के अधीन कर स्वयं राजधानी वापस लौट आया। छः माह के अंदर ही बहुत से विद्रोही गुट एकीकृत हो गए थे और उन्होंने मुग़ल शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। विद्रोह के नेता इखतियारूल मुल्क एवं मुहम्मद हुसैन मिर्ज़ा थे। मुगल गवर्नर को अनेक क्षेत्रों का परित्याग करना पड़ा।

आगरा में अकबर ने विद्रोह का समाचार पाकर पुनः अहमदाबाद की ओर प्रस्थान किया। अकबर के इस अभियान को श्रेष्ठतम और सबसे अधिक द्रुत गति का माना गया है। वह प्रतिदिन 50 मील का मार्ग तय करता हुआ 10 दिन के अंदर गुजरात पहुंच गया और विद्रोह को कुचल दिया।

गुजरात में लगभग एक दशक तक शांति बनी रही। इसी बीच मुज़फ्फर तृतीय नज़रबंदी से भाग गया और उसने जूनागढ़ में शरण ली। 1583 के बाद उसने कुछ विद्रोहों को संगठित करने का प्रयास किया।

6.3.3 पूर्वी भारत

शेरशाह के हाथों हुमायूं की पराजय के बाद से ही बिहार तथा बंगाल पर अफगानों ने शासन किया। 1564 में बिहार के गवर्नर सुलेमान कर्रानी ने बंगाल को भी अपने अधीन कर लिया था। सुलेमान ने अकबर की बढ़ती शक्ति का अहसास करते हुए मुग़लों की अधीनता को स्वीकार कर लिया। वह अकबर को नियमित भेंट भेजा करता था। 1572 में उसकी मृत्यु के पश्चात् कुछ संघर्ष के बाद उसके छोटे पुत्र दाऊद ने उसके सिंहासन पर अधिकार कर लिया। दाऊद ने मुग़लों की अधीनता को मानने से इंकार कर दिया और जौनपुर के मुग़ल गवर्नर के साथ संघर्ष करने लगा।

1574 में अकबर ने मुनीम खान *खान-ए खानान* के साथ बिहार की ओर प्रस्थान किया। थोड़े समय में ही हाजीपुर तथा पटना पर अधिकार कर लिया गया तथा दाऊद गढ़ी की ओर भाग गया। कुछ समय तक वहां पर ठहरने के बाद अकबर वापस लौट आया। मुनीम खां तथा टोडरमल ने दाऊद का पीछा किया और उसने मुग़लों के सम्मुख समर्पण कर दिया। कुछ समय बाद उसने पुनः विद्रोह किया। खान-ए जहां के अधीन मुग़ल सेनाओं ने उसका वध कर दिया और गौड़ (बंगाल) प्रदेश को भी मुग़लों ने अपने अधीन कर लिया। इससे लगभग दो सौ साल (कुछ अपवादों को छोड़कर) से चले आ रहे बंगाल के स्वतंत्र शासन का अंत हो गया। ओडिशा के कुछ भाग अब अफगान सरदारों के अधीन थे। 1592 के आसपास मानसिंह ने संपूर्ण ओडिशा को भी मुग़ल साम्राज्य के अधीन कर लिया।

6.3.4 1581 के विद्रोह

वी. ए. स्मिथ के अनुसार 'यदि अकबर के अपनी शक्ति के सुदृढ़ करने वाले प्रारंभिक वर्षों पर ध्यान न दिया जाए तब अकबर के शासनकाल में 1581 का वर्ष सबसे बड़े संकट का वर्ष था'।

कुलीन वर्ग के 1567 तक चलने वाले संघर्ष के बाद पुनः बंगाल, बिहार, गुजरात तथा उत्तर-पश्चिम में गंभीर संघर्ष उभरकर सामने आए। इन विद्रोहों की जड़ों में उन अफगानों का असंतोष था जिनको मुग़लों द्वारा सभी स्थानों से हटाया जा चुका था। इसके अतिरिक्त अकबर के *जागीर* प्रशासन की कड़ी नीति भी इसके लिए उत्तरदायी थी। इस नई नीति के द्वारा *जागीरदारों* को आदेश दिया गया कि वे अपनी-अपनी *जागीरों* का लेखा-जोखा जमा करें तथा उनके सैनिक खर्चों में कटौती की गई थी। बंगाल के गवर्नर ने इन आदेशों को कठोरता के साथ लागू किया। इस नीति ने वहां विद्रोह को जन्म दिया। शीघ्र ही विद्रोह बिहार में फैल गया। मासूम खां काबुली, रोशन बेग़, मिर्ज़ा शर्फुद्दीन तथा अरब बहादुर इस विद्रोह के प्रमुख नेता थे। मुज़फ्फर खान तथा रायपुरषोत्तम एवं अन्य अधिकारियों ने इन विद्रोहों का दमन करने का प्रयास किया किंतु वे असफल रहे। अकबर ने तुरंत राजा टोडरमल तथा शेख फरीद बख्शी के नेतृत्व में एक बड़ी सेना को भेजा। कुछ समय बाद टोडरमल की सहायता के लिए अज़ीज़ कोका तथा शाहबाज खां को भेजा गया। इसी बीच काबुल में विद्रोहियों ने अकबर के भाई हाकिम मिर्ज़ा को अपना राजा घोषित कर दिया। मुग़ल सेनाओं ने बिहार, बंगाल तथा आसपास के क्षेत्रों में विद्रोह को कुचल दिया। कुछ विद्रोही नेताओं ने बचकर बंगाल के जंगल क्षेत्र में शरण ली। ये नेता अपने अधिकांश समर्थकों को खो चुके थे फिर भी कुछ वर्षों तक बगैर किसी विशेष प्रभाव के मुग़ल अधिकारियों को अपने छोटे-मोटे हमलों द्वारा परेशान करते रहे।

मिर्ज़ा हाकिम ने अकबर का दबाव बढ़ाने के लिए लाहौर पर आक्रमण किया। अकबर ने भी लाहौर की ओर प्रस्थान किया। हाकिम मिर्ज़ा ने जैसे ही अकबर के प्रस्थान का समाचार सुना वैसे ही वह पीछे हट गया। हाकिम मिर्ज़ा का अनुमान था कि अधिकतर मुग़ल अधिकारी उसके

साथ शामिल हो जाएंगे किंतु उसका अनुमान गलत साबित हुआ। अकबर ने उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा संगठित करने के बाद एक सेना को काबुल भेजा। अकबर ने भी काबुल की ओर प्रस्थान किया। जब तक अकबर काबुल पहुंचा, हाकिम मिर्ज़ा ने काबुल का परित्याग कर दिया तथा अकबर ने इस पर अपना अधिकार कर लिया अकबर ने काबुल को अपनी बहन बख्तुनिसा बेगम के अधीन कर दिया तथा आगरा वापस लौट आया (1581)। कुछ समय बाद हाकिम मिर्ज़ा भी वापस लौट आया और उसने अपनी बहन के नाम से शासन चलाना जारी रखा। 4 वर्ष बाद मिर्ज़ा हाकिम की मृत्यु हो गई तथा अकबर ने राजा मानसिंह को काबुल का गवर्नर नियुक्त किया।

जिस समय बिहार, बंगाल एवं उत्तर-पश्चिमी प्रांतों में विद्रोह हुए लगभग उसी समय गुजरात में भी विद्रोह हुआ। यहाँ पर मुज़फ्फर शाह नज़रबंदी से भाग गया और उसने विद्रोह का संगठन किया। उसने गुजरात के मुग़ल क्षेत्रों पर आक्रमण करने शुरू कर दिए। इतिमाद खां को गुजरात का उप-गवर्नर नियुक्त कर भेजा गया। विद्रोहियों के विरुद्ध इस अभियान में निज़ामुद्दीन अहमद ने *बख्शी* की हैसियत से उसकी सहायता की। 1584 में मुज़फ्फर शाह को अहमदाबाद तथा नानदेद में पराजित कर दिया गया। वह बचकर कच्छ क्षेत्र की ओर भाग गया। निज़ामुद्दीन अहमद ने उसका यहाँ पर भी पीछा किया। संपूर्ण कच्छ क्षेत्र में अनेकों किलों का निर्माण किया गया तथा मुग़ल अधिकारियों को वहाँ पर नियुक्त कर दिया गया। मुज़फ्फर 1591-1592 तक कोई न कोई समस्या खड़ी करता रहा जब उसे अंततः गिरफ्तार कर लिया गया।

6.3.5 उत्तर-पश्चिम में विजयें

हाकिम मिर्ज़ा की मृत्यु के बाद काबुल को मुग़ल साम्राज्य में शामिल कर राजा मानसिंह को उसे *जागीर* के रूप में सौंप दिया गया। ठीक उसी समय अकबर ने उत्तर-पश्चिम में हो रहे विद्रोहों को दबाने एवं नए क्षेत्रों को विजित करने का निर्णय किया।

रोशनाइयों का दमन

इस क्षेत्र में अकबर का सर्वप्रथम ध्यान रोशनाई आंदोलन की ओर आकर्षित हुआ। रोशनाई एक संप्रदाय था जिसका गठन सीमा क्षेत्र में पीर रोशनाई नाम के एक सिपाही ने किया था। उसको व्यापक समर्थन प्राप्त था। उसकी मृत्यु के बाद उस संप्रदाय का मुखिया उसका पुत्र जलाला बन गया। रोशनाइयों ने मुग़लों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और काबुल तथा हिंदुस्तान के बीच के मार्ग को काट दिया। अकबर ने रोशनाइयों के विद्रोह का दमन करने तथा इस क्षेत्र में मुग़ल सत्ता को स्थापित करने के लिए ज़ैन खां को एक शक्तिशाली सेना का सेनापति नियुक्त किया। ज़ैन खां की सहायता हेतु सैयद खां घक्खर तथा राजा बीरबल को अलग सेना के साथ भेजा गया। एक अभियान के दौरान राजा बीरबल लगभग 8 हज़ार सैनिकों के साथ मारा गया। उसी के साथ ज़ैन खां को भी पराजित कर दिया गया। किंतु वह बचकर किसी प्रकार अकबर के पास अटक के किले में पहुंचा। अकबर को राजा बीरबल की मृत्यु से बहुत बड़ा आघात लगा क्योंकि वह उसके अत्यंत प्रिय साथियों में से एक था। अकबर ने इस क्षेत्र पर अधिकार करने के लिए एक शक्तिशाली सेना का सेनानायक राजा टोडरमल को नियुक्त किया। राजा मानसिंह से भी कार्यवाही करने को कहा गया। इन दोनों के संयुक्त अभियान के कारण रोशनाइयों को पराजित कर दिया गया।

कश्मीर की विजय

अकबर की दृष्टि बहुत दिनों से कश्मीर को विजित करने पर लगी थी। वह जिस समय अटक में पड़ाव डाले हुए था तभी उसने राजा भगवान दास तथा शाह कुली महराम के नेतृत्व में कश्मीर की विजय के लिए सेना भेजी। कश्मीर के राजा यूसुफ खान को पराजित कर दिया गया और उसने मुग़लों की अधीनता को स्वीकार कर लिया। किंतु अकबर इस संधि से बहुत प्रसन्न न था क्योंकि वह कश्मीर को अपने साम्राज्य में शामिल करना चाहता था। यूसुफ खां के पुत्र याकूब ने कश्मीर के अमीरों के साथ मिलकर मुग़लों का विरोध करने का निर्णय किया और युद्ध का प्रारंभ कर दिया। किंतु कश्मीर की सेना में कुछ असंतोष उत्पन्न हो गया अंततः मुग़ल सेनाओं ने विजय प्राप्त की और कश्मीर को 1586 में मुग़ल साम्राज्य में शामिल कर लिया।

थट्टा (सिंध) की विजय

उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र के सिंध प्रांत में थट्टा नाम का क्षेत्र अभी तक स्वतंत्र था। अकबर ने खान-ए खानान को मुल्तान का गवर्नर नियुक्त किया और 1590 में उसको सिंध विजय तथा बलूचियों का दमन करने का आदेश दिया। थट्टा को विजित कर लिया गया तथा इसे इस ***सूबे*** की एक *सरकार* के तौर पर मुल्तान के गवर्नर के अधीन कर दिया गया।

आसपास के क्षेत्रों में मुग़ल सेनाओं ने बलूचियों का दमन जारी रखा। 1595 में अंतिम तौर पर उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र पर मुग़लों की सर्वोच्चता को स्थापित हो गई।

6.3.6 दक्खन तथा दक्षिण

गुजरात तथा मालवा में विजय हासिल करने के बाद अकबर ने दक्खन के राज्यों अहमदनगर, बीजापुर तथा गोलकुंडा में रुचि लेना प्रारंभ कर दिया। प्रारंभिक संपर्क दूत भेजने तथा यदा-कदा भेंट तक ही सीमित था। 1590 के बाद अकबर ने इन राज्यों को मुग़ल नियंत्रण के अधीन करने के लिए योजना बनाना शुरू कर दिया। इस समय के आसपास दक्खन राज्यों में आंतरिक एवं आपसी कलह भी चल रहा था।

अकबर ने 1591 में दक्षिण के राज्यों को मुग़ल साम्राज्य की सर्वोच्चता स्वीकार करने के लिए दूतों को भेजा। फैज़ी को असीर तथा बुरहानपुर (खानदेश) ख्वाजा अमीनुद्दीन को अहमदनगर, मीर मुहम्मद अमीन मशदी को बीजापुर तथा मिर्ज़ा मसूद को गोलकुंडा भेजा गया। 1593 तक ये सभी मिशन बगैर सफलता के वापस लौट आए। यह कहा गया कि केवल खानदेश के शासक अली खां ने मुग़लों की इस नीति में रुचि दिखाई। अकबर ने सैन्य शक्ति का अनुसरण करने का निर्णय किया। यहां पर हम मुग़लों की दक्खन नीति की कोई विस्तृत चर्चा ना करके, दक्खन में अकबर के अधीन क्षेत्रीय विस्तार का विवरण करेंगे (दक्खन नीति की विस्तृत चर्चा **भाग 6.8** में की जाएगी।)

प्रथम सैनिक अभियान शहजादा मुराद तथा अब्दुर रहीम खान खानान के नेतृत्व में अहमदनगर भेजा गया। 1595 में मुग़ल सेनाओं ने अहमदनगर पर अधिकार कर लिया। इसकी शासिका चांदबीबी ने एक विशाल सेना का नेतृत्व करते हुए मुग़लों का सामना किया। उसने बीजापुर के शासक इब्राहिम अली शाह तथा गोलकुंडा के शासक कुतुब शाह से सहायता का आग्रह किया किंतु सफलता न मिली। चांद बीबी ने मुग़ल सेनाओं का कड़ा प्रतिरोध किया। दोनों ओर से भारी नुकसान के बाद एक संधि का मसौदा तैयार किया गया। इस संधि के अनुसार चांद बीवी ने बरार का समर्पण मुग़लों को कर दिया। कुछ समय बाद चांद बीबी ने बरार को वापस लेने के लिए उस पर आक्रमण किया। इस समय निज़ामशाही, कुतुब शाही तथा आदिलशही सेनाओं ने संयुक्त तौर पर मुग़ल सेना का मुकाबला किया। मुग़लों को भारी नुकसान उठाना पड़ा किंतु किसी प्रकार से मैदान में डटे रहे। इसी बीच मुराद एवं खान खानान के बीच मतभेद हो जाने के कारण मुग़ल सेना की स्थिति कमजोर पड़ गई। इसलिए अकबर ने अबुल फज़ल को दक्खन के अभियान पर भेजा और खान खानान को वापस बुला लिया। 1598 में शहजादा मुराद की मृत्यु के पश्चात् शहजादा दानियाल तथा खान खानान को दक्खन भेजा गया। अकबर भी सहायता के लिए उनसे जा मिला। प्रथम अहमदनगर पर अधिकार कर लिया गया। इसी बीच चांद बीबी की मृत्यु हो गई। 1600 में असीरगढ़ तथा आसपास के क्षेत्रों को मुग़ल सेनाओं ने विजित कर लिया। बीजापुर के शासक आदिल शाह ने मुग़लों की सर्वोच्चता को स्वीकार कर लिया तथा शहजादा दानियाल के साथ अपनी पुत्री का विवाह करने की पेशकश की। दक्खन में मुग़ल साम्राज्य में असीरगढ़, बुरहानपुर, अहमदनगर तथा बरार को शामिल कर लिया गया।

6.4 प्रशासनिक पुनर्गठन

अकबर की विजयों एवं क्षेत्रीय प्रसार की नीति मुग़ल प्रशासनिक ढांचे में नए क्षेत्रों को सुदृढ़ करने के साथ-साथ चली।
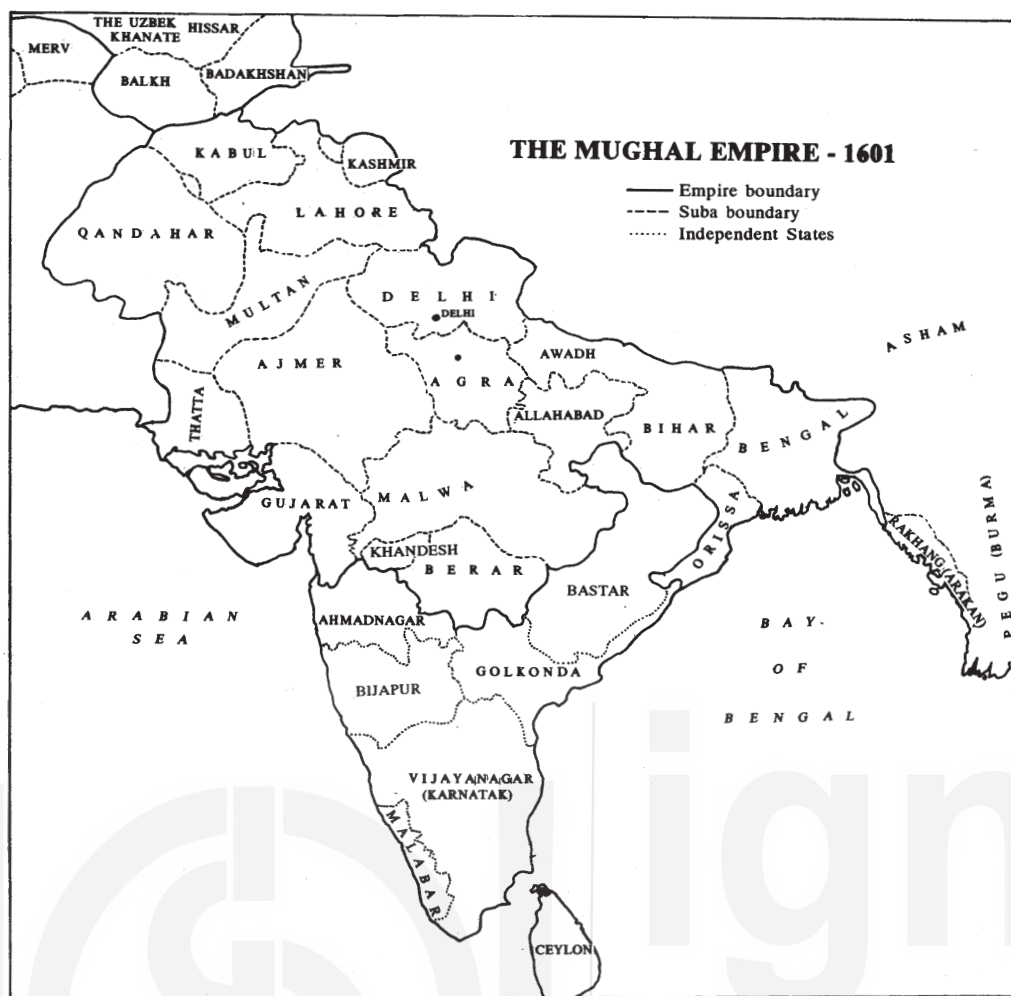
मानचित्र 6.1: मुग़ल साम्राज्य, 1601

स्रोतः ई एच आई-04: *भारतः 16वीं सदी से 18वीं सदी के मध्य तक*, खंड 2, इकाई 6, पृ. 27

सूबों का निर्माण

1580 में अकबर ने संपूर्ण मुग़ल साम्राज्य को 12 प्रांतों में विभाजित कर दिया और जिनको *सूबा* कहा गया। यह *सूबे* इलाहाबाद, आगरा, अवध, अजमेर, अहमदाबाद (गुजरात), बिहार, बंगाल (ओडिशा सहित), दिल्ली, काबुल, लाहौर, मुल्तान तथा मालवा थे। दक्खन की विजय के बाद 3 नए *सूबों* को शामिल कर लिया गया तथा अब इनकी संख्या बढ़कर 15 हो गई। ये तीन *सूबे* थे बरार, खानदेश तथा अहमदनगर। इन प्रांतों पर सुनिश्चित नियमों के अनुसार यहाँ नियुक्त अधिकारियों द्वारा शासन किया जाता था।

सैन्य प्रशासन

अकबर ने सैन्य प्रशासन को भी एक नया स्वरूप प्रदान किया। उसने सेना को संगठित करने के लिए पूर्ववर्ती परंपराओं तथा नवीन उपायों का संयुक्त रूप से उपयोग किया और उसने एक केंद्रीकृत सैनिक ढांचे को विकसित करने का प्रयास किया। उसने सैन्य एवं नागरिक अधिकारियों को उनकी योग्यता या राज्य की सेवा के आधार पर *मनसब* प्रदान किया। *मनसब* का शाब्दिक अर्थ है पद या ओहदा और *मनसबदार* का तात्पर्य है पद को धारण करने वाला। अकबर ने अपनी *मनसबदारी* व्यवस्था में 66 स्तरों की रचना की अर्थात दस सैनिकों के नेतृत्व (*दहबाशी*) से लेकर दस हज़ार (*दह हज़ारी*) सैनिकों तक का नेतृत्व।

सभी *मनसबदारों* को नकद धन या *जागीर* के रूप में अदायगी की जाती थी। अकबर के शासन काल में जिस सैन्य प्रशासन को विकसित किया गया था उसके उत्तराधिकारियों के शासन के दौरान उसमें कई परिवर्तन किए गए। यहां पर हम *मनसब* व्यवस्था का विस्तृत विवरण नहीं करेंगे अपितु इसका विस्तृत वर्णन **खंड 2** में किया जाएगा।

बोध प्रश्न-1

1) बैरम खां ने अपनी सत्ता के लिए प्रारंभिक चुनौतियों का सामना कैसे किया?

....

....

....

....

2) पानीपत की दूसरी लड़ाई के बाद बैराम खां द्वारा सत्ता की पुनर्स्थापना की व्याख्या कीजिए और 1554 के बाद बैरम खां की शक्ति के पतन की चर्चा की कीजिए।

....

....

....

....

3) गुजरात को कैसे मुग़ल शासन के अधीन किया गया?

....

....

....

....

4) 1581 के विद्रोह से कौन-कौन से क्षेत्र प्रभावित थे?

....

....

....

....

5) 1580 में संगठित किए गए *सूबों* की सूची बनाइए।

....

....

....

....

6.5 अकबर के उत्तराधिकारियों के अधीन क्षेत्रीय विस्तार

अकबर के क्षेत्रीय विस्तार ने मुग़ल साम्राज्य को एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया। उसके उत्तराधिकारियों अर्थात जहांगीर, शाहजहां तथा औरंगजेब के शासनकाल में क्षेत्रीय प्रसार में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। हम देखते हैं कि औरंगजेब के बाद साम्राज्य का बिखरना प्रारंभ हो गया था। इस भाग में हम अकबर के उत्तराधिकारियों के शासन के दौरान क्षेत्रीय प्रसार का उल्लेख करेंगे।

17वीं शताब्दी में मुख्य रूप से गतिविधियाँ उत्तर-पश्चिम सीमा, दक्षिण भारत, उत्तर-पूर्व और कुछ सुदूर क्षेत्रों में हुई।

उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में रोशनाइयों पर 1625-1626 में निर्णायक विजय प्राप्त कर ली गई थी। अब कंधार ईरानियों तथा मुग़लों के बीच संघर्ष क्षेत्र बन गया। अकबर की मृत्यु के पश्चात् सफवी वंश के शासक शाह अब्बास प्रथम के अधीन ईरानियों ने कंधार पर अधिकार करने का प्रयास किया। किंतु वे असफल रहे। तत्पश्चात् 1620 में शाह अब्बास प्रथम ने जहांगीर से कंधार देने का अनुरोध किया। किंतु जहांगीर ने ऐसा करने से इंकार कर दिया। 1622 में एक अन्य आक्रमण द्वारा ईरानियों ने कंधार पर अधिकार कर लिया। कंधार पर अधिकार करने के लिए औरंगजेब के शासनकाल तक संघर्ष चलता रहा किंतु मुग़लों को बहुत कम सफलता प्राप्त हुई।

राजपूताना में मेवाड़ एक ऐसा क्षेत्र था जो अकबर के शासन काल में मुग़ल साम्राज्य का अंग न बन सका था। इस पर अधिकार करने के लिए जहांगीर ने एक सुनिश्चित नीति का अनुसरण किया। अनेकों संघर्षों के बाद राणा अमर सिंह ने अंततः मुग़लों की अधीनता को स्वीकार कर लिया। चित्तौड़ के किले सहित मेवाड़ से जितने भी क्षेत्र लिए गए थे उसे अमर सिंह को वापस लौटा दिया गया। उसके पुत्र करण सिंह को एक बड़ी *जागीर* प्रदान की गई। अकबर के उत्तराधिकारियों के शासन के दौरान राजपूतों ने मुग़लों के साथ मित्रतापूर्ण संबंध जारी रहे और मुग़ल शासकों द्वारा उन्हें ऊंचे-ऊंचे *मनसब* प्रदान किए गए।

अकबर के शासन के अंतिम वर्षों तथा जहांगीर के प्रारंभिक वर्षों में मलिक अम्बर के नेतृत्व में अहमदनगर ने मुग़ल सत्ता को चुनौती देना प्रारंभ कर दी थी। मलिक अम्बर इस संघर्ष में बीजापुर का समर्थन प्राप्त करने में भी सफल हो गया। जहांगीर ने अनेकों सैनिक अभियानों को वहाँ भेजा किंतु वे कोई भी सफलता प्राप्त करने में असमर्थ रहे। शाहजहां के शासन काल में पुनः मुग़लों का संघर्ष दक्खन के राज्यों अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुंडा के साथ प्रारंभ हो गया। अहमदनगर ऐसा प्रथम राज्य था जिसको पराजित कर उसके अधिकांश क्षेत्र को मुग़ल साम्राज्य में मिला लिया गया था। 1636 तक बीजापुर तथा गोलकुंडा को भी पराजित कर दिया गया किंतु इन राज्यों को मुग़ल साम्राज्य में शामिल नहीं किया गया। एक संधि के बाद पराजित राज्यों ने नज़राना देना एवं मुग़ल प्रभुत्व को स्वीकार किया। लगभग 10 वर्षों तक शाहजहां ने अपने पुत्र औरंगजेब को गवर्नर बनाकर दक्खन में रखा। इस दौरान इस क्षेत्र में मराठों का एक शक्तिशाली राजनीतिक शक्ति के रूप में उत्थान हो रहा था। औरंगजेब के शासनकाल में दक्खन राज्यों तथा मराठों के साथ संघर्ष और गहन हो गया। वास्तव में औरंगजेब ने अपने शासनकाल के अंतिम 20 वर्ष दक्खन में युद्ध करने में व्यतीत किए। 1687 में बीजापुर तथा गोलकुंडा राज्यों को मुग़ल साम्राज्य के अधीन कर लिया गया।

असम विजय

औरंगजेब के काल में उत्तर-पूर्व के क्षेत्र असम की विजय मुग़लों की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। 1661 में बंगाल के गवर्नर मीर जुमला ने अहोम राज्य पर आक्रमण किया। मीर जुमला के पास 12,000 घुड़सवार, 30,000 पैदल सैनिक और बड़ी संख्या में नावों पर तोपखाना था। अहोम (असम के शासक) प्रतिरोध बहुत कमजोर था। मीर जुमला अहोम राज्य की राजधानी कामरूप पर मुग़ल अधिकार स्थापित करने में सफल रहा। राजा राजधानी छोड़कर भाग गया। 1663 में राजा स्वर्ग देव ने समर्पण कर दिया और शांति स्थापित हुई। असम को मुग़ल साम्राज्य में मिलाया गया और मुग़ल अधिकारियों की नियुक्ति की गई। 1663 में मीर जुमला की मृत्यु हो गई। उत्तर-पूर्व में मुग़लों को दूसरी बड़ी सफलता बंगाल के नए गवर्नर शाइस्ता खां के काल में मिली। 1664 उसने सफलतापूर्वक चटगांव पर अधिकार कर लिया।

परंतु मुग़ल बहुत लंबे समय तक अहोम राज्य पर अपना नियंत्रण बनाए रखने में सफल न हो सके। वहाँ नियुक्त मुग़ल *फौजदारों* को कई प्रतिरोधों का सामना करना पड़ा। 1680 में अहोम कामरूप पर पुनः नियंत्रण स्थापित कर सके और वहाँ प्रत्यक्ष मुग़ल नियंत्रण समाप्त हो गया।

6.6 स्वायत्त सरदारों के प्रति नीतियां

मुग़ल साम्राज्य को सुदृढ़ करने के प्रयासों में अकबर ने अपना ध्यान स्वायत्त सरदारों की ओर भी आकृष्ट किया। सरदार (chieftains) शब्द का प्रयोग शासक वंश के लिए किया गया जो संपूर्ण देश में फैले हुए छोटे-छोटे क्षेत्रों में किसी ना किसी रूप में शासन करते थे (इतिहासकारों के बीच इस शब्द के प्रयोग पर आम सहमति है)। इन शासकों को मुग़लों के साथ संबंधों में एक विशिष्ट प्रकार का दर्जा प्राप्त था। जहां एक ओर वे अपने शासित क्षेत्र पर अपना प्रशासन चलाने के लिए स्वतंत्र थे, वहीं पर वे मुग़ल साम्राज्य के परिप्रेक्ष्य में एक सहायक की स्थिति रखते थे।

अकबर की सफलता इस तथ्य में निहित थी कि वह अपने साम्राज्य के स्थायित्व के लिए इन सरदारों का समर्थन प्राप्त करने में समक्ष रहा। अकबर के उत्तराधिकारियों ने भी लगभग इसी नीति का अनुसरण किया।

सरदारों की सत्ता की प्रकृति

समकालीन विवरणों में इन सरदारों का उल्लेख *राय, राणा, रावत, रावल, राजा, मर्ज़बान, कालंतरान* (अंतिम दो नाम फारसी के हैं) आदि के रूप में हुआ है। कभी-कभी *ज़मींदार* शब्द का प्रयोग साधारण भू-स्वामी तथा सरदारों दोनों के लिए किया गया है। लेकिन दोनों के मध्य एक निश्चित अंतर था। मुग़ल प्रभुत्व के अधीन *ज़मींदार* स्वतंत्र नहीं थे, जबकि सरदारों को अपने शासित क्षेत्रों में पर्याप्त स्वायत्तता प्राप्त थी तथा ये मुग़ल शासकों के साथ एक भिन्न प्रकार का संबंध रखते थे।

सरदारों पर प्रथम प्रमुख अध्ययन एहसन रज़ा खान द्वारा किया गया। उनके अनुसार ये साम्राज्य के केवल परिधीय क्षेत्र में ही सीमित नहीं थे बल्कि ये केंद्रीय क्षेत्र दिल्ली, आगरा, अवध और इलाहाबाद *सूबों* में भी पाए गए थे। इन सरदारों में सबसे अधिक संख्या राजपूतों की थी, लेकिन ये मुसलमान सहित सभी जातीय समूहों से संबंधित थे।

सरदारों का एक शक्तिशाली समूह था जिनके पास विशाल पैदल सेना, घुड़सवार सेना और विशाल मात्रा में राजस्व कमाने के लिए सैंकड़ों एकड़ कृषि भूमि थी।

सरदारों के साथ मुग़लों का संघर्ष

लोदियों की पराजय के बाद बाबर के अधीन भारत की केंद्रीय सत्ता को अफगानों तथा स्वायत्त सरदारों के संयुक्त विद्रोह का सामना करना पड़ा। हुमायूं को भी उनकी शत्रुता का सामना करना पड़ा।

सरदारों के साथ अकबर का प्रारंभिक संपर्क संघर्षों तथा युद्धों के माध्यम से हुआ। कई मामलों में यह सरदार मुग़ल एवं अफगान विद्रोहियों के साथ मिल गए। मुग़ल सत्ता के सुदृढ़ीकरण एवं विजयों की प्रक्रिया में अकबर के सरदारों का समर्थन प्राप्त किया और कई ने मुग़लों की अधीनता को भी स्वीकार किया। अकबर की इन सरदारों के प्रति कोई घोषित औपचारिक नीति न थी। समकालीन स्रोतों में उपलब्ध संदर्भों के आधार पर हमें मुग़लों तथा सरदारों के बीच के संबंधों की जानकारी प्राप्त होती है। उनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता हैः

1) विजय के पश्चात् या उनके द्वारा अधीनता स्वीकार करने के बाद उनको अपने क्षेत्रों का प्रशासन करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया गया। उनके पास राजस्व एकत्रित करने, व्यवसायिक कर तथा पारगमन कर पथकर (transit tax) आदि करों को लगाने के अधिकार थे। राजस्व एकत्रित करने में स्वायत्त सरदार मुग़ल अधिनियमों की अपेक्षा स्थानीय परंपराओं का अनुसरण करते थे।

2) इन स्वायत्त सरदारों की मुग़ल सेना में भी नियुक्ति की गई। उनको *जागीरें* एवं *मनसब* प्रदान किए जाते थे। ए. आर. खान के अनुसार अकबर के शासन के दौरान लगभग 61 राजाओं और सरदारों को *मनसब* प्रदान किए गए। इसी प्रकार की परंपरा का निर्वाह अन्य मुग़ल सम्राटों द्वारा भी किया गया।

3) जिन मामलों में सरदारों को *मनसबदार* नहीं बनाया गया वे भी अक्सर शत्रुओं के विरुद्ध चलाए गए सैनिक अभियानों एवं विद्रोहों का दमन करने में मुग़ल सेनाओं की मदद करते थे। संपूर्ण मुग़ल शासन के दौरान इन सरदारों ने न केवल विशाल क्षेत्रों को विजित करने में मदद की अपितु उन्होंने कई बार अपने कुल-वंश के लोगों के विरुद्ध भी मुग़लों की सहायता की।

4) सैन्य मदद उपलब्ध कराने के अतिरिक्त अक्सर इन सरदारों को प्रशासन में *सूबेदार* (गवर्नर), *दीवान, बख्शी* आदि जैसे महत्वपूर्ण पदों पर भी नियुक्त किया जाता था।

5) अन्य *जागीरों* के अतिरिक्त उनको अक्सर *जागीर* के तौर पर उनके अपने क्षेत्रों को भी दिया जाता जिन्हें *वतन जागीर* कहा जाता है। ये *जागीरें* पैतृक एवं अपरिवर्तनीय थीं।

6) उनके संबंधों की एक मुख्य विशेषता यह भी थी कि यदि परिवार के अंदर शासन के उत्तराधिकार को लेकर किसी प्रकार का विवाद उठ खड़ा होता तब सरदार के अधिकारों को मान्यता प्रदान करने का अधिकार मुग़ल सम्राटों को था। जिन सरदारों ने मुग़लों की अधीनस्थता को स्वीकार किया उनको मुग़ल सम्राटों ने सैनिक सुरक्षा प्रदान की।

7) सरदारों से यह आशा की जाती थी कि वे मुग़ल सम्राट को लगातार नज़राना देते रहे इसको *पेशकश* कहा गया। इस *पेशकश* के वास्तविक चरित्र को पहचान पाना कठिन है। उस समय इसको नकदी तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं जैसे हीरे, सोना एवं हाथियों के रूप में अदा करना होता था।

   पेशकश की अदायगी राजस्व आय के स्रोत के अतिरिक्त मुगलों की अधीनता का प्रतीक भी थी।

8) मुग़ल शाही परिवार तथा सरदारों के बीच वैवाहिक संबंधों को भी कायम किया गया।

स्वायत्त सरदारों के विद्रोह

स्वायत्त सरदारों द्वारा किए गए बहुत से विद्रोहों के विवरण हमें मिलते हैं। इस प्रकार के विद्रोहों के कारणों के विषय में समकालीन ग्रंथों ने अक्सर राजस्व या नज़राने की अदायगी न करना बताया है। विद्रोहों की स्थिति में अधिकांशतः स्वायत्त सरदारों को उनके क्षेत्र से बेदखल नहीं किया गया अपितु फिर उन्हें या परिवार के किसी अन्य सदस्य को उस क्षेत्र को सौंप दिया जाता था। अगर कुछ अन्य मामलों में किसी स्वायत्त सरदार को उसके क्षेत्र से बेदखल कर दिया जाता तब यह केवल डांट-फटकार के लिए होता था और कुछ समय बाद उसी को या उसके किसी परिवार के सदस्य को सत्ता में पुनः स्थापित कर दिया जाता।

स्वायत्त सरदारों के प्रति जिस नीति का प्रारंभ अकबर ने किया था वह आगामी मुग़ल सम्राटों के शासनकाल में भी जारी रही। इन सरदारों को मुग़ल कुलीन या *मनसबदार* के रूप में शामिल करने की नीति साम्राज्य के लिए अति लाभप्रद साबित हुई। मुग़ल सम्राटों ने स्वायत्त सरदारों का समर्थन तथा नवीन विजयों के लिए उनकी सेवाएँ प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की। मुग़ल कुलीनों के रूप में इस विशाल साम्राज्य के प्रशासन का संचालन करने में इन स्वायत्त सरदारों ने महत्वपूर्ण सहायता प्रदान की। इन स्वायत्त सरदारों के साथ मित्रतापूर्ण संबंधों ने साम्राज्य के लिए शांति को सुनिश्चित किया। इस नीति से स्वायत्त सरदारों को भी लाभ हुआ। अब वे अपने क्षेत्र अपने पास बनाए रख सकते थे और अपनी इच्छानुसार अपने क्षेत्र का प्रशासन चला सकते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य *जागीरें* तथा *मनसब* भी प्राप्त किए। कई बार उनको प्रदान की गई *जागीर* उनके स्वयं के क्षेत्र की अपेक्षा बड़ी होती थी। साथ ही साथ उनको अपने शत्रुओं तथा विद्रोहियों के विरुद्ध मुग़ल साम्राज्य की सुरक्षा प्राप्त हुई।

6.7 मुगल राजपूत संबंध

अकबर

अकबर की राजपूत नीति को तीन चरणों में विभक्त किया जा सकता है। 1569-1570 तक पहला चरण माना जाता है जिसमें अकबर ने राजपूतों के साथ दोस्ती बढ़ाने का प्रयत्न किया। 1557 में ही अकबर के मन पर राजपूतों की स्वामीभक्ति की छाप पड़ गई थी जब आमेर के राजा भारमल के नेतृत्व में राजपूत सेना ने अकबर के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की थी। इसके परिणामस्वरूप 1562 में भारमल की पुत्री का विवाह अकबर से हुआ। अकबर ने 1560-1564 के बीच *जज़िया* समाप्त कर दिया, तीर्थ कर हटा दिया। इन उदारवादी कदमों के कारण अकबर के प्रति लोगों का विश्वास बढ़ा और वह एक उदारवादी राजा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। परंतु इन कदमों से राजपूतों और मुगलों के बीच पूर्ण शांति स्थापित नहीं हो सकी। चित्तौड़ का युद्ध इसका ज्वलंत उदाहरण है। अकबर के साथ भगवन्त सिंह के रहने के बावजूद राजपूतों ने मुगलों का जमकर प्रतिरोध किया। दूसरी तरफ अकबर ने इस युद्ध को *जेहाद* और शहीदों को *गाज़ी* कहकर पूरे मामले को धार्मिक रंग दे दिया।

पहले चरण में अकबर राजपूतों के प्रति उदार हुआ और रणथंभोर के गवर्नर (*हाकिम*) राव दलपत राय को शाही सेना में स्वीकार कर लिया गया और उसे *ज़ागीर* दी गई। अकबर ने भगवंत सिंह (कछवाहा राजकुमार) की बहन से शादी की। भारमल अकबर का विश्वसनीय और घनिष्ठ बन गया, यह बात इस तथ्य से सिद्ध होती है कि जब अकबर गुजरात अभियान के लिए निकला था तो आगरे की सारी जिम्मेदारी उसी पर सौंपी गई थी। किसी भी हिंदू राजा को इस प्रकार का सम्मान पहली बार मिला था।

द्वितीय चरण में 1570 के अंत तक राजपूतों के साथ संबंध और भी प्रगाढ़ हुए। बीकानेर के राय कल्याणमल ने अकबर के समक्ष अपने पुत्र सहित खुद उपस्थित हो श्रद्धा व्यक्त की। जैसलमेर के रावल हरराय और कल्याणमल की बेटियों की शादी अकबर के साथ की गई। उन्हें उनकी रियासत में दृढ़ता से स्थापित किया गया और उन्हें शाही सेवा में शामिल कर लिया गया। मुगल-राजपूत संबंधों के विकास में अकबर का गुजरात अभियान महत्वपूर्ण स्थान रखता है। व्यक्तिगत रूप से राजपूतों को सैनिकों के रूप में शामिल किया गया। इस प्रकार पहली बार राजपूतों को राजस्थान के बाहर नियुक्त किया गया और उन्हें महत्वपूर्ण कार्य और पद सौंपे गए। गुजरात में मिर्ज़ाओं की बगावत के समय अकबर ने मानसिंह और भगवंत सिंह जैसे कछवाहा राजपूतों पर ही भरोसा किया। अकबर को मेवाड़ समस्या का भी सामना करना पड़ा। मेवाड़ का राणा व्यक्तिगत समर्पण के लिए तैयार नहीं था। वह चित्तौड़ पर पुनः कब्ज़ा जमाना चाहता था। अकबर व्यक्तिगत उपस्थिति के सिद्धांत पर अडिग रहा। इसी समय अकबर ने मारवाड़ पर अधिकार कर लिया।

तृतीय चरण अंततः अकबर के कट्टरपंथी तत्वों से संबंध-विच्छेद के साथ शुरू होता है जब उसके द्वारा *महज़र* (1580) की घोषणा की गई। हालांकि राजपूतों के इस बढ़ते प्रभाव पर मुगल अभिजात वर्ग के एक दल ने शंका प्रकट की, परंतु अकबर ने इस प्रकार के विचारों को महत्व नहीं दिया और वह राजपूतों पर भरोसा करता रहा।

अकबर ने राजपूत शासकीय परिवारों से निकटता का संबंध स्थापित करने की कोशिश की। मुगल-राजपूत संबंधों में कछवाहा परिवार को विशेष सम्मान प्राप्त था। 1580 में भगवंत दास की बेटी मनिबाई की शादी युवराज सलीम के साथ हुई। 1583 में जोधपुर, जो कि *खालिसा* भूमि थी, मोटा राजा उदय सिंह (मारवाड़) को दे दी गई और उसकी बेटी की शादी सलीम के साथ हुई। राय कल्याण सिंह (बीकानेर) और रावल भीम (जैसलमेर) की बेटियों की शादी भी सलीम के साथ हुई। राजकुमार दानियाल की शादी जोधपुर के शासक रायमल की बेटी के साथ हुई।

इन विवाहों के जरिए अकबर ने अपने उत्तराधिकारियों को राजपूतों से निकटता बनाए रखने की नीति का पालन करने को बाध्य कर दिया। 1583-1584 में अकबर ने प्रशासनिक कार्यों के लिए निष्ठावान मुसलमानों और हिंदू कुलीनों के चयन की नई नीति का आरंभ किया। अतः रायमल और राय लोंणकरण शेखावत के बेटों को अस्त्र-शस्त्र और सड़कों की देखरेख का जिम्मा सौंपा गया। घरेलू प्रबंधन का जिम्मा रायसल दरबारी (कछवाहा) को सौंपा गया, नरवां के राजा असकरण कछवाहा को अल्पवयस्कों की सम्पत्ति की देखरेख का भार सौंपा गया; जगमल पंवार, जिसका संबंध राजा भगवंत सिंह और मानसिंह के साथ था, पर आभूषणों और अन्य खनिजों के विभाग की देखरेख की जिम्मेदारी थी; रामपुरा के राय दुर्गा सिसोदिया और राजा टोडरमल को राजस्व विभाग में प्रशासनिक कार्य सौंपा गया; और राजा सुरजन हाड़ा को धर्म और विश्वास के मामलों को राजकुमार दानियाल तक पहुंचाने का काम सौंपा गया। राजा बीरबल अकबर का सहयोगी था और न्याय भी उसके ज़िम्मे था।

1585-1586 तक अकबर की राजपूत नीति पूरी तरह विकसित हो गई थी। राजपूतों के साथ संबंध संतुलित और स्थिर हुए। राजपूत अब केवल दोस्त नहीं थे बल्कि साम्राज्य के भागीदार भी थे। मेवाड़ के राणा के साथ युद्ध होने के बावजूद राजस्थान के राजपूत राज्यों से मुगलों के साथ संबंधों में कड़वाहट नहीं आई।

शाही सेवा में शामिल राजपूतों में कछवाहों की स्थिति सर्वोच्च थी। *मनसबदारी* व्यवस्था में कछवाहों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। *आईन-ए अकबरी* में *मनसबदारों* की सूची में जिन 24 राजपूतों का नाम शामिल है, उनमें से 13 कछवाहा थे। गैर-कछवाहा राजपूतों में केवल बीकानेर के राय सिंह को महत्वपूर्ण पद और ऊंचा ओहदा प्राप्त था।

राजपूत राजाओं को अपने *वतन* के अतिरिक्त पड़ोसी *सूबों* या जिस *सूबे* में वे कार्यरत होते थे *ज़ागीरें* प्रदान की जाती थीं। राजपूत राज्यों में उत्तराधिकार का प्रश्न बहुधा परिवारों के मध्य गृहयुद्ध का कारण बनता था। मुगल सर्वोच्चता की अवधारणा के तहत राजपूत राज्यों के उत्तराधिकार के प्रश्न को हल किया जाता था। अकबर ने घोषणा कर रखी थी कि *टीका* एक नैसर्गिक अधिकार (matter of right) नहीं है, बल्कि *टीका* देने का विशेषाधिकार केवल मुगल साम्राज्य का है।

आरंभ में राजपूतों के साथ अकबर का संबंध एक राजनीतिक समझौते के रूप में विकसित हुआ। पर धीरे-धीरे यह हिंदू-मुसलमानों में समीपता और उदारवादी नीति के प्रारूप में परिणत होता चला गया, जिसमें धर्म का भेदभाव किए बिना सहिष्णुता की नीति को प्रधानता दी गई।

जहांगीर और शाहजहां

16वीं शताब्दी के दौरान मुगल-राजपूत संबंधों का निर्धारण उत्तर भारत के इन दो शासक वर्गों – मुगल तथा राजपूत – की राजनीतिक जरूरत के मुताबिक हुआ। लेकिन 17वीं शताब्दी में साम्राज्य के विस्तार, राजपूतों के आंतरिक झगड़े, और विभिन्न दलों द्वारा क्षेत्रीय स्वायत्तता के सिद्धांत की उद्घोषणा की पृष्ठभूमि में मुगल-राजपूत संबंधों को धक्का पहुंचा।

इन शासकों के काल में अनेक बाधाओं के बावजूद अकबर द्वारा स्थापित संबंध और मजबूत हुए। मेवाड़ के साथ युद्ध की समाप्ति जहांगीर की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। उसने राणा की व्यक्तिगत उपस्थिति पर विशेष बल नहीं दिया और उसके पुत्र की उपस्थिति को स्वीकार कर लिया। अकबर और जहांगीर के शासनकालों में अधिकृत सारे क्षेत्र राणा को लौटा दिए गए। राणा के बेटे को भी *मनसब* और *जागीर* दी गई। जहांगीर ने एक परंपरा शुरू की कि राणा का बेटा या भाई सम्राट की सेवा में उपस्थित होगा। राणा पर मुगलों से वैवाहिक संबंध स्थापित करने के लिए ज़ोर नहीं डाला गया। अकबर के समान जहांगीर ने भी राजपूत राजाओं से वैवाहिक संबंध स्थापित किए। हालांकि मेवाड़ के समर्पण के बाद इन विवाहों की संख्या में कमी आई।

जहांगीर के शासनकाल में चार महत्वपूर्ण राज्यों – मेवाड़, मारवाड़, आमेर और बीकानेर – के शासकों को 5000 *ज़ात* या उससे ऊंचा *मनसब* प्रदान किया गया। कुलीन वर्ग में कछवाहों की स्थिति कमज़ोर हुई। अकबर के शासनकाल की अपेक्षा राजपूत राज्यों के शासकों को ऊंची मनसब प्रदान किए गए। लेकिन जहांगीर के शासनकाल के प्रथम दशक में खुसरो की बगावत के कारण राजपूतों को दिए जाने वाले *मनसबों* में तेजी से गिरावट आई। राजपूतों को ज्यादातर *किलेदार* या *फौज़दार* बनाया गया।

शाहजहां के शासनकाल में राजपूतों को महत्वपूर्ण पद और बड़े *मनसब* मिले। इससे साबित होता है कि उसने राजपूतों पर विश्वास किया और उन्हें महत्वपूर्ण कार्य सौंपे। शाहजहां ने बड़े घराने के राजपूत राजाओं को *सूबेदारी* न दिए जाने की जहांगीर की नीति को समाप्त कर दिया। पर इस प्रकार के पद कम और विरल ही थे। राजपूतों को *किलेदार* और *फौज़दार* के पद मिलते रहे।

शाहजहां के शासनकाल में बुंदेलों और मेवाड़ के साथ दो मुठभेड़ें हुईं और दोनों मुठभेड़ें संप्रभुता और अधीनस्थता की परस्पर विरोधी समझ के कारण हुईं।

औरंगज़ेब

1680 के बाद राजपूतों के प्रति औरंगजेब की नीति ने राजपूतों के साथ-साथ मुगल कुलीन वर्ग के एक वर्ग को भी चिंतित कर दिया। यह राजपूत-मुगल कुलीनों की शहज़ादा अकबर के विद्रोह में सहभागिता में स्पष्ट दिखाई देती है। मेवाड़ और मारवाड़ के शासक औरंगजेब से नाराज थे और वे औरंगजेब द्वारा अपने छीने गये इलाके को वापस लेना चाहते थे। मुगल दरबार के एक वर्ग, खासकर राजकुमार आज़म ने औरंगजेब की राजपूत नीति को गलत माना और उसने मेवाड़ के राणा के साथ मिलकर षड्यंत्र करना चाहा ताकि उत्तराधिकार के युद्ध में उसे राणा का समर्थन मिल सके। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में औरंगजेब राजपूतों के प्रति उत्साहहीन रहा। राजपूतों को कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं सौंपा गया। उसने राजपूतों के आपसी वैवाहिक समझौतों में हस्तक्षेप किया। पर मेवाड़ और मारवाड़ से औरंगजेब का संबंध विच्छेद होने का यह मतलब नहीं था कि आमतौर पर उसका राजपूतों से संबंध विच्छेद हो गया था। आमेर, बीकानेर, बूंदी और कोटा के शासकों को *मनसब* मिले हुए थे। पर अकबर, जहांगीर और शाहजहां के शासनकाल की तरह औरंगजेब के शासनकाल में उन्हें ऊँचे ओहदे और पद नहीं प्राप्त हुए।

हालांकि अपने शासनकाल के आरंभिक दिनों में औरंगज़ेब अपने धार्मिक दृष्टिकोण में कट्टरपंथी था पर राजपूत उसके साम्राज्य में साझेदार बने रहे। धीरे-धीरे दोनों का संबंध तनावपूर्ण होता चला गया। मुगल सम्राट की अनुमति के बिना राजपूतों द्वारा अपने इलाकों को बढ़ाए जाने और वैवाहिक संधियों का औरंगज़ेब ने विरोध किया।

1679 में राठौड़ विद्रोह के रूप में एक बड़ा संकट उत्पन्न हो गया। जसवंत सिंह के एक पुत्र पृथ्वी सिंह की मृत्यु उसके जीवनकाल में ही हो गई थी। उसकी मृत्यु (1678) के समय उसकी दोनों पत्नियाँ गर्भवती थीं, पर पुत्र होने की कोई निश्चितता नहीं थी। मारवाड़ में *गद्दी* के दो दावेदार थे – बीकानेर के राय अनूप सिंह (अमर सिंह की पुत्री का बेटा) और नागौर का इंद्र सिंह। उसके दादा अमर सिंह के मारवाड़ की गद्दी पर दावे को नामंजूर कर उसके छोटे भाई जसवंत सिंह को मारवाड़ की गद्दी दे दी गई थी। लेकिन औरंगज़ेब ने आदेश जारी कर जोधपुर सहित मारवाड़ राज्य को *खालिसा* के अधीन ले लिया। विवादास्पद उत्तराधिकार बहुत से कारकों में से एक था, जिसके कारण मारवाड़ को *खालिसा* में मिला लिया गया। इसका एक और कारण यह था कि महाराज के अधीनस्थ कई *जमींदार* राजस्व अपने पास रखकर समस्याएँ पैदा करते थे। लेकिन रानी हाडी जोधपुर समर्पित करने को तैयार नहीं थी, हालांकि मारवाड़ के बाकी हिस्सों को *खालिसा* में मिलाए जाने का उन्होंने विरोध नहीं किया। वह चाहती थीं कि यह मुद्दा थोड़े समय के लिए टल जाए और जसवंत के पुत्र होने की संभावना तक इंतजार किया जाए। मेवाड़ के राणा राज सिंह और राठौड़ों ने रानी हाडी का समर्थन किया। इसी बीच जसवंत सिंह की दोनों रानियों को पुत्र की प्राप्ति हुई। बीकानेर के शासक राव अनूप सिंह और शाही *बख्शी*, खान जहां ने दोनों पुत्रों के दावे का समर्थन किया। लेकिन औरंगज़ेब ने 36 लाख रुपए की *पेशकश* लेकर मारवाड़ की गद्दी इंद्र सिंह को सौंप दी।

जसवंत सिंह के दोनों नाबालिक पुत्रों को दिल्ली लाया गया और उनके दावे का मीर बख्शी आदि ने समर्थन किया। इंद्र सिंह और अजीत सिंह (जसवंत सिंह का पुत्र) दोनों को संतुष्ट करने के लिए औरंगज़ेब ने राज्य को दो हिस्सों में बांटने का निर्णय लिया। *टीका* इंद्र सिंह को दिया जाना था, जबकि सोजत और जैतारण अजीत सिंह को दिया गया। जोधपुर को कमज़ोर बनाने के लिए राज्य का विभाजन किया गया था। यह औरंगज़ेब की राजपूतों के प्रति नीति का ही हिस्सा था, जिसके तहत राजपूतों को पदोन्नति देने को धीरे-धीरे नियंत्रित करना था। इन हालातों में राठौड़ों ने मुगलों के विरुद्ध बगावत कर दी। अंततः जोधपुर औरंगज़ेब के कब्ज़े में आ गया। दुर्गादास जसवंत सिंह के बच्चे (अजीत सिंह) के साथ मेवाड़ भाग गया।

यह नहीं कहा जा सकता है कि मेवाड़ और मारवाड़ के साथ हुआ युद्ध अकबर की राजपूतों से मित्रता की नीति की समाप्ति का संकेत था। लेकिन फिर भी मुगल व्यवस्था में राजपूतों की प्रभावशाली स्थिति में ह्रास हुआ। 17वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मराठों का महत्व बढ़ा।

मेवाड़ और मारवाड़ के साथ होने वाले युद्ध का राजकोष पर काफी काफी प्रभाव पड़ा। यह भार हालांकि गंभीर नहीं था और इससे खम्भात के बंदरगाह तक जाने वाला मार्ग भी बहुत ज्यादा प्रभावित नहीं हुआ। लेकिन औरंगज़ेब की राजपूत नीति उसकी द्वारा मुद्दों को प्रभावशाली ढंग से संभालने की अक्षमता को प्रतिबिंबित करती है, जिससे साम्राज्य की प्रतिष्ठा को धक्का लगा। इससे राजनीतिक और धार्मिक कटुता फैली, जो राजनीतिक अक्षमता का परिचारक है। इन सब परिस्थितियों में मुगल राजकुमार राजपूतों के साथ गठबंधन कर विद्रोह करने पर उतारू हो गए।

बोध प्रश्न-2

1) औरंगजेब की क्षेत्रीय प्रसार की मुख्य उपलब्धियों की सूची बनाइए।

....

....

....

....

2) किस प्रकार मुग़लों द्वारा स्वायत्त सरदारों के प्रति अपनाई गईं नीतियाँ आपसी हित की थीं?

....

....

....

....

3) अकबर की राजपूत राज्यों के प्रति नीति के तीन चरणों की व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

4) औरंगज़ेब को मारवाड़ राज्य के साथ संबंधों के संदर्भ में राठौड़ विद्रोह की चर्चा कीजिए।

....

....

....

....

6.8 मुग़ल और दक्खनी राज्य

इस भाग में हम दक्खन राज्यों के साथ मुग़लों के संबंधों पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे। मुग़लों की दक्खन नीति किसी एक कारक से निर्धारित व निर्देशित नहीं हुई थी। दक्खनी राज्यों के सामरिक महत्व और मुग़ल साम्राज्य की प्रशासनिक और आर्थिक जरूरतों से ही ज्यादातर दक्खनी राज्यों के प्रति मुग़ल बादशाहों की नीति निर्धारित होती थी।

प्रथम मुग़ल शासक बाबर उत्तर में व्यस्त रहने के कारण दक्खन में कोई संपर्क स्थापित नहीं कर सका। फिर भी, 1528 में चंदेरी पर विजय प्राप्त कर उसने मुग़ल साम्राज्य को मालवा की उत्तरी सीमा के नजदीक पहुंचा दिया। बुरहान निज़ाम शाह प्रथम के लगातार आग्रह के बावजूद हुमायूं भी दक्खनी मामले में दखलअंदाजी नहीं कर सका। गुजरात, बिहार और बंगाल की परिस्थितियों में वह इस कदर उलझ गया कि उसे दक्खन की ओर झांकने का मौका नहीं मिला। इस प्रकार अकबर पहला मुग़ल शासक था जिसने दक्खनी राज्यों पर मुग़ल प्रभुसत्ता की स्थापना की बात सोची।

6.8.1 अकबर और दक्खनी राज्य

अकबर चाहता था कि दक्खनी शासक उसकी प्रभुसत्ता स्वीकार कर लें। 1572-1573 में गुजरात के अभियान के दौरान, उत्तर को पूरी तरह सुरक्षित कर लेने के बाद अकबर ने दक्खन के राज्यों पर आधिपत्य जमाने का निश्चय किया क्योंकि गुजरात से भगाए गए विद्रोही खानदेश, अहमदनगर और बीजापुर में शरण ले लिया करते थे। इसके अतिरिक्त, गुजरात पर आधिपत्य स्थापित करने के बाद अकबर की निगाह दक्खनी राज्यों पर गई। अकबर चाहता था कि जिस प्रकार गुजरात के शासक दक्खनी राज्यों को अपने अधीनस्थ रखते थे, उसी प्रकार वह भी इन राज्यों को अपने अधीन कर ले। 1417 तक दक्खन के राज्यों ने गुजरात के सुल्तानों की सर्वोच्चता स्वीकार की थी, उनके नाम का *खुतबा* पढ़ा था और उन्हें वार्षिक नज़राना पेश किया था। दक्खनी राज्यों के आपसी संघर्ष ने भी मुग़ल बादशाह को उनके मामले में दखल देने के लिए प्रेरित किया। अकबर गुजरात के बंदरगाहों को जाने वाले रास्तों को अपने कब्जे में लेना चाहता था। उसकी इस इच्छा ने भी उसकी दक्खनी नीति को काफी प्रभावित किया। इसके अलावा, पुर्तगालियों को भारत के पश्चिमी तट से भगाने के लिए भी अकबर दक्खन के राज्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था।

दक्खनी राज्यों के साथ अकबर का पहला संबंध मालवा को जीतने के बाद 1561 में स्थापित हुआ जब उसने अपने मालवा गवर्नर पीर मुहम्मद को असीरगढ़ और बुरहानपुर का दमन करने के लिए भेजा जहाँ मालवा के पूर्व शासक बाज़ बहादुर ने शरण ले रखी थी। 1562 में अकबर ने मालवा पर कब्जा जमा लिया। इन दस वर्षों के दौरान दक्खन में होने वाले संघर्षों ने अकबर का ध्यान आकर्षित किया।

1586 में मुर्तज़ा का छोटा भाई बुरहान भागकर अकबर के दरबार में गया और गद्दी प्राप्त करने में अकबर की सहायता मांगी, बदले में उसने अकबर की प्रभुसत्ता स्वीकार करने का वचन दिया।

अकबर ने मालवा के गवर्नर मिर्ज़ा अज़ीज़ कोका और राजा अली खान को बुरहान की मदद करने का आदेश दिया। बरार की सीमा पर पहुंचने के बाद बुरहान ने अज़ीज़ कोका को वहीं रुकने का परामर्श दिया। उसने तर्क दिया कि इतनी बड़ी सेना देखकर दक्खनी उसके खिलाफ भड़क उठेंगे। अज़ीज़ कोका ने उसका निवेदन स्वीकार कर लिया। बुरहान ने 1591 में गद्दी पर कब्जा जमा लिया। उसने मुग़लों की प्रत्यक्ष सहायता के बिना ही गद्दी हथिया ली, अतः उसने अकबर की प्रभुसत्ता मानने से इनकार कर दिया।

1591 में अकबर ने दक्खन के चारों शासकों के पास राजकीय दल भेजे। इसके द्वारा उसने वहां की वास्तविक स्थिति भांपनी चाही और यह जानना चाहा कि ये राज्य उसकी अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार हैं या नहीं। केवल राजा अली खां ने अकबर की सर्वोच्चता स्वीकार की और युवराज सलीम के लिए बतौर उपहार अपनी बेटी के विवाह के लिए पेश की। मुग़लों ने 1595 में अहमदनगर किले पर घेरा डाल दिया। एक तरफ बीजापुर ने अहमदनगर की सहायता के लिए सेना भेज दी और दूसरी तरफ मुग़ल सेना इस घेराबंदी से अब थक चुकी थीं। अतः वे समझौता करने का प्रयास करने लगे। चांद बीबी और मुग़लों के बीच एक संधि हुई। पर इस संधि से शांति स्थापित न हो सकी। मुग़ल अहमदनगर पर आक्रमण करते रहे। अंततः 1600 में चांद बीवी ने किले को समर्पित करने का फैसला किया और बहादुर के साथ जुन्नार में शांति का जीवन बिताने लगी। खानदेश का बहादुर शाह मुग़लों से बहुत खुश नहीं था। 1600 में अकबर बुरहानपुर पहुंचा उसकी अगवानी करने के बजाय बहादुर असीरगढ़ चला गया।

अकबर ने अबुल फज़ल को बहादुर से संपर्क स्थापित करने और अपने व्यवहार के लिए माफी मांगने के लिए उपस्थित होने का आदेश दिया। पर अबुल फज़ल इसमें कामयाब न हो सका। अकबर ने किले को घेर लिया और 1601 में इस पर कब्जा जमा लिया। बहादुर ने अकबर के सामने आत्मसमर्पण कर दिया और खानदेश एक मुग़ल प्रांत बन गया। अहमदनगर और असीरगढ़ के पतन से अन्य दक्खनी शासक डर गए। बीजापुर, गोलकुंडा और बीदर के शासकों ने अकबर के पास अपने-अपने दूत भेजे जिनका उसने भरपूर स्वागत किया। अकबर ने अपने दूत भी उनके पास भेजे। अकबर ने अपने विश्वस्त खान खानान को दक्खनी मामलों की देखरेख का भार सौंपा। 1601 में अकबर के दक्खन से आगरा की ओर कूच करते ही निज़ामशाही कुलीन मलिक अम्बर के आसपास जमा होने लगे। मलिक अम्बर और राजू दक्खनी की चुनौती, मुग़ल सरदारों की आपसी दुश्मनी तथा उत्तर भारत की स्थिति को देखते हुए अकबर ने दक्खन में मुग़ल सत्ता को मजबूत बनाने के लिए सैन्य शक्ति की अपेक्षा कूटनीतिक चालों का अधिक सहारा लेने का निश्चय किया।

6.8.2 जहांगीर और दक्खनी राज्य

जहांगीर ने भी दख्खन में अकबर की विस्तारवादी नीति का अनुसरण करने का प्रयास किया पर निम्नलिखित कारणों से दख्खन में अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रहाः

- वह अपने को पूरी तरह इस कार्य के प्रति समर्पित नहीं कर सका,
- मुग़ल कुलीनों के दरबारी षड्यंत्र और वैमनस्य को दक्खन में मूर्त रूप लेने का मौका मिला, और
- मलिक अम्बर के श्रेष्ठ नेतृत्व के कारण भी जहांगीर अपने उद्देश्य में सफल न हो सका।

जहांगीर के शासनकाल के प्रथम 3 वर्षों में दक्खनियों ने बालाघाट के आधे हिस्से और अहमदनगर के कई जिलों पर अधिकार जमा लिया। 1610 में जहांगीर ने युवराज परवेज़ को नेतृत्व का भार सौंपा। पर मुग़ल कोई सफलता हासिल करने के बजाय अहमदनगर के किले और अहमदनगर के आधे से अधिक हिस्से को खो बैठे। मेवाड़ अभियान की सफलता ने जहांगीर को संबल प्रदान किया और वह दक्खन के मामलों में पड़ने के लिए लिए अपेक्षाकृत स्वतंत्र हो गया। पर दक्खन में मुग़लों के विस्तार का उसका हर प्रयास बुरी तरह विफल रहा।

जहांगीर और शाहजहां 1619 में कश्मीर गए और वहाँ कांगड़ा पर आक्रमण करने में व्यस्त हो गए। मलिक अम्बर ने इस अवसर का उपयोग किया और खानदेश, बरार तथा अहमदनगर के अधिकांश हिस्सों पर कब्जा जमा लिया। यहां तक कि मांडू पर घेरा डाल दिया। जहांगीर ने 1620

में शाहजहां को फिर से दक्खन भेजा। शाहजहां ने मलिक अम्बर को कई मौकों पर हराया और खिरकी को नष्ट कर दिया। मलिक अम्बर ने संधि की पेशकश की, जिसे शाहजहां ने स्वीकार कर लिया। एक संधि पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार 1618 के बाद कब्जे में लिए गए सारे साम्राज्यीय क्षेत्रों के अलावा उससे सटा 14 *कोस* का क्षेत्र मुग़लों को सौंपना था; कुतब शाह और निज़ाम शाह को क्रमशः 20, 18 और 12 लाख रुपए बतौर युद्ध-हर्जाना देना था।

जहांगीर के शासनकाल में मुग़ल साम्राज्य के दक्खन क्षेत्र में कोई बढ़ोतरी नहीं हुई। मुग़ल दरबार की राजनीति, दक्खन में सेवारत मुग़ल कुलीनों के आपसी मनमुटाव और उनके द्वारा दक्खनी शासकों से घूस लिए जाने के कारण दक्खनी राज्यों में मुग़लों की सत्ता कमजोर हो गई। जहां तक दक्खनी राज्यों का सवाल है मलिक अम्बर की अति महत्वाकांक्षा ने दक्खनी राज्यों को संगठित नहीं होने दिया।

6.8.3 शाहजहां और दक्खनी राज्य

जहांगीर की मृत्यु और शाहजहां के गद्दी पर बैठने के बीच के काल में दक्खन के मुग़ल गवर्नर खान जहां लोदी ने निज़ाम शाह से जरूरत के वक्त सहायता प्राप्त करने के लिए बालघाट निज़ाम शाह को सौंप दिया। गद्दी पर बैठने के बाद शाहजहां ने खान जहां लोधी को बालघाट वापस लेने का आदेश दिया, पर उसे सफलता न मिलने पर शाहजहां ने उसे दरबार में बुलाया। खान जहां दक्खन भाग गया और उसने निज़ाम शाह की शरण ले ली। उसकी बगावत निज़ाम शाह द्वारा उसे शरण देना तथा बालघाट के नुकसान के कारण शाहजहां ने दक्खन राज्यों के प्रति आक्रमक नीति अपनाई।

एक निज़ाम शाही कुलीन शाहजी भोंसले राज्य की रक्षा के लिए आगे आया। उसने कई किलों पर कब्जा जमाया और शाही परिवार के एक युवराज को मुर्तज़ा निज़ाम शाह तृतीय की उपाधि के साथ गद्दी पर बैठा दिया। उसकी इन गतिविधियों के कारण शाहजहां को 1636 में दक्खन आना पड़ा और युद्ध का एक नया दौर शुरू हुआ। शाहजी पराजित हुए और मुग़लों ने कई किले जीत लिए। इसके बाद उन्होंने बीजापुर के कई इलाकों को तहस-नहस कर दिया और काफी क्षेत्र पर कब्जा जमा लिया। मुहम्मद आदिल शाह ने संधि की प्रार्थना की। 1636 में एक संधि हुई जिसके अनुसार निज़ाम शाही राज्य का अस्तित्व समाप्त कर दिया गया। इसे मुग़लों और बीजापुर के बीच बांट दिया गया। भीम नदी के उत्तर का इलाका मुग़लों के अधीन रहा और दक्षिण का इलाका आदिलशाह के कब्जे में रहा।

संक्षेप में संधि की शर्तें इस प्रकार थीं:

1) निज़ाम शाही राज्य बीजापुर और मुग़ल साम्राज्य के बीच विभक्त कर दिया गया। बीजापुर को पूरा कोंकण, धाकन और सिना के उस पार के परेंदा और शोलापुर के ***परगने***, भीम और सिना के बीच वेंगी जिला और कल्याणी के उत्तर-पूर्व मनजीरा नदी के किनारे भाल्की जिला प्राप्त हुआ।

2) आदिल शाह को उदगीर और औसा किले पर अपनी दावेदारी छोड़ने थी और निज़ाम शाही अधिकारियों से किला छीनने में किए गए मुगल प्रयासों में कोई बाधा नहीं डालनी थी।

3) कोई भी दल इस संधि द्वारा निर्धारित सीमा का उल्लंघन नहीं करेगा।

4) आदिल शाह को मुग़ल सम्राट को बतौर नजराना 20 लाख रुपए देने थे।

5) आदिल शाह को कुतबशाह के साथ अच्छा संबंध बनाए रखना था, क्योंकि कुतबशाह ने प्रतिवर्ष मुग़लों को 2 लाख बतौर नजराना देना कबूल किया था तथा उसने मुग़ल सम्राट का मातहत बनना स्वीकार किया था।

6) दोनों दल न तो एक-दूसरे के अधिकारियों और सैनिकों को घूस देंगे न उन्हें नौकरी या शरण देंगे।

7) अगर शिवाजी भोंसले आदिल खां की नौकरी करना चाहे तो उसे मुग़ल अधिकारियों को जुन्नार, त्रिम्बक और प्रेमगढ़ के किले सौंपने होंगे जो उसके आधिपत्य में थे।

इस प्रकार बीजापुर मुग़ल साम्राज्य का एक अधीनस्थ दोस्त बन गया, हालांकि उसकी स्वतंत्रता कायम रही।

1636 की संधि ने मुग़ल-बीजापुर संबंधों को बिल्कुल उलट दिया। 1636 तक मुग़ल आदिलशाही शासकों को अपने पक्ष में करने की कोशिश कर रहे थे क्योंकि दक्खनी राज्यों में यह सबसे मजबूत था। मुग़लों ने हमेशा अन्य दक्खनी राज्यों से बीजापुर का गठबंधन न होने देने का प्रयास किया ताकि मुग़लों के खिलाफ वे शक्तिशाली न बन जाएँ। और इस प्रकार वे एक के बाद एक दक्खनी राज्यों पर कब्जा जमाते चले जाएँ। अहमदनगर राज्य के अस्तित्व की समाप्ति के बाद मुग़ल बीजापुर की सीमा तक पहुंच गए और इससे बीजापुर पर मुग़ल आधिपत्य स्थापित होने का मार्ग प्रशस्त हो गया।

20 वर्षों (1636-56) तक मुग़ल-बीजापुर संबंध सौहार्दपूर्ण और शांतिपूर्ण बने रहे। केवल दो अवसरों पर सम्राट आदिल शाह से अप्रसन्न हुए (1642-43 और 1648)। 1656 में मुहम्मद आदिल शाह की मृत्यु हो गई और इसके बाद बीजापुर के प्रति मुग़ल दृष्टिकोण में महत्वपूर्ण बदलाव आया। युवराज औरंगजेब ने इस मौके का फायदा उठाकर बीजापुर पर आक्रमण करने का मन बना लिया। शाहजहां ने औरंगजेब को आदेश दिया कि अगर संभव हो तो पूरे बीजापुर पर कब्जा जमा लो, अगर यह न हो सके तो पुराने अहमदनगर राज्य के उस हिस्से पर कब्जा जमा लो जो 1636 की संधि के अनुरूप बीजापुर के पास था और युद्ध का हर्जाना देने तथा मुग़ल संप्रभुता स्वीकार कर लेने की शर्त पर राज्य को छोड़ दो। इस प्रकार शाहजहां ने 1636 की संधि तोड़ डाली।

शाहजहां के गद्दी पर बैठने के पहले तक गोलकुंडा के साथ मुग़ल साम्राज्य का संबंध केवल राजनयिक आदान-प्रदान तक सीमित था। वह मुग़लों के खिलाफ निज़ामशाही और आदिलशाही राज्यों तथा मराठों को सैनिक और वित्तीय सहायता दिया करता था। आपने आदिल शाह के साथ 1636 की मुग़ल संधि का अध्ययन ऊपर किया है। इसी वर्ष अब्दुल्ला कुतबशाह ने अधीनता और शिष्टाचार के संधि-पत्र पर हस्ताक्षर किए इसकी प्रमुख शर्तें इस प्रकार थीं:

1) शुक्रवार की नमाज में 12 इमामों के स्थान पर चार खलीफाओं का तथा ईरानी शासक के स्थान पर मुग़ल सम्राट का नाम लिया जाएगा।
2) मुग़ल सम्राट के नाम के सिक्के ढाले जाएंगे।
3) शाहजहां के नौवें शासकीय वर्ष से प्रतिवर्ष 2 लाख *हून* सम्राट को भेजे जाएंगे।
4) सम्राट के दोस्त और दुश्मन अब्दुल्ला के दोस्त और दुश्मन होंगे।
5) अगर आदिल खां गोलकुंडा पर चढ़ाई करने की कोशिश करता है, तो अब्दुल्ला उसे भगाने में सम्राट की सहायता लेगा, लेकिन दक्खन का मुग़ल गवर्नर उसकी याचिका को प्रसारित करने से इनकार करता है और उसे आदिल शाह को हर्जाना देने को बाध्य होना पड़ता है तो इस राशि को मुग़ल सम्राट को दिए जाने वाले *पेशकश* से घटा दिया जाएगा।

1656 में शाहजहां ने (a) *पेशकश* (नज़राना) की बकाया राशि और (b) गोलकुंडा और मुग़ल रुपया के आदान-प्रदान को लेकर अब्दुल्ला से झगड़ा करना शुरू कर दिया। मुग़लों और अब्दुल्ला का संबंध इस हद तक तनावपूर्ण हो गया कि मुग़लों ने गोलकुंडा किले पर घेराबंदी डाल दी। पर कुछ समय बाद युवराज दारा की सलाह पर सम्राट ने औरंगजेब को घेरा उठा लेने का आदेश दिया। औरंगजेब और अब्दुल्ला के बीच हड़बड़ी में एक संधि हुई। जिसके अनुसार अन्य शर्तों के अलावा रामगीर पर मुगलों का आधिपत्य हो गया।

1656-1657 में मुग़ल नीति में बदलाव के कारण मुग़ल साम्राज्य को कोई सकारात्मक फायदा नहीं हुआ। इसके बदले दक्खनी राज्य मुग़ल साम्राज्य को शक की निगाह से देखने लगे। दक्खन की समस्याओं को सुलझाने के बजाय शाहजहां की नीति से दक्खन की स्थिति अंततः काफी उलझ गई।

6.8.4 औरंगजेब और दक्खनी राज्य

औरंगजेब दक्खनी राज्यों पर प्रत्यक्ष नियंत्रण का समर्थक था। सिंहासन हासिल करने के बाद उसे दक्खन में बड़ी जटिल परिस्थिति का सामना करना पड़ा। मराठों की बढ़ती शक्ति और मुग़लों के प्रति संदेहपूर्ण दृष्टि ने दक्खन में औरंगजेब की आक्रामक नीति को काफी संयमित कर दिया। औरंगजेब का सबसे पहला काम बीजापुर और गोलकुंडा को 1657 की संधि से बांधे रखने तथा संधि के तहत प्राप्त इलाकों पर आधिपत्य जमाना था। पर मुग़ल अमीर जय सिंह मराठों की सहायता लेकर दक्खन में एक आक्रमक नीति अपनाना चाहता था।

औरंगजेब ने एक कुशल सेनानायक बहादुर खां को दक्खन का गवर्नर नियुक्त किया। बहादुर खां ने बीजापुर के सरदारों को अपने पक्ष में मिलना शुरू कर दिया। बाद में औरंगजेब ने बहादुर खां को वापस बुला लिया और दिलेर खां को दक्षिण के *सूबेदार* के रूप में काम करने का आदेश दिया। बीजापुर के प्रतिशासक (रीजेन्ट) सिद्दी मसूद ने गुलबर्गा में मुग़लों के साथ एक समझौता किया। इन शर्तों के अनुसारः 1) सिद्दी मसूद को बीजापुर का *वजीर* बनाया गया, पर उसे औरंगजेब के आदेशों का पालन करना था। 2) उसे शिवाजी से कोई संधि नहीं करनी थी और उसके खिलाफ मुग़लों को मदद करनी थी। 3) आदिल शाह की बहन की शादी औरंगजेब के पुत्र से होनी थी, पर बीजापुर लौटने के बाद सिद्दी मसूद ने समझौते की किसी भी शर्त का पालन नहीं किया। उसने शिवाजी से दोस्ती करनी चाही। दिलेर खां ने सिद्दी मसूद से संधि की शर्तें मनवाने का प्रयत्न किया पर वह असफल रहा। औरंगजेब ने बीजापुर पर आक्रमण करने का आदेश दिया क्योंकि बहलोल खां मर चुका था। अफगान सैनिक बिखर गए थे और बीजापुर दरबार विभिन्न गुटों के आपसी संघर्ष का अखाड़ा बन गया था। दिलेर खां ने बीजापुर के सामंतों को घूस दी, उन्हें अपने पक्ष में मिलवाया और मुग़लों के मातहत काम करने वाले बीजापुरी सैनिकों का एक दल निर्मित किया। पर मसूरी दोहरी राजनीति खेलता रहा। एक तरफ वह मुग़लों के खिलाफ शिवाजी के साथ संधि करता रहा है दूसरी तरफ दिलेर खां से शिवाजी के खिलाफ संबंध जोड़ता रहा। एक मुग़ल सैनिक दस्ते को बीजापुर में आमंत्रित किया गया, उनका शाही स्वागत किया गया और फिर उन्हें बीजापुर की फौज के साथ मराठों के खिलाफ अभियान में भेज दिया गया। इसी समय दिलेर खां ने शिवाजी के कई ठिकानों पर कब्जा कर लिया और कई ठिकानों को बर्बाद कर दिया। सिद्दी मसूद की स्थिति काफी कमजोर हो गई क्योंकि उसके अधिकांश सिपाही दिलेर खां के दल में शामिल हो गए। अतः 1679 में आदिल शाह की बहन को युवराज आज़म के साथ शादी करने के लिए मुग़ल दरबार में भेजा गया। दक्खन के मुग़ल गवर्नर शाह आलम और दिलेर खां की दुश्मनी के कारण शाह आलम को 1680 के आरंभ में बीजापुर के साथ संधि करनी पड़ी। बीजापुर में औरंगजेब के नाम का *खुतबा* पढ़ा गया और उसके नाम का सिक्का ढाला गया।

दक्खन के राजदूत के रूप में यह शाह आलम की सबसे बड़ी सफलता थी। शाहजहां और औरंगजेब जिस लक्ष्य को सैनिक कुशलता से हासिल न कर सके उस लक्ष्य को उसने शांतिपूर्वक कूटनीतिक सफलता से पा लिया। उसने बीजापुर पर मुग़ल आधिपत्य स्थापित कर दिया। आदिल शाह कमजोर था अतः उसने मुग़ल आधिपत्य स्वीकार कर लिया। दरबारी गुटबंदी के कारण उसका प्रशासन कमजोर था और उसके सरदार उसका साथ छोड़कर मुग़लों के साथ मिल गए थे।

मुग़लों और बीजापुर का यह मधुर संबंध सम्भाजी को लेकर समाप्त हो गया। मुग़ल सम्भाजी के खिलाफ बीजापुर की मदद चाहते थे जबकि बीजापुर अंदर ही अंदर मराठों को सहायता पहुंचा रहा था। 1682-1683 के दौरान मुग़लों ने बीजापुर के इलाकों को रौंद डाला और बीजापुर पर भी कब्जा जमाने की कोशिश की, पर वे असफल रहे। सम्राट के आदेश पर मुग़लों ने 1685 में बीजापुर के खिलाफ अभियान शुरू कर दिया और 1686 में सिकंदर आदिल शाह ने आत्मसमर्पण कर दिया। उसे बंदी बना लिया गया और बीजापुर राज्य मुग़ल साम्राज्य का एक हिस्सा बन गया।

औरंगजेब गोलकुंडा की गतिविधियों, खासकर मदन्ना और अकन्ना की भूमिका, से प्रसन्न नहीं था, जिन्होंने मुग़लों के खिलाफ मराठों से हाथ मिला लिया था। वह जानता था कि अब्दुल्ला कुतब शाह शिवाजी के पुत्र सम्भाजी की वित्तीय सहायता कर रहा है। 1685 में मुग़ल आक्रमण के दौरान उसने सिकंदर आदिल शाह को बड़ी सैन्य मदद देने का वादा किया था। यह बात सम्राट को मालूम थी। उसने युवराज मुअज़्ज़म को कुतब शाही क्षेत्र पर आक्रमण करने का आदेश दिया। 1686 में मलखेर के द्वितीय युद्ध में कुतब शाही सेना ध्वस्त हो गई। इसके परिणामस्वरूप कई कुतब शाही अमीर मुग़ल सेना से मिल गए। जिसके कारण अब्दुल्ला को हैदराबाद छोड़ना पड़ा और उसने अपने आप को गोलकुंडा किले में बंद कर लिया। 1687 में सम्राट ने गोलकुंडा किले के काफी नजदीक पहुंच कर उस पर घेरा डाल दिया। 8 महीने के बाद अब्दुल्ला ने मुग़लों के सामने आत्मसमर्पण कर दिया कर दिया। उसे दौलताबाद के किले में कैद कर लिया गया और गोलकुंडा मुग़ल सम्राज्य का अंग बन गया।

6.9 मुग़ल-मराठा संबंध

मुग़ल मराठा संबंधों को चार चरणों में विभक्त किया जा सकता है:

(i) 1615-1664; (ii) 1664-1667; (iii) 1667-1680; और (iv) 1680-1707

प्रथम चरण: 1615-1664

जहांगीर के समय से ही मुग़लों ने दक्खन की राजनीति में मराठा सरदारों के महत्व को समझ लिया था। 1615 में जहांगीर कुछ मराठा सरदारों को अपनी ओर मिलाने में सफल रहा था। इसके परिणामस्वरूप मुग़ल संयुक्त दक्खनी सेना को हरा सके (1616)। शाहजहां ने भी 1629 में ही मराठा सरदारों को अपनी ओर मिलाने की कोशिश की थी। शिवाजी के पिता शाहजी इस समय मुग़लों से मिल गए परंतु बाद में उनसे अलग हो गए। उन्होंने मुरारी पंडित और बीजापुर दरबार के मुग़ल-विरोधी पक्ष के साथ मिलकर मुग़लों के खिलाफ षड्यंत्र रचा। मराठों की ओर से आने वाली गंभीर चुनौती को देखते हुए शाहजहां ने मराठों के खिलाफ मुग़ल-बीजापुर संधि का विकल्प चुना। उसने बीजापुर के शासक को शाहजी की सेवा लेने से मना नहीं किया, परंतु उसे कर्नाटक में मुग़ल क्षेत्र से दूर रखने की मांग की (1636 की संधि) यहाँ तक कि औरंगजेब ने भी यही नीति अपनाई। उत्तराधिकार के युद्ध के समय उत्तर की ओर कूच करने से पहले उसने अपने *निशान* में आदिल शाह को ऐसा ही करने की सलाह दी। लेकिन शिवाजी के खिलाफ बीजापुर-मुग़ल संधि औरंगजेब के लिए दुःखद स्वप्न साबित हुआ। 1636 में उसे बदले में देने के लिए दो-तिहाई हिस्सा निज़ाम क्षेत्र था, परंतु औरंगजेब के पास देने के लिए कुछ भी नहीं था। सतीश चंद्र के अनुसार 1686 में औरंगजेब द्वारा बीजापुर हासिल करने के पूर्व तक अंतर्विरोध की यही स्थिति बनी रही।

1657 में औरंगजेब ने शिवाजी के साथ संधि करने की कोशिश की, परंतु उसे सफलता नहीं मिली क्योंकि बदले में शिवाजी दाभोल और आदिलशाही कोंकण चाहता था, जो एक उपजाऊ और समुद्र क्षेत्र होने के साथ-साथ विदेशी व्यापार की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण था। जल्द ही शिवाजी बीजापुर के पक्ष में चले गए और मुग़ल दक्खन (अहमदनगर और जुन्नार सब-डिवीजन) पर धावा बोल दिया। उत्तराधिकार के युद्ध और औरंगजेब के दक्खन से चले जाने के कारण शिवाजी को रोकने वाला कोई नहीं था। जल्द ही उसने कल्याण और भिवंडी (अक्टूबर 1657) और माहूली (जनवरी 1658) पर कब्जा जमा लिया। इस प्रकार शिवाजी ने कोलाबा जिले के समस्त पूर्वी भाग पर आधिपत्य स्थापित कर लिया जो जंजीरा के (सिद्दियों) के अधीन था।

औरंगजेब के उत्तर भारत की तरफ कूच कर जाने के बाद बीजापुर ने मराठों की ओर ध्यान दिया। आदिलशाही शासक ने अब्दुल्ला भटारी अफज़ल खां को इसका भार सौंपा। परंतु शिवाजी के सामने अफज़ल खां की सेना टिक न सकी। इस स्थिति में कूटनीति और समझ-बूझ का ही सहारा लिया जा सकता था। समझौते के लिए दोनों के बीच मेल-मिलाप का आयोजन किया गया परंतु शिवाजी ने उसकी हत्या कर दी (10 नवंबर 1659) अफज़ल खां की हत्या के बाद मराठों के लिए बीजापुर की सेना को हराने में जरा भी समय नहीं लगा। जल्द ही पनहाला और दक्षिण कोंकण पर मराठों का आधिपत्य हो गया। परंतु मराठा पनहाला पर ज्यादा समय तक आधिपत्य नहीं रख सके और पुनः बीजापुर के अधिकार में (2 मार्च 1660) चला गया।

इस स्थिति में औरंगजेब ने युवराज मुअज़्ज़म के स्थान पर शाइस्ता खां को दक्खन का वायसराय नियुक्त किया (जुलाई, 1659)। शाइस्ता खां ने चाकन (15 अगस्त, 1660) और उत्तरी कोंकण (1661) पर अधिकार कर लिया। 1662-63 तक उसने मराठों पर काफी दबाव डाला परंतु वह उनसे दक्षिण कोंकण (रत्नगिरी) हासिल करने में असफल रहा। 5 अप्रैल, 1663 को पूना में आधी रात को मुग़ल खेमे पर शिवाजी ने अचानक हमला बोल दिया और मुग़ल वायसराय शाइस्ता खां को बुरी तरह घायल कर दिया। इससे मुग़ल प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुंचा। इसके बाद मराठों ने सूरत पर आक्रमण किया और उसे खूब लूटा (सूरत की प्रथम लूट 6-10 जनवरी, 1664)।

द्वितीय चरण: 1664-1667

शिवाजी की बढ़ती शक्ति, अफज़ल खान की हत्या, पनहाला और कोंकण पर शिवाजी का कब्जा, शिवाजी को संभालने में बीजापुर की सेना की असमर्थता और अंततः शाइस्ता खां (1600-1664)

की असफलता ने मुग़लों की स्थिति पर पुनर्विचार करने के लिए मजबूर किया। इसके बाद औरंगजेब ने मिर्ज़ा राजा जय सिंह को दक्खन का नया वायसराय नियुक्त किया। सावधानी से आगे बढ़ने की मुग़ल नीति से अलग हटकर जय सिंह ने दक्खन पर पूरा नियंत्रण स्थापित करने की वृहद् योजना बनाई। इस वृहद योजना के तहत सबसे पहले शिवाजी को बीजापुर की कीमत पर कुछ रियायतें देकर और उसके साथ संधि करके बीजापुर को धमकाया जाना था और शिवाजी की *जागीर* को मुग़ल दक्खन से दूर अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण इलाके में स्थानांतरित करना था। जय सिंह का विचार था कि एक बार बीजापुर के पतन के बाद शिवाजी को दबाना बहुत मुश्किल कार्य नहीं होगा।

दक्खन में मुग़ल वायसराय का पदभार संभालने के साथ ही उसने शिवाजी पर लगातार दबाव डालना शुरू किया। उसने पुरन्दर (1665) में शिवाजी को पराजित कर दिया। इसके बाद जय सिंह ने मुग़ल-मराठा संधि की बात चलाई। पुरन्दर की संधि (1665) के तहत शिवाजी ने 35 में से 23 किले समर्पित कर दिए। ये किले निज़ाम शाही राज्यक्षेत्र में पड़ते थे और इनकी वार्षिक आमदनी 4 लाख *हून* थी। इसके अतिरिक्त उसे 1 लाख *हून* में प्रतिवर्ष आमदनी वाले राजगढ़ सहित 12 अन्य किले भी समर्पित करने पड़े। इस घाटे की भरपाई बीजापुर तालकोंकण और बालाघाट से की जानी थी। इसके अतिरिक्त शिवाजी के पुत्र को मुग़ल सेना में 5000 *ज़ात* का ओहदा प्रदान किया गया। यह जय सिंह की योजना के बिल्कुल अनुकूल था क्योंकि वह शिवाजी को मुग़ल सीमा से सटे महत्वपूर्ण इलाकों से हटाना चाहता था। इसी के साथ-साथ इससे शिवाजी और बीजापुर के शासकों के बीच संघर्ष के बीज भी बो गए क्योंकि शिवाजी को तालकोंकण और बालघाट के लिए बीजापुर से सीधे भिड़ना पड़ता।

हालांकि औरंगजेब इस प्रकार के प्रस्ताव को स्वीकार करने से थोड़ा हिचक रहा था। उसके लिए बीजापुर और मराठा दो अलग-अलग समस्याएँ थीं और वह प्रत्येक के साथ अलग से निपटना चाहता था। औरंगजेब सैद्धांतिक तौर पर बीजापुर पर आक्रमण करने के लिए तो सहमत हो गया परंतु उसने इसके लिए मुग़ल फौज की अतिरिक्त सहायता देने से इंकार कर दिया। इसके अलावा उसने शिवाजी को केवल बीजापुर बालघाट देने की बात सामने रखी, जिसकी प्राप्ति भी बीजापुर अभियान की सफलता पर निर्भर थी। अतः इस स्थिति में जबकि बीजापुर और गोलकुंडा ने संधि कर ली थी और औरंगजेब किसी भी प्रकार की अतिरिक्त सहायता के लिए तैयार न था तथा दक्खन में मुग़ल खेमे में दिलेर खां के नेतृत्व में शिवाजी-विरोधी तत्वों की उपस्थिति के कारण जय सिंह के लिए सफलता की उम्मीद करना असंभव था।

बीजापुर-गोलकुंडा संधि (1666) को देखते हुए मराठों का विश्वास जीतने के लिए उसने शिवाजी को औरंगजेब के पास आगरा जाने का निमंत्रण दिया। परंतु मुग़ल दरबार में शिवाजी के तथाकथित अपमान (उसे 5000 *ज़ात* के ओहदे वाले अधिकारियों के समकक्ष रखा गया और उसका स्वागत एक निचले दर्जे के अधिकारी ने किया) के कारण शिवाजी का मुग़ल दरबार में भड़क उठने के फलस्वरूप उन्हें आगरा में बंदी बना लिया गया।

औरंगजेब की अनिच्छा और आगरा में शिवाजी की कैद ने जय सिंह की योजना को गहरा धक्का पहुंचाया। इस स्थिति में जयसिंह ने सम्राट से आग्रह किया कि दक्खन में मुग़ल सरदारों के आपसी मतभेद को मिटाने के लिए वे खुद दक्खन आएं। परंतु उत्तर-पश्चिम, ईरान तथा युसुफज़इयों के विद्रोहों में उलझे रहने के कारण औरंगजेब इस सुझाव को कार्यात्मक परिणिति न प्रदान कर सका। अंततः आगरा के जेलखाने में शिवाजी के पलायन (1666) ने जय सिंह की रही-सही उम्मीदों पर भी पानी फेर दिया। जयसिंह को काबुल जाने का आदेश मिला और उसके स्थान पर युवराज मुअज़्ज़म को दक्खन का मुग़ल वायसराय (मई 1667) नियुक्त किया गया।

जयसिंह की योजना की असफलता दुर्भाग्यपूर्ण थी क्योंकि मुग़ल शिवाजी को समाप्त करने के लिए न तो बीजापुर की सहायता ले सकने में सफल हुए (1672-76) और न ही मराठों की सहायता से दक्खनी राज्यों पर ही कब्जा जमा सके (1676-1679)।

तृतीय चरणः 1668-1680

आगरा से भागने के पश्चात् शिवाजी तुरंत मुग़लों से मुठभेड़ करने के पक्ष में नहीं थे। इसके विपरीत वह उनसे मैत्रीपूर्ण संबंध (अप्रैल और नवंबर 1667) रखना चाहते थे। युवराज मुअज़्ज़म

ने खुशी-खुशी शिवाजी के पुत्र शंभाजी को 5 हज़ार *ज़ात* का *मनसब* और बरार में *जागीर* दे दी (अगस्त 1668)। औरंगजेब शिवाजी के साथ अपने बेटे की दोस्ती से सतर्क हो गया और उसे इससे विद्रोह की गंध आने लगी। औरंगजेब ने औरंगाबाद स्थित मराठा प्रतिनिधियों प्रताप राव और नीराजी पंत को बंदी बनाने का आदेश दिया। इसी समय मुग़लों ने शिवाजी को आगरा यात्रा के लिए दिए गए 1 लाख रुपये वसूलने के लिए बरार स्थित शिवाजी की *जागीर* पर हमला बोल दिया। इन घटनाओं से शिवाजी सतर्क हो गए और उसने अपने प्रतिनिधियों नीराजी पंत और प्रताप राव को औरंगाबाद छोड़ देने का हुक्म दिया। शिवाजी ने पुरन्दर की संधि (1665) के तहत मुग़लों को दिए गए कई किलों पर आक्रमण किया। उसने 1670 में कान्डना, पुरन्दर, माहुली और नानदेर पर कब्जा जमा लिया। इसी समय युवराज मुअज़्ज़म और दिलेर खां के बीच संघर्ष आरंभ हो गया। दिलेर खां ने युवराज पर शिवाजी से मिले होने का आरोप लगाया, जबकि युवराज ने दिलेर खां को नाफर्मानी का जिम्मेदार माना। आंतरिक कलह से मुग़ल सेना कमजोर हो गईं। औरंगजेब ने युवराज मुअज्जम के विश्वासपात्र, जसवंत सिंह को वापस बुलाकर उसे बुरहानपुर भेज दिया। इस स्थिति का फायदा उठाकर शिवाजी ने दूसरी बार (30 अक्टूबर, 1670) सूरत को लूटा। इसके बाद मराठों को बरार और बगलाना में सफलता मिली (1670-1671)। बगलाना में अहिवंत, मारकंड, रावल और जावल तथा कारिंज, औसा, नंदुरबार, सलहिर, मुलहिर, चौरागढ़ और हुलगढ़ के किले मराठों के कब्जे में आ गए।

मराठों की सफलता से मुग़ल सतर्क हो उठे। महाबत खां को दक्खन का सर्वेसर्वा बनाकर भेजा गया (नवंबर 1670)। परंतु उसे भी कोई खास सफलता नहीं मिली, परिणामस्वरूप उसे और युवराज मुअज़्ज़म को 1672 में वहाँ से हटा लिया गया। इस बार दक्खन की बागडोर बहादुर खां को सौंपी गई (1673)।

इस बीच मराठों का सफलता अभियान जारी रहा। उन्होंने कोइल (जून 1672) पर अधिकार जमा लिया। परंतु खानदेश और बरार (दिसंबर 1672) में मुग़लों ने उन्हें सफल नहीं होने दिया। 1673 में बहादुर खां ने शिवनेर पर कब्जा जमा लिया। परंतु मुग़लों की ये सफलताएँ शिवाजी का रास्ता न रोक पाईं। आदिल शाह की मृत्यु (24 नवंबर, 1672) के बाद बीजापुर में फैली अव्यवस्था का उसने पूरा फायदा उठाया। उसका बेटा बहुत छोटा था (4 वर्ष का) और स्थायित्व कायम करना उसके वश की बात नहीं थी। शिवाजी ने बीजापुर से पनहाला (6 मार्च, 1673), पारली (1 अप्रैल, 1673) और सतारा (27 जुलाई, 1673) के किलों पर अधिकार कर लिया। बीजापुर दरबार में कई गुट थे। बहलोल खां के नेतृत्व वाले गुट ने बीजापुर के पतन की सारी जिम्मेदारी खवास खां के गुट पर डाल दी। 1674 में बहलोल खां ने कनारा में सफलतापूर्वक मराठों को पीछे धकेल दिया। इसी समय उत्तर-पश्चिम में होने वाले अफगान उपद्रवों के कारण दक्खन से फौज वापस बुलानी पड़ी और बहादुर खां के पास एक कमजोर सेना रह गई। शिवाजी ने स्थिति का भरपूर फायदा उठाया। उसने 6 जून, 1674 को अपने को राजा घोषित किया और इसके बाद तत्काल मई, 1674 में बहादुर खां के खेमे को लूट लिया। 1675 के आरंभ में मुग़ल-मराठा शांति वार्ता भी असफल रही।

बहादुर खां ने शिवाजी के खिलाफ बीजापुर से संधि करनी चाही (अक्टूबर, 1675) परंतु इसी समय खवास खां ने बहलोल खां को उखाड़ फेंका (11 नवंबर, 1675)। इस प्रकार बहादुर खां की योजना फलीभूत न हो सकी। इसी बीच औरंगजेब ने बहादुर खां पर कड़े प्रतिबंध लगा दिए। दूसरी तरफ मराठों का सितारा दिन-पर-दिन बुलंद होता जा रहा था। दिलेर खां गोलकुंडा और शिवाजी के खिलाफ मुग़ल-बीजापुर गठबंधन करना चाहता था। परंतु गोलकुंडा के *वजीर* मदन्ना और अकन्ना की कूटनीति के कारण उसे इसमें सफलता नहीं मिली। इसके बदले मदन्ना ने शिवाजी से संधि कर ली और मुग़लों से सुरक्षा के बदले शिवाजी को 1 लाख *हून* देने को राजी हो गया। उसने कोल्हापुर जिले सहित कृष्णा नदी के पूर्व में शिवाजी के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। शिवाजी के कर्नाटक अभियान (1677-1678) को गोलकुंडा का भी समर्थन प्राप्त हुआ।

परंतु बाद में गोलकुंडा शासक को जिंजी और अन्य क्षेत्र देने के अपने वादे से शिवाजी मुकर गए। अतः दोनों के बीच मतभेद पैदा हो गए और गोलकुंडा शासक ने शिवाजी को वार्षिक भुगतान देना बंद कर दिया। शिवाजी ने घूस का सहारा लेकर बीजापुर के किले पर कब्जा करना चाहा। शिवाजी के इस व्यवहार ने बीजापुर शासक को और भी नाराज कर दिया।

इसी समय मराठा दरबार में उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर कुछ मतभेद पैदा हो गए। शिवाजी ने अपने छोटे बेटे राजाराम को *देस* और कोंकण प्रदान किया, जबकि बड़े लड़के शम्भाजी को नए क्षेत्र कर्नाटक का भार सौंपा। शिवाजी ने राजाराम की नाबालिग उम्र को देखते हुए ऐसा कदम उठाया था क्योंकि नए हासिल किए गए क्षेत्र कर्नाटक को संभालना उसके बस की बात नहीं थी। परंतु शम्भाजी *देस* जैसे लाभप्रद इलाके को छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। दिलेर खां (1678) ने इस स्थिति का फायदा उठाकर शम्भाजी की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाया और वचन दिया कि वह *देस* और कोंकण हासिल करने में उसकी मदद करेगा। शम्भाजी ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और मुग़लों द्वारा उसे 7 हज़ार *ज़ात* का *मनसब* प्रदान किया गया (दिसंबर, 1678)।

इसी समय (1678) गोलकुंडा, बीजापुर और मुग़लों के गठबंधन का विचार सामने आया ताकि मराठों की शक्ति को नष्ट किया जा सके, परंतु सिद्दी मसूद (बीजापुर दरबार में दक्खनी दल का नेता) और शिवाजी की संधि (1679) ने इस योजना पर पानी फेर दिया। दिलेर खां अब बीजापुर पर कब्जा जमाने के लिए आगे बढ़ा, परंतु ठीक समय पर मराठों के हस्तक्षेप से उसकी यह योजना भी असफल रही (अगस्त 1679)।

अतः जय सिंह की वापसी (1666) से लेकर औरंगजेब द्वारा आक्रमक नीति अपनाए जाने तक (1680) इस तृतीय चरण में पूरी तरह अव्यवस्था और गड़बड़ी का माहौल बना रहा। मुग़ल किसी एक नीति पर टिक न सके और इसके बदले वे दिशाहीन और लक्ष्यहीन ढंग से काम करते रहे। न तो उन्हें मराठों को दोस्त बनाने में सफलता मिली न ही दक्खनी राज्यों को ही वे अपने विश्वास में ले सके तथा न ही इन दक्खनी राज्यों और शिवाजी का दमन कर सके।

चौथा चरणः 1680–1737

दक्खनी इतिहास की दृष्टि से 1680 का वर्ष बहुत महत्वपूर्ण है। इसी वर्ष शिवाजी की मृत्यु हुई (23 मार्च) और इसी वर्ष औरंगजेब ने खुद दक्खनी मसले को हल करने का निश्चय किया। मुग़लों ने पूर्ण आधिपत्य की आक्रामक नीति अपनाई।

आगे आने वाला समय मराठों के लिए सुगम नहीं था। शिवाजी के राज्य के बंटवारे को लेकर उसके बेटों में मतभेद पैदा हो गए। परिणामस्वरूप मराठा सरदारों को अपनी शक्ति दिखाने का मौका मिल गया। पश्चिमी प्रांत के *सचिव* और *वायसराय* अन्नाजी दात्तो तथा *पेशवा* मोरो त्रिंबक के बीच की ईर्ष्या से स्थिति और भी बिगड़ गई। मराठा सरदारों ने शम्भाजी के स्थान पर राजाराम को राजा घोषित कर दिया। शम्भाजी ने तेजी के साथ कार्यवाही की और राजाराम तथा अन्नाजी दात्तो को कैद कर लिया (जुलाई, 1680)। अन्नाजी दात्तो ने विद्रोही मुग़ल युवराज अकबर की सहायता से एक बार फिर सफलता प्राप्त करने की कोशिश की। जैसे ही शम्भाजी को इस तथ्य का पता चला उसने दमनात्मक नीति का सहारा लेना शुरू कर दिया। शिवाजी के शासन के प्रति वफादार व्यक्तियों को इस दमन का सामना करना पड़ा। इस दमन से घबराकर बहुत से शिर्के परिवार के सदस्यों ने मुग़लों की शरण ली। इससे मराठा राज्य में पूर्ण अव्यवस्था और अराजकता फैल गई। स्थिति को ठीक करने की बजाय शम्भाजी शराब और वैभव की गहरी खाई में गिरते चले गए। जल्द ही शिवाजी की सेना का अनुशासन समाप्त हो गया। पहले सेना के साथ स्त्रियों को ले जाना वर्जित था परंतु अब यह नियम टूट गया। इसका एक निश्चित प्रभाव पड़ा। इसके कारण अभी-अभी जन्मा मराठा राज्य कमजोर हो गया जिसमें शक्तिशाली मुग़लों का सामना करने की शक्ति नहीं थी।

दूसरी तरफ दक्षिण में अपने प्रवास के पहले 4 वर्षों में औरंगजेब ने दक्खनी राज्यों की सहायता से मराठों को दबाने का काम किया जिन्होंने विद्रोही युवराज अकबर को शरण दे रखी थी। लगातार दबाव बनाए रखने के बावजूद 1680-1684 तक मुग़लों को ज्यादा सफलता हासिल नहीं हो सकी। 1684 में औरंगजेब ने यह महसूस किया कि उसे पहले गोलकुंडा और बीजापुर से निपटना चाहिए। इसके परिणामस्वरूप मुग़लों ने बीजापुर (1686) और गोलकुंडा (1687) पर कब्जा कर लिया। लेकिन इस निर्णय (ऐसी ही योजना जय सिंह ने 1665 में मराठों के साथ मिलकर बनाई थी) में शायद देर हो चुकी थी। इस समय तक मराठा न केवल मजबूत हो गए थे बल्कि उन्होंने कर्नाटक में प्रतिरक्षा की दूसरी पंक्ति भी निर्मित करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। अब वे एक छोटे-मोटे सरदार नहीं थे बल्कि अब यहां एक राजा था जो दक्खनी शासकों के समकक्ष था।

जब औरंगजेब बीजापुर और गोलकुंडा (1686-1687) का मामला हल करने में व्यस्त था तब मराठा औरंगाबाद से लेकर बुरहानपुर तक के मुग़ल इलाके को रौंद रहे थे। परंतु इस समय बीजापुर और गोलकुंडा पर मुग़ल विजय से मुग़ल सेना की शक्ति और स्रोत में अपार वृद्धि हुई थी। युवराज अकबर ईरान भाग गया था (1688)। शम्भाजी के व्यवहार से बहुत से मराठा सरदार नाराज होकर मुग़लों से जा मिले थे। इन परिस्थितियों में मुग़लों ने शम्भाजी को कैद कर (फरवरी, 1689) अंततः मृत्युदंड (11 मार्च, 1689) दे दिया।

शम्भाजी की मृत्यु (1689) के बाद मराठा राजनीति में कई नए आयाम उभरे। बीजापुर और गोलकुंडा को हराने के बाद मुग़लों को कई स्थानीय तत्वों और *नायकों, वेलमो, देशमुखों,* आदि के प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। मुग़ल प्रशासन व्यवस्था लागू किए जाने से दक्खन में कृषीय तनाव पैदा हुए। स्थानीय भूमिपति कुलीन वर्ग के स्थान पर नया वर्ग सामने आया – मुग़ल *जागीरदार* और राजस्व के ठेकेदार (*इजारेदार*)। *जागीरदार* राजस्व वसूल न कर पाने की स्थिति में अपनी *जागीर* को एक मोटी आमदनी के रूप में भुगतान लेकर ठेकेदारों को राजस्व वसूल करने की छूट देने लगे। इससे जिन लोगों का भू-राजस्व एकत्रित करने का अधिकार छीना गया वे विद्रोही हो गए। किसानों को लगातार दोनों तरफ से दमन का सामना करना पड़ा। इसके अलावा इसी बीच ज्यादातर *मनसबदार* दक्षिण से भर्ती किए गए। केवल हज़ार *ज़ात* के ऊपर के मराठा *मनसबदारों* की संख्या ही 13 (शाहजहां) से बढ़कर 96 (औरंगज़ेब) हो गयी, जबकि औरंगज़ेब के समय में दक्खनी *मनसबदारों* की संख्या 575 तक पहुंच गई। इससे *जागीरों* पर दबाव पड़ा और *जागीर* व्यवस्था संकटग्रस्त हो गई। दक्खनी और *खानजाद* कुलीनों के बीच संघर्ष आरंभ हो गए। इसके अलावा लगातार होने वाले युद्धों का भी मुग़ल खजाने पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा था। मुग़ल सीमा के विस्तार से नई समस्याएँ सामने आईं। यह नया क्षेत्र मराठों के हमले का लगातार शिकार होता रहता था। इसके अलावा शम्भाजी की मृत्यु के बाद मराठा तेजी से उभरे जिसके फलस्वरूप 1693 के बाद मुग़लों को कई बार हार का सामना करना पड़ा।

मराठा तेजी से राजाराम, जो कि प्रतापगढ़ भाग गया था (5 अप्रैल, 1689) के इर्द-गिर्द इकट्ठा होने लगे। परंतु मुग़लों के दबाव में आकर राजाराम को पनहाला में शरण लेनी पड़ी जहाँ वह मुग़लों से अपनी रक्षा कर सका। लेकिन मुग़लों ने जल्दी रायगढ़ पर कब्जा जमा लिया (नवंबर, 1689) और पनहाला भी उनकी पहुंच में आ गया (सितंबर, 1689)। राजाराम को भाग कर जिंजी जाना पड़ा। 1700 में सतारा और सिंहगढ़ मुग़लों के कब्जे में चला गया। परंतु इन सफलताओं के बावजूद मुग़ल न तो राजाराम को पकड़ सके न ही मराठों की शक्ति को कुचल सके। मराठों ने लगातार अपना संघर्ष जारी रखा। उन्होंने जल्द ही अपने खोए हुए इलाके वापस ले लिए। मुग़लों को न केवल जीते हुए इलाकों से हाथ धोना पड़ा बल्कि इसे पाने के लिए उन्हें अत्यधिक कष्टों और परेशानियों का सामना करना पड़ा। इससे मुग़ल सेना का नैतिक बल टूट गया, उसमें एक प्रकार का बिखराव और शिथिलता आ गई। अब जाकर औरंगजेब को इस प्रकार के लंबे अभियान की असार्थकता महसूस हुई और वह अहमदाबाद की ओर लौट पड़ा। किंतु इससे पहले कि वह मैत्रीपूर्ण नीति अपनाता 1707 में उसकी मृत्यु हो गयी।

संक्षेप में सतीश चंद्र ने सही ही लिखा है कि औरंगजेब की असफलता का मुख्य कारण यह था कि वह 'मराठा आंदोलन के स्वरूप को ठीक से पहचान न सका'। शिवाजी को मात्र एक *भूमिया* समझना उसकी भूल थी। मराठों के पास एक लोकप्रिय आधार था और उन्हें स्थानीय भूमिपतियों (*वतनदारों*) का समर्थन प्राप्त था। मुग़ल प्रशासनिक व्यवस्था लादे जाने के उसके प्रयत्न के कारण स्थानीय तत्वों के बीच अव्यवस्था की स्थिति पैदा हो गई और किसानों का शोषण हुआ। मुग़ल *मनसबदारों* के लिए उनके दक्खनी *जागीरों* से कुछ भी वसूल करना, लगभग असंभव हो गया। शम्भाजी को मृत्यु-दंड दिया जाना एक और भारी भूल थी। औरंगजेब मराठों के बीच आतंक फैलाना चाहता था, परंतु उसे इसमें सफलता नहीं मिली। वह न तो मराठों को दबा सका न ही शाहू को अपने पास रखकर कोई शर्त मनवा सका।

6.10 मुग़ल तथा उत्तर-पश्चिमी सीमा

बाबर के मध्य एशिया से बाहर निकल जाने के बाद उज़बेगों तथा मुग़लों के बीच परंपरागत संघर्ष कुछ समय के लिए बंद हो गया था क्योंकि दोनों के बीच संघर्ष के लिए ऐसा कुछ शेष

न रह गया था जैसा कि कंधार के मामले को लेकर ईरानियों के साथ था। इन सबके बावजूद भी बाबर ने हुमायूं को ट्रांसऑक्सीयाना के कुछ भाग को जीतने के लिए प्रोत्साहित किया। हुमायूं ने असफलता या अस्थाई सफलता के साथ अपने प्रयासों को जारी रखा। इसके बावजूद ये प्रयास कोई स्थाई प्रभाव न छोड़ सके क्योंकि भारत में मुग़लों द्वारा अधीन किए गए क्षेत्रों का भी विस्तार एवं सुदृढ़ीकरण होना शेष था। आगामी वर्षों में उज़बेगों तथा मुग़लों दोनों को बहुत ही आंतरिक समस्याओं का सामना करना पड़ा जिसके कारण वे विस्तार अभियान को आगे न बढ़ा सके। अब्दुल्ला खां के उद्भव (1560-98) के साथ मुग़ल-उज़बेग संबंधों के इतिहास में एक नए युग का सूत्रपात हुआ क्योंकि अब्दुल्ला खां ने अकबर के साथ व्यापक संपर्कों को स्थापित करने का प्रयास किया।

6.10.1 अकबर तथा उत्तर-पश्चिमी सीमा

अकबर के शासन के दौरान मुग़ल-उज़बेक संबंधों का तीन चरणों में (1) 1572-77, (2) 1583-89, तथा (3) 1589-98 में विवेचन किया जा सकता है।

प्रथम चरण (1572-1577)

अब्दुल्ला द्वारा 1572 तथा 1577 में दो दूत मंडल भेजे गए। इन दूत मंडलों का उद्देश्य न तो अकबर से सैनिक सहायता प्राप्त करना था और न ही ईरानी साम्राज्य के विरुद्ध किसी संगठन को बनाने की संभावना खोजना था। बदख्शां तथा कंधार जैसे क्षेत्रों में रुचि रखने वाले अब्दुल्ला खां की योजना को लेकर उसके लिए यह स्वभाविक था कि वह अकबर के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों को विकसित करने के लिए प्रयास करे और इस प्रकार वह इस ओर से खतरे को टाल सकता था। जानकारी प्राप्त करने एवं सांत्वना देने वाले इन दो दूत मंडलों को निम्नलिखित उद्देश्यों के लिए भेजा गयाः

1) ईरान तथा कंधार के प्रति अकबर के दृष्टिकोण का आकलन करने हेतु,
2) बदख्शां के संदर्भ में अकबर की सामान्य नीति का पता लगाने, तथा यदि संभव हो तो
3) बदख्शां के विषय में अकबर को अपनी स्वयं की योजनाओं के बारे में गलतफहमी में रखना।

उत्तर-पश्चिमी सीमा पर मिर्ज़ा हाकिम (काबुल का शासक) के विद्रोह के कारण और मिर्ज़ा हाकिम की ईरान के शासक शाह इस्माईल द्वितीय के साथ मित्रता के कारण भी अकबर को यह हुआ कि कहीं अब्दुल्ला खां, मिर्ज़ा हाकिम तथा इस्माईल द्वितीय के बीच त्रिपक्षीय गठबंधन न बन जाए। दूसरे, अकबर बाह्य मामलों में स्वयं को उलझाना नहीं चाहता था इन्हीं कारणों से अकबर ने भी अब्दुल्ला खां के प्रति मित्रतापूर्ण दृष्टिकोण अपनाया। अब्दुल्ला ने 1578 में पुनः अकबर के पास अपना दूत भेजा। ईरान पर संयुक्त तौर पर आक्रमण करने के प्रस्ताव को अकबर ने मानने से इनकार कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि अब्दुल्ला की इस पत्र के प्रति प्रतिक्रिया सकारात्मक न थी क्योंकि आगामी एक दशक तक उसने मुग़ल दरबार में अपना कोई दूत नहीं भेजा।

1577 से अब्दुल्ला खां तथा अकबर की क्रमशः स्थितियों में हुए परिवर्तन को देखा जा सकता है जिसके कारणवश एक दूसरे के प्रति उनकी नीतियों में परिवर्तन हुआ। 1583 तक अब्दुल्ला खां ने संपूर्ण ट्रांसऑक्सियाना को विजित कर लिया और उसने अपने परिवार के उन सभी सदस्यों, जो उसके विरोधी थे, को रास्ते से हटा दिया था। 1583 में अपने पिता की मृत्यु के बाद वह *खाकान* भी बन गया और अब वह मुस्लिम जगत में अपने सभी प्रतिद्वंद्वियों से प्रतियोगिता कर सकता था। अब्दुल्ला ने अपनी स्थिति को मजबूत करने के साथ ही अकबर के प्रति एक कड़ा एवं मांग करने वाला दृष्टिकोण अपनाना शुरू कर दिया, वहीं अकबर का स्वयं का दृष्टिकोण सुलह-समझौते वाला बनने लगा।

इस समय तक अकबर की मुश्किलें और बढ़ीं। कश्मीर तथा गुजरात में विद्रोह हुए और काबुल, सवाद तथा बाजौर में कबीलाइयों के विद्रोह हुए। मिर्ज़ा हाकिम (1585) की मृत्यु हो जाने के बाद उत्तर-पश्चिमी सीमा और भी असुरक्षित हो गई। ईरानी साम्राज्य भी असफल एवं अयोग्य तथा अर्ध-अंधे शासक खुदाबंदा (1577-1588) के अधीन कमजोर पड़ गया और साम्राज्य ऑटोमनों के आक्रमणों तथा कुलीनों की आंतरिक कलहों के कारण बिखर गया था।

दूसरा चरण (1583-1589)

कई वर्षों बाद अब्दुल्ला ने पुनः अपना एक दूत 1586 में अकबर के पास भेजा। अकबर ने इसका प्रत्युत्तर हाकिम हुमेम को 1586 में अपने दूत के रूप में भेजकर दिया। इसकी व्याख्या करना बड़ा मुश्किल है कि अब्दुल्ला ने एक समय में ही दो अलग-अलग पत्रों को भेजने का निर्णय क्यों किया। फिर भी इन पत्रों को मात्र कल्पित मानकर नहीं छोड़ा जा सकता क्योंकि अकबर ने अपने पत्र में उन सभी प्रश्नों का उत्तर दिया जिनको इन दोनों पत्रों में अलग-अलग उठाया गया था। अब्दुल्ला के लिखित एवं मौखिक संदेश के स्तर से स्पष्ट है कि इस दूत को भेजने का उद्देश्य ईरान के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए अकबर का सहयोग प्राप्त करना न था, अपितु अकबर को ईरान के शासक को सहायता भेजने से रोकना था। अब्दुल्ला का कहना था कि उसने 1578-1585 तक अकबर के सभी पत्र व्यवहार को इसलिए बंद कर दिया था क्योंकि 'अकबर ने अधिमनोविज्ञानीय (metapsychosis) धर्म तथा जोगियों का व्यवहार धारण कर लिया था और वह पैगंबर के धर्म से भटक गया था'। अकबर ने अपने दूत हाकिम हुमेम के माध्यम से भेजे गए उत्तर में यह कहा कि यह 'कुछ निश्चित विरोधी लोगों की जालसाजी एवं आरोपण मात्र है'।

तीसरा चरण (1589-1598)

अब्दुल्ला के दरबार से अहमद अली अतालिक को भेजा जाना उज़बेक-मुग़ल संबंधों में तीसरे चरण का प्रारंभ था। अब्दुल्ला ने अपने दूत के माध्यम से जो पत्र भेजा था उसमें अब्दुल्ला ने मित्रता करने की पेशकश की और 'पारस्परिक एकता की नींव को मजबूत करने तथा दोनों के बीच हिंदुकुश को सीमा बनाने के लिए प्रयत्न करने हेतु' इस दूत को भेजा। अकबर ने 1596 में कंधार की विजय के बाद ही शांति के प्रस्ताव को औपचारिक तौर पर स्वीकार किया।

इन परिवर्तित परिस्थितियों में अकबर को प्रोत्साहन मिला, साथ ही वह अब्दुल्ला खां के आक्रामक इरादों के प्रति भी पूर्णतः सजग था। इसी कारण से अकबर स्वयं पंजाब पहुंचा और 1589 से कंधार पर अधिकार करने की योजना बनाने लगा। अकबर ने कंधार जीत लिया और अंततः मिर्ज़ाओं को भारत वापस लाने में सफल हो गया। कंधार की विजय के बाद अकबर ने अब्दुल्ला खां के साथ अपने संबंधों को पुनः स्थापित करने की आवश्यकता को महसूस किया। कंधार पर अधिकार करने के बाद से ही मुग़ल सेनाएँ गर्मसीर तथा ज़मींदावर पर अधिकार करने के लिए उज़बेगों के साथ सशस्त्र संघर्ष में अब्दुल्ला के साथ व्यस्त थीं इस कारण अब्दुल्ला के साथ सामान्य संबंध बनाना और भी आवश्यक हो गया था। इसके अतिरिक्त 1594 में ऑटोमन सम्राट सुल्तान मुराद द्वितीय ने ईरानी क्षेत्र पर संयुक्त आक्रमण करने के लिए सहयोग करने हेतु अब्दुल्ला के पास एक पत्र भेजा। ऑटोमन-उज़बेक संभावित गठबंधन के भय ने अकबर को और सजग कर दिया। किंतु उज़बेगों तथा ऑटोमन साम्राज्य के बीच कोई सैनिक गठबंधन इस कारण न हो सका क्योंकि उज़बेग पत्रवाहक जब तक ऑटोमन दरबार पहुंच पाता कि इसी बीच ऑटोमन शासक सुल्तान मुराद तृतीय का 1595 में देहांत हो गया।

लेकिन उज़बेगों का भय निरंतर बना रहा क्योंकि अब्दुल्ला ने नए ऑटोमन शासक मोहम्मद के साथ पत्र व्यवहार प्रारंभ कर दिया था और ईरान पर संयुक्त आक्रमण करने का प्रस्ताव भी रखा। कंधार पर अधिकार करने के बाद ख्वाजा अशरफ नक़्शबंदी के माध्यम से अकबर ने तुरंत एक दूत भेजने की आवश्यकता को महसूस किया और उसने दोनों राज्यों की सीमाओं के रूप में हिंदुकुश को स्वीकार करने की अपनी इच्छा व्यक्त की।

6.10.2 जहांगीर तथा उत्तर-पश्चिमी सीमा

तूरान के साथ जहांगीर के संबंध मुख्यतः ईरान के साथ उसके संबंधों से सुनिश्चित होते थे। उसकी आत्मकथा से स्पष्ट होता है कि हालांकि उसका लगाव तूरान के साथ था, लेकिन उसकी योजनाओं में तूरान की विजय शामिल न थी। जहांगीर के उज़बेगों के साथ संबंधों का अनुमान अंग्रेज यात्री थॉमस कोरयाट के उस अनुरोध से जिसमें 1616 में एक सिफारिश पत्र के लिए कहा गया था, के प्रति जहांगीर के उत्तर से लगाया जा सकता है:

> 'उसके और तातार राजकुमारों के बीच कोई विशेष मित्रता नहीं है और उसकी सिफारिशें कोरयाट को समरकन्द में मदद नहीं कर सकेंगी'।

जहांगीर ने अपने शासन काल के प्रथम दशक में उज़बेगों के साथ कोई सक्रिय संबंध नहीं बनाए। उसने केवल ऐसे प्रयासों पर ही ध्यान दिया जिनसे उसकी सीमाओं पर किसी भी प्रसारवादी मंसूबों को रोका जा सके। जहांगीर की उज़बेगों के प्रति इस उदासीनता में तब परिवर्तन हुआ जबकि शाह ने अपने दूत ज़ैनुल बेग के द्वारा कंधार के प्रश्न को उठवाया। फरवरी 1621 में मीर बारका को एक 'अति गोपनीय उद्देश्य' से एक दूत के रूप में उज़बेग शासक इमाम कुली के पास भेजा गया और इसके बदले उज़बेग शासक ने अपने दूत को नूरजहां बेगम के पास भेजा। इस गोपनीय संदेश का जहांगीर ने उत्साहपूर्वक स्वागत किया क्योंकि इस संदेश में ईरान की आलोचना की गई थी और ईरानियों के विरुद्ध मुग़लों के साथ गठबंधन करने की भी सिफारिश की गई थी। जहांगीर को पवित्र युद्ध में शामिल होने का निमंत्रण दिया गया था और यह इमाम कुली के लिए जरूरी था क्योंकि न केवल इमाम कुली अपने पिता की मृत्यु का बदला लेना चाहता था अपितु वह मक्का को जाने वाले मार्ग को मुक्त करना चाहता था जिस पर ईरानियों का नियंत्रण था।

यद्यपि जहांगीर ने टर्की के ऑटोमन सुल्तान के मित्रतापूर्ण प्रस्ताव की अवहेलना की थी लेकिन उज्जवल ऑटोमन संभावित गठबंधन को लेकर वह काफी चिंतित था। 1624 में ईरानियों के अधिपत्य में बगदाद पर अधिकार करने के बाद सुल्तान मुराद ने इमाम कुली के पास ईरान के विरुद्ध गठबंधन बनाने के लिए सकारात्मक उत्तर भेजा और ईरानियों के अधिपत्य से ईरान को अपने अधीन करने के लिए उसको उकसाया। ऑटोमन सुल्तान ने इसी प्रकार का संदेश जहांगीर के पास भेजा और ईरान के विरुद्ध त्रिपक्षीय गठबंधन बनाने पर बल दिया 1625-1626 तक कई पत्रों का आदान-प्रदान हुआ किंतु 1627 में जहांगीर की मृत्यु हो जाने से इस योजना को कार्यन्वित ना किया जा सका।

6.10.3 शाहजहां तथा उत्तर-पश्चिमी सीमा

शाहजहां के सत्तासीन होने के साथ ही उज़बेक-मुग़ल संबंधों में एक नया मोड़ आया। शाहजहां की विदेश नीति के निम्नलिखित तीन लक्ष्य थेः

क) कंधार को पुनः प्राप्त करना,

ख) 'पूर्वजों की भूमि' को पुनः विजित करना, और

ग) दक्खन पर अपने पूर्ण प्रभुत्व को स्थापित करना।

उपरोक्त लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए वह ईरान तथा ट्रांसऑक्सियाना, दोनों समकालीन शक्तियों की मित्रता को ढंग से सुनिश्चित करना चाहता था ताकि जब वह कंधार पर आक्रमण करे तब उसे ईरानियों के विरुद्ध ट्रांसऑक्सियाना की मित्रता का लाभ मिले और जब वह ट्रांसऑक्सियाना पर आक्रमण करे तब ईरान का सहयोग प्राप्त हो। शाहजहां ने कूटनीति का प्रयोग करते हुए नज़्र मुहम्मद के काबुल पर किए गए आक्रमण की अनदेखी कर अपना एक दूत बुखारा में इमाम कुली के पास भेजा। इन दूतों के आदान-प्रदान द्वारा ईरान के विरुद्ध एकता पर बल दिया गया। शाहजहां का दूतमंडल सफदर खां के नेतृत्व में गया जो अप्रैल में 1633 में वापस लौटा। मीर हुसैन के रूप में दूसरा दूत मई 1637 में गया। जहांगीर के विपरीत, शाहजहां ने 1636 में मुराद चतुर्थ को एक पत्र लिखा। इस पत्र में शाहजहां ने कंधार को विजित करने की अपनी इच्छा व्यक्त की और ईरान के विरुद्ध त्रिपक्षीय (मुग़ल-उज़बेग तथा ऑटोमन) गठबंधन बनाने का प्रस्ताव किया। लेकिन इनमें से किसी भी शासक की सहायता के बगैर शाहजहां ने कंधार को विजित करने में सफलता प्राप्त की।

1638 में कंधार पर विजय प्राप्त करने के बाद अब शाहजहां का एकमात्र लक्ष्य अपने 'पूर्वजों की भूमि' ट्रांसऑक्सियाना को विजित करना था। ईरान की सीमाओं से लगे मारूचक पर उज़बेगों के आक्रमण के बाद ईरान तथा मुग़लों के मध्य अप्रैल-मई 1640 में मित्रतापूर्ण संबंध कायम हो गए। बल्ख पर एक संयुक्त आक्रमण का प्रस्ताव रखा गया किंतु किसी कारणवश इसको कार्यान्वित न किया जा सका। इस समय ईरानियों एवं मुग़लों के बीच पत्र-व्यवहार से स्पष्ट है कि मुग़लों ने ईरानियों पर सीमित समर्थन देने के लिए दबाव डाला और इसमें सफलता प्राप्त की जबकि ईरानियों के पत्रों में उनका भय एवं चिंता प्रतिलक्षित होती है। इसी प्रकार की चिंताएँ मुग़लों के निरूत्साही सहयोगी उज़बेगों को भी थीं क्योंकि वह भी शाहजहां की प्रसारवादी अभिलाषा को समझ गए थे। शीघ्र ही मुग़लों को इसका अवसर प्राप्त हुआ।

इस समय उज़बेक साम्राज्य अराजकता के दौर से गुजर रहा था। नज़्र मुहम्मद के निरंकुश एवं एकछत्र शासन ने कुलीनों को विरोधी बना दिया था और वे उसके पुत्र अब्दुल अज़ीज़ का समर्थन करने लगे। निराशा के क्षणों में नज़्र मुहम्मद ने शाहजहां की सहायता प्राप्त करने के प्रयास किए किंतु शाहजहां ने इस अवसर का लाभ उठाते हुए बल्ख को विद्रोहियों से बचाने के बहाने से बल्ख पर अधिकार कर लिया। बल्ख विजय को बल्ख के सैयदों को आवश्यक सुरक्षा प्रदान करने के आधार पर उचित ठहराया गया। इस पत्र के द्वारा यह भी संदेश दिया गया कि नज्र मुहम्मद को मक्का भेजा जाए और उसे तूरान न लौटने दिया जाए। ईरानियों ने भी नज्र मुहम्मद के मामले का समर्थन करने में स्वयं ही संकोच किया क्योंकि उनको उसके सफल होने का संदेह था। वास्तव में शाहजहां ने तूरान के मामलों में ईरानियों की तटस्थता सुनिश्चित करने के लिए ईरान को तीन दूत भेजे। फिर भी नज्र मुहम्मद के प्रति ईरानियों का दृष्टिकोण तय करने में यह एकमात्र कारक न था। उसकी सहायता न करने की ईरानियों की अनिच्छा का कारण न केवल नज्र मुहम्मद का हठी चरित्र था अपितु ईरानियों के मध्य परंपरागत शत्रुता भी थी। ईरान में एक योग्य नेतृत्व के अभाव में भी कोई सुनिश्चित नीति न तैयार हो सकी। ईरान में दूत के पहुंचने से पूर्व ही नज्र मुहम्मद तूरान की ओर चल पड़ा था।

शाहजहां के लिए बल्ख तथा अन्य क्षेत्रों पर विजय उन पर अधिकार करने की अपेक्षा सहज प्रतीत हुई। कई कारणों से यह विजय कठिनाइयों से परिपूर्ण थी। उसे खाली करवाना भी मुग़लों के लिए मुश्किल था और यह समान रूप से खाली करना ईरानियों के लिए भी कठिन था। अतः अक्टूबर 1647 में नज़्र मुहम्मद के साथ एक समझौता किया गया।

1650 में शाहजहां ने तूरान के उज़बेग शासक अब्दुल अज़ीज़ के पास एक दूत भेजा। किंतु तूरान में हुए राजनैतिक पुनर्गठबंधन के कारण अब्दुल अज़ीज़ के लिए मुश्किल स्थिति पैदा हो गई थी। उसके भाई सुभान कुली का समर्थन उसके ससुर अबुल ग़ाज़ी के द्वारा किया जा रहा था। अब ग़ाज़ी ख्वारिज़्म का शासक और ईरान का पक्का समर्थक था। शाहजहां ने अब्दुल अज़ीज़ पर काबुल पर आक्रमण करने के लिए दबाव डाला। शाहजहां के द्वारा ऑटोमन शासकों मुराद तृतीय तथा मुहम्मद चतुर्थ के साथ गठबंधन के लिए किए गए प्रयास असफल रहे। ऑटोमन शासकों द्वारा शाहजहां को भेजे गए पत्रों का अभिप्राय शाहजहां को पसंद नहीं आया और न ही यह पारस्परिक समझ के लिए के लिए उत्साहवर्द्धक था। बल्ख पर मुग़लों के अधिकार को भी ऑटोमन शासकों ने पसंद नहीं किया इस तरह मुग़ल-ऑटोमन संबंध सुदृढ़ न हो सके।

6.10.4 औरंगजेब तथा उत्तर-पश्चिमी सीमा

औरंगजेब की दक्खन राज्यों के प्रति शत्रुता में और वृद्धि उसके भाइयों तथा ईरान के शाह के बीच गुप्त वार्ताओं के कारण हुई। औरंगजेब ने ईरानी गवर्नर ज़ुल्फीकार खां के माध्यम से शाह की स्वीकृति प्राप्त करने की इच्छा की और ज़ुल्फीकार ने 1660 में शाह की अनुमति के साथ तुरंत एक दूत भेजा। शाह के पत्र में प्राचीन मित्रतापूर्ण संबंधों तथा ईरान के शासकों ने मुग़लों की जो सहायता की थी उसका विवरण किया गया था और कंधार विजय के कारणों को भी बताया गया था। यद्यपि दूत का भव्य स्वागत किया गया था किंतु पत्र का उत्तर उत्साहवर्धक न था। मुलतान के गर्वनर तरबियत खां के अधीन एक वापसी दूत मंडल को मित्रतापूर्ण पत्र के साथ भेजा गया जिसमें कंधार विषय को समाप्त अध्याय के रूप में माना गया था। लेकिन दोनों शासकों के संबंधों में और गिरावट आई और दूत की अशिष्टता (जिसने शाह के साथ माज़न्दरान जाने से इंकार कर दिया) ने मुग़ल सम्राट के साथ शक्ति परीक्षण के लिए शाह को एक अवसर प्रदान कर दिया। शाह ने औरंगजेब को जो पत्र भेजा उसमें उसे भाई का हत्यारा तथा उसकी अप्रभावी सरकार के कारण उत्पन्न हुई अव्यवस्था को उद्धत किया गया था। तरबियत खां के पहुंचने से पूर्व ही शाह के सैनिकों के आक्रमण के लिए प्रस्थान की इच्छा की सूचना औरंगजेब के पास पहुंच चुकी थी। युद्ध के लिए तैयारी प्रारंभ हो गई तथा ईरान के साथ सभी प्रकार के व्यापार पर प्रतिबंध लगा दिए गए। सूरत के गवर्नर को आदेश भेजा गया कि ईरान को जाने वाले जहाजों को रोक लिया जाए। किंतु 1666 में शाह की मृत्यु के समाचार के कारण खतरा टल गया। लेकिन तरबियत खां को शाह के अपमानपूर्ण विचार विनम्रतापूर्वक सुनने के कारण हटा दिया गया और उसे एक वर्ष तक दरबार में उपस्थित होने की आज्ञा नहीं दी गई।

अगला ईरानी शासक शाह सुलेमान (1666-1694) अपेक्षाकृत अयोग्य था तथा उसके धर्मपरायण पुत्र और उत्तराधिकारी सुल्तान हुसैन में कूटनीतिक एवं राजनैतिक मामलों की समझ कम थी। औरंगजेब कंधार अभियान में निहित समस्याओं से भली-भांति परिचित था। उसने 1688 में हिरात के विद्रोही ईरानी गवर्नर की सहायता की। उसने राजकुमार मुअज़्ज़म को कंधार जाने के लिए मनाया क्योंकि वह स्वयं जाट, सिक्खों तथा मराठों की समस्याओं एवं अपने पुत्र अकबर जिसने विद्रोह कर 1681 में स्वयं को सम्राट घोषित कर दिया था – जैसे मामलों में पहले से ही उलझा हुआ था। यद्यपि औरंगजेब को शाह से सहायता प्राप्त करने का इच्छुक था लेकिन शाह ने ऐसा करने से इंकार कर दिया। तूरान के शासक अब्दुल अज़ीज़ तथा उसके भाई सुभान कुली के साथ कूटनीतिक संबंधों को मजबूत किया गया तथा सांप्रदायिक एकता पर बल दिया गया। 1685 में बाला मुर्घब पर आक्रमण की योजना तथा ईरान विरोधी गठबंधन बनाने का प्रस्ताव एवं ईरान पर संयुक्त आक्रमण पर विचार-विमर्श हुआ। लगभग ठीक उसी समय उज़बेग शासक अब्दुल अज़ीज़ ने शाह अब्बास द्वितीय से मित्रता करने की कोशिश की। लेकिन ईरान-उज़बेग गठबंधन को कार्यरूप न दिया जा सका क्योंकि तूरान को उरगंज तथा ख्वारिज के द्वारा चुनौती दी गई थी तथा वह आंतरिक एवं बाह्य कलहों से पीड़ित था और वहाँ अच्छे नेतृत्व का अभाव था। इस काल में सफवी साम्राज्य भी धीमी गति से पतन की ओर अग्रसर था और निश्चित तौर पर विलीन होने वाला था। यह दक्खन राज्यों को समर्थन देने में असमर्थ था। 1687 तक औरंगजेब ने शेष बचे दक्खन राज्यों बीजापुर एवं गोलकुण्डा को नष्ट कर उनके क्षेत्रों को अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया। मध्य एशिया तथा ईरान की ओर से कोई खतरा विद्यमान न होने के कारण औरंगजेब की स्थिति और मजबूत हो गई।

इस प्रकार औरंगजेब ने मुग़ल साम्राज्य को 'कूटनीतिक अलगाव की स्थिति' में छोड़ा और केवल 1698 में बुखारा से एक महत्वहीन प्रतिनिधि मंडल आया। यद्यपि औरंगजेब ने कभी भी कंधार को वापस लेने का सपना नहीं देखा था फिर भी मुग़ल-सफवी संबंध क्रमशः बिगड़ते चले गए और यहाँ तक कि ऑटोमन शासक से आए एक प्रतिनिधि मंडल का भी कोई उत्तर न दिया गया।

6.11 मुग़ल साम्राज्य का पतन

अब तक हमने देखा कि लगभग 3 शताब्दियों तक भारत के काफी बड़े भू-भाग पर मुग़ल साम्राज्य का वर्चस्व बना रहा। पर अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में इसकी शक्ति और प्रतिष्ठा में तेजी के साथ गिरावट आई। केवल साम्राज्य की राजनीतिक समस्याएं कम नहीं हुई बल्कि अकबर और शाहजहां द्वारा परिश्रमपूर्वक खड़ी की गई पूरी प्रशासनिक संरचना भी चरमरा गई। मुग़ल साम्राज्य के पतन के साथ ही साम्राज्य के सभी भागों में स्वतंत्र राज्यों का उदय हो गया। मुग़ल साम्राज्य के पतन और क्षेत्रीय राज्यों के उदय की प्रक्रिया को लेकर इतिहासकारों में खूब बहस चली है। इस भाग का उद्देश्य आपको मुगल साम्राज्य के पतन से संबंधित समस्या करा सिहांवलोकन प्रस्तुत करना है।

मुग़ल साम्राज्य के पतन संबंधी ऐतिहासिक दृष्टिकोण को दो मुख्य हिस्सों में विभाजित किया जा सकता है। पहला, मुग़ल केंद्रित दृष्टिकोण, इसके तहत विद्वान मुग़ल साम्राज्य के पतन का कारण स्वयं साम्राज्य की संरचना और कार्यपद्धति में ढूंढते हैं। दूसरे दृष्टिकोण को क्षेत्र-केंद्रित दृष्टिकोण कह सकते हैं जिसके तहत साम्राज्य के पतन के कारणों को क्षेत्रीय समस्याओं और राज्यों के विभिन्न भागों में फैली अव्यवस्थाओं में ढूंढा जाता है।

6.11.1 साम्राज्य-केंद्रित दृष्टिकोण

मुग़ल साम्राज्य के पतन की साम्राज्य केंद्रित व्याख्या का विकास विभिन्न चरणों में हुआ है। आरंभ में विकसित सिद्धांतों में शासकों के व्यक्तित्व और उनकी नीतियों को जिम्मेदार ठहराया गया। विलियम इरविन और जदुनाथ सरकार ने इस काल का पहला विस्तृत इतिहास लिखा[1]। उन्होंने मुग़ल शासकों और उनके कुलीनों के चरित्र की गिरावट को साम्राज्य के पतन का जिम्मेदार

[1]डब्ल्यू. इरविन, (1971); *द लेटर मुग़ल्स,* पुनः प्रकाशन, नई दिल्ली; जादूनाथ सरकार, (1983) *द फॉल ऑफ मुग़ल अम्पायर,* कोलकाता; *हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब,* खंड I-V (कोलकाता,1912, 1916, 1919 और 1924).

ठहराया। सरकार ने इस काल की कानून और व्यवस्था का भी विश्लेषण किया है। इसके लिए उन्होंने औरंगजेब को प्रमुख रूप से दोषी माना है। सरकार के अनुसार औरंगजेब एक कट्टर धार्मिक व्यक्ति था। उसने धर्म के आधार पर कुलीनों और अधिकारियों के साथ भेदभाव अपनाया। इस नीति के कारण कुलीनों में गहरा असंतोष फैल गया। उनका कहना है कि औरंगजेब के उत्तराधिकारी और उनके कुलीन अपने पूर्वजों की छाया मात्र थे और इस प्रकार वे औरंगजेब के द्वारा की गई गलतियों को सुधारने में असमक्ष थे।

जागीरदारी संकट

1959 में सतीश चंद्र की पुस्तक *पार्टीज़ एंड पॉलिटिक्स एट द मुग़ल कोर्ट, 1707-40* (1959 दिल्ली [1982 तीसरा संस्करण]) का प्रकाशन हुआ। इसमें पहली बार मुग़ल साम्राज्य की संरचना के अध्ययन का गंभीर प्रयास किया गया। साम्राज्य की प्रकृति और इसके पतन को समझाने के लिए इसकी कार्यपद्धति और इसकी योजनाओं का परीक्षण किया गया। सतीश चंद्र ने साम्राज्य की कुछ प्रमुख संस्थाओं का अध्ययन किया। उन्होंने मुख्य रूप से *मनसबदारी* और *जागीरदारी* व्यवस्था की छानबीन की। राजस्व की उपलब्धता निर्धारित करना और मुग़लों द्वारा राजस्व वसूल करना इस व्यवस्था के सुचारू रूप से संचालन के लिए अपरिहार्य थे। सतीश चंद्र के अनुसार औरंगजेब के शासन के अंतिम वर्षों में मुग़ल प्रशासन *मनसबदार-जागीरदार* व्यवस्था को बनाए रखने में असफल सिद्ध हुआ। जैसे ही यह व्यवस्था अव्यवस्थित होने लगी वैसे ही साम्राज्य का अंत अवश्यंभावी हो गया।

अतहर अली ने 1966 में अठारहवीं शताब्दी के अंत में कुलीन और उनकी राजनीति पर पुस्तक लिखी (एम. अतहर अली, द *मुग़ल नोबिलिटी अंडर औरंगजेब*, मुंबई, 1966 पुनः प्रकाशन, 1970)। इस पुस्तक में दक्खन राज्यों के अधिग्रहण, मुग़ल कुलीन वर्ग में मराठों और दक्खनियों के समावेश और *जागीरों* में आई कमी जैसी समस्याओं का विशेष रूप से अध्ययन किया गया है। अतहर अली के अनुसार दक्खन और मराठा राज्य क्षेत्रों में इस साम्राज्य के विस्तार के कारण कुलीनों की संख्या तेजी से बढ़ी और इससे *जागीर* व्यवस्था की कार्य पद्धति में संकट उत्पन्न हो गया। दक्षिण के कुलीनों के समावेश के कारण *जागीरों* की कमी पड़ने लगी और अच्छी *जागीरें* प्राप्त करने के लिए कुलीनों में होड़ लग गई। इससे बहुत हद तक *जागीरदारी* पर आधारित राजनैतिक संरचना चरमराने लगी।

1969 में प्रकाशित अपने एक महत्वपूर्ण आलेख में प्रोफेसर एस. नुरुल हसन ने बताया कि मुग़ल शासन के तहत कृषि संबंधों में ऊपर से नीचे तक पिरामिड की शक्ल में एक प्राधिकारी संरचना का विकास हुआ। इस संरचना के तहत विभिन्न प्रकार के अधिकार एक दूसरे के ऊपर अध्यारोपित किए गए। प्रोफेसर एस. नुरुल हसन ('*ज़मींदार अंडर* द् मुग़ल्स', *लैंड कन्ट्रोल एंड सोशल स्ट्रक्चर इन इंडियन हिस्ट्री*, सं. आर. ई. फ्राइकेनबर्ग, मेडिसन, 1969) के अनुसार एक वर्ग के रूप में *ज़मींदार* राज्य के प्रति काफी निष्ठावान थे। पर मुग़ल साम्राज्य में कृषि व्यवस्था का विकास इस रूप से हुआ कि उनके और राज्य के बीच और उनके अपने बीच के संघर्षों को नियंत्रित नहीं किया जा सका। इससे अक्सर कानून और व्यवस्था की समस्या पैदा हुई और राज्य की शक्ति में भी ह्रास हुआ। औरंगजेब की मृत्यु और साम्राज्यीय शक्ति के कमजोर होने के बाद यह संतुलन बिगड़ गया। इस स्थिति में *ज़मींदारों* को एक ऐसा वर्ग ही नियंत्रित कर सकता थाजो *ज़मींदारों* की सहायता पर निर्भर नहीं था। इस समय तक ऐसे किसी समुदाय का उदय नहीं हो पाया था अतः कृषि संबंध भी नहीं बदल सके। ऐसी स्थिति में व्यवस्था का पतन अवश्यंभावी था।

कृषि व्यवस्था का संकट

सतीश चंद्र की महत्वपूर्ण पुस्तक के प्रकाशन के बाद अनेक विद्वानों ने साम्राज्य के राजनीतिक पतन के कारणों का पता लगाने के लिए इसकी कार्यपद्धति के विभिन्न पहलुओं पर विचार करना शुरू किया। अब कारणों की खोज व्यक्तियों और शासक की नीतियों के बजाय मुग़ल साम्राज्य के आधारभूत ढांचे में की जाने लगी जिस पर मुग़ल साम्राज्य टिका हुआ था। इरफान हबीब ने अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक (*द एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुगल इंडिया*, नई दिल्ली, 1963) में साम्राज्य के पतन का गहराई में जाकर विश्लेषण किया। हबीब के अनुसार मुग़लों द्वारा राजस्व की वसूली व्यवस्था में द्वेष अंतर्निहित थे। साम्राज्य की सुरक्षा के लिए बड़ी से बड़ी सेना रखने की कोशिश

की जाती थी और इस कारणवश राजस्व भी ऊंची से ऊंची रखे जाने की नीति अपनाई जाती थी। दूसरी तरफ कुलीन अपनी *ज़ागीरों* से राजस्व दर से ज्यादा से ज्यादा प्राप्त करना चाहते थे। उन्हें किसानों की बरबादी की कोई चिंता नहीं होती थी। उन्हें इस बात की भी परवाह नहीं होती थी कि क्षेत्र विशेष में अत्यधिक वसूली करने से कृषक बर्बाद हो सकते हैं और उस क्षेत्र से राजस्व वसूली की संभावना पूरी तरह समाप्त हो सकती है।

कुलीनों का एक *ज़ागीर* से दूसरी *जागीर* में स्थानांतरण होता रहता था, इस कारण वे कृषि संबंधी दूरगामी सुधारों में भी रुचि नहीं लेते थे। किसानों पर बोझ बढ़ता गया और उन्हें जीवनयापन की मूलभूत आवश्यकताओं से भी वंचित होना पड़ा। इस अतिशय की प्रतिक्रिया में किसानों के पास विरोध के अलावा और कोई चारा नहीं रहा। मध्यकालीन भारत में इस प्रकार के ग्रामीण विरोधों के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। कई स्थानों पर किसान खेत छोड़कर भाग गए। दूसरे गांवों व शहरों में चले जाने के कारण पूरा का पूरा गांव वीरान हो जाता था। कभी-कभी किसान राजस्व देने में मना कर देते थे और मुग़ल सत्ता के खिलाफ उठ खड़े होते थे। हबीब के अनुसार विरोध के कारण साम्राज्य के राजनैतिक और सामाजिक तंतु कमजोर हुए।

'संकट' का पुनर्परीक्षण

जे. एफ. रिचर्ड्स, एम. एन. पियरसन और पी. हार्डी भी साम्राज्य के पतन के कारणों में दक्खन और मराठों के मामलों में मुग़लों के उलझने को एक महत्वपूर्ण स्थान देते थे (*जर्नल ऑफ एशियन स्टडीज,* भाग 35, अंक 2, फरवरी, 1976, पृष्ठ 221-265)। पर साम्राज्य की प्रकृति के संबंध में अलीगढ़ के इतिहासकारों से उनका मतभेद है। पियरसन के अनुसार,मुग़ल शासन अप्रत्यक्ष था। लोगों का जीवन स्थानीय संबंधों और विधि-विधाओं से संचालित होता था न कि राज्य नियंत्रण से। केवल कुलीनों की दृष्टि में ही मुग़ल साम्राज्य 'प्राथमिक जुड़ावों' से कहीं ज्यादा महत्व रखता था। ये कुलीन केवल संरक्षण के कारण ही साम्राज्य से जुड़े हुए थे और यह जुड़ाव सम्राट की 'निरंतर सैन्य सफलता' पर आधारित होता था। पियरसन का मानना है कि मुग़ल राज्य में गैर-व्यक्तिपरक नौकरशाही का अभाव था और यह स्थिति उसके लिए बहुत आशावादी नहीं थी।

1970 के आसपास जे. एफ. रिचर्ड्स ने मुग़लों के पतन के इन सिद्धांतों पर नई दृष्टि से विचार किया जो *बेजागीरी* (*ज़ागीरों* की अनुपस्थिति) को मुग़ल साम्राज्य के पतन का मूल कारण मानते हैं। अभिलेखागार से प्राप्त गोलकुंडा के दस्तावेजों के आधार पर उन्होंने इसका खंडन किया है कि दक्खन में *जागीरों* की कमी थी जिसके कारण *बेजागीरी* की स्थिति उत्पन्न हुई और मुग़ल साम्राज्य का पतन हुआ। उनका मानना है कि औरंगजेब के शासनकाल के उत्तरार्ध में दक्खन राज्यों के अधिग्रहण से कुलीनों की संख्या में बढ़त के साथ-साथ साम्राज्य के राजस्व स्रोतों में भी बढ़ोतरी होती गई। कर्नाटक और मराठों के विरुद्ध निरंतर युद्ध के खर्च को पूरा करने के लिए औरंगजेब ने अधिकांश समृद्ध *जागीरों* को *खालिसा* भूमि में परिणित कर दिया गया। इसके कारण *पाय बाकी जागीरों* (वह भूमि जो *ज़ागीर* में दिए जाने के लिए आरक्षित रखी जाती थी) की कमी हो गई है। अतः यह संकट प्रशासनिक था और *बेजागीरी* के कारण उत्पन्न नहीं हुआ था।

1980 के आसपास सतीश चंद्र ने अपने शोध द्वारा *बेजागीरी* की समस्या को कुछ हद तक सुलझाया। उन्होंने कुछ नए स्रोतों और दस्तावेजों के आधार पर *बेजागीरी* और *जागीरदारी* संकट के बीच स्पष्ट अंतर स्थापित किया। सतीश चंद्र के अनुसार *जागीरदारी* के सुचारू रूप से कार्य न कर सकने की पृष्ठभूमि पर विचार करने के पूर्व मध्यकालीन भारतीय समाज को समझना आवश्यक है। सतीश चंद्र के अनुसार सत्रहवीं शताब्दी में व्याप्त सामाजिक संघर्षों को मुग़ल अपने वर्गीय संबंधों के वृहद् ढांचे के अंदर सुलझा न सके और इसके कारण वित्तीय संकट उत्पन्न हुआ और *जागीर* व्यवस्था में भी संकट बढ़ा क्योंकि यह एक दूसरे से जुड़े हुए थे। साम्राज्य के इतिहास के आरंभ में ही इस *ज़ागीर* व्यवस्था में संकट के लक्षण उत्पन्न होने लगे थे। जहांगीर और शाहजहां के शासनकाल में गंगा-यमुना दोआब के उपजाऊ क्षेत्र के बाहर परिधीय क्षेत्र में साम्राज्य के विस्तार होने से यह संकट उभरकर सामने आ गया। शाहजहां के शासनकाल के अंत में *जागीर* भूमि के *जमा* (आकलित राजस्व) और *हासिल* (वास्तविक रूप में वसूला गया राजस्व) का अंतर स्पष्ट हो गया था। सतीश चंद्र के अनुसार *जागीरदारी* व्यवस्था का यह संकट केवल कृषि और गैर-कृषि अर्थव्यवस्था को तेजी से विकसित करके रोका जा सकता था।

मुग़ल साम्राज्य के पतन के कारणों पर विचार करते हुए यह भी कहा गया है कि परंपरागत रूप से गैर-राजनीतिक समझा जाने वाला समुदाय अठारहवीं शताब्दी में राजनीति में हिस्सा लेने लगा। कैरन लियोनार्ड के अनुसार 'देशी बैंकिंग संस्थाएँ मुग़ल राज्य के अपरिहार्य सहयोगी थे', तथा प्रमुख कुलीन 'जरूरत से ज्यादा इन संस्थाओं पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर थे'। 1650-1750 के काल में जब इन बैंकिंग संस्थाओं ने 'अपने आर्थिक और राजनीतिक सहयोग की दिशा' क्षेत्रीय राजनीति और शासकों के साथ-साथ बंगाल में इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी की ओर मोड़ दी तो दिवालिएपन की स्थिति उत्पन्न हो गई, राजनैतिक संकटों का सिलसिला शुरू हो गया और साम्राज्य का पतन हो गया[2]।

मुग़ल राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं के वर्तमान उपलब्ध अध्ययन लियोनार्ड के निष्कर्ष को कोई खास समर्थन प्रदान नहीं करते। फिलिप कैलकिन्स और एम. एन. पियर्सन ने क्रमशः बंगाल और गुजरात पर शोध करते हुए राजनीति में व्यापारियों के हिस्सा लेने के कुछ परिणाम प्रस्तुत किए हैं।[3] पर पियर्सन खुलकर यह नहीं कहते हैं कि मुग़ल वित्तीय व्यवस्था व्यापारियों के ऋण पर आधारित थी। कैलकिन्स ने एक खास काल और क्षेत्र तक अपने को सीमित रखकर अपनी सामान्य धारणा प्रतिपादित की थी।

6.11.2 क्षेत्र-केंद्रित दृष्टिकोण

मुजफ्फर आलम और चेतन सिंह ने अपनी कृतियों में मुग़ल साम्राज्य के पतन की व्याख्या करते हुए क्षेत्र-केंद्रित दृष्टिकोण अपनाया है।[4] मुजफ्फर आलम ने मुग़ल काल के पंजाब और अवध के *सूबों* में हुई गतिविधियों का तुलनात्मक अध्ययन किया है जबकि चेतन सिंह ने 17वीं शताब्दी के पंजाब के क्षेत्रीय इतिहास का गहराई से अध्ययन किया है। ये अध्ययन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं कि इनमें मुग़ल साम्राज्य की प्रकृति और 17वीं तथा प्रारम्भिक 18वीं शताब्दी में उसके लगातार कमजोर होते जाने की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है।

केंद्र-क्षेत्र संबंध

आलम ने *सूबा* अवध को मुग़ल राज्य का क्षेत्रीय प्रारूप मानकर मुग़ल साम्राज्य के पतन के कारणों की तलाश करने की कोशिश की है। आलम बताते हैं कि मुग़ल साम्राज्य विभिन्न स्तरों पर संघर्षरत समुदायों और विभिन्न देशी सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्थाओं के बीच समन्वय स्थापित करने वाली एजेंसी के रूप में कार्य करता था। एक अर्थ में साम्राज्य का आधार निषेधात्मक था, इसकी शक्ति स्थानीय समुदायों की अपने सीमित क्षेत्रों से बाहर बढ़कर स्वयं को संगठित करने की असमर्थता से प्रभावित होती थी। मुग़ल कालीन भारत में हुए राजनीतिक एकीकरण में एक हद तक कई दोष अंतर्निहित थे। विभिन्न समुदायों का नेतृत्व करने वाले स्थानीय नेता अपने स्वार्थों और राजनैतिक समीकरण के कारण काफी हद तक कुछ शर्तों के साथ केंद्र से जुड़े हुए थे।

मुगल कुलीन एक प्रकार से मुग़ल सम्राट के प्रतिनिधि होते थे। लेकिन कुलीन वर्ग के अपने अन्तर्निहित प्रतिद्वंद्व थे। *जागीर* स्थानांतरण की नीति का मुख्य उद्देश्य उन पर नियंत्रण रखना और संगठन को मजबूत करना था। पर इसमें कुलीनों को असुविधा हुआ करती थी और वह इसका विरोध करते थे। सत्रहवीं शताब्दी के दौरान मुग़ल साम्राज्य के कई क्षेत्रों में इस व्यवस्था का भली प्रकार कार्यान्वयन नहीं हो सका। स्थानीय संभ्रात (*ज़मींदार*) और कुलीन, ग्राम और *कस्बा* आधारित *मदद-ए माश* प्राप्तकर्ता (ऐसे विद्वजन जिन्हें मुग़ल सम्राट द्वारा राजस्व मुक्त भूमि प्रदान की जाती थी) और विभिन्न क्षेत्रों और स्थानीय समुदायों से बड़ी संख्या में आए निचले स्तर के अधिकारी साम्राज्य के ढांचे में एक दूसरे से गहरे रूप से जुड़े हुए थे।

---

[2] कैरन लियोनार्ड 'द ''ग्रेट फर्म'' थ्योरी ऑफ द डिक्लाइन ऑफ द मुग़ल अम्पायर', *कम्पेरेटिव स्टडीज इन सोसाइटी एंड हिस्ट्री,* भाग 21 अंक 2, अप्रैल 1979, पृष्ठ 161-167.

[3] फिलिप सी. कैलकिन्स, (1970) 'द फॉर्मेशन ऑफ ए रीजनली ओरिएंटेड रूलिंग ग्रुप इन बंगाल', *जनरल ऑफ एशियन स्टडीज,* भाग 29, अंक 4, अगस्त (1970); एम. एन. पियर्सन, (1976) *मर्चेन्ट्स एंड रूलर्स इन गुजरात,* (बर्कले एवं लॉस एन्जलेसः यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस).

[4] आलम, एम. (1986) *द क्राइसिस ऑफ अम्पायर इन मुग़ल नॉर्थ इंडिया, अवध एंड द पंजाब, 1707-1748,* (नई दिल्ली); सिंह, चेतन, (1991) *रीजन एंड एंपायर, पंजाब इन द सेवेंटीज सेंचुरी,* (नई दिल्ली).

आलम का मानना है कि आरंभिक अठारहवीं शताब्दी में मुग़ल व्यवस्था *ज़मींदारों, जागीरदारों, मदद-ए माश* प्राप्तकर्ताओं और अवध के शेखज़ादों जैसे स्थानीय प्रभावशाली तत्वों पर निगाह और नियंत्रण न रख सकी और परिणामस्वरूप मुग़ल साम्राज्य का पतन हो गया। अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में अपना अस्तित्व स्थापित करने के लिए कुलीनों में *ज़मींदारों* से स्वतंत्र राजनैतिक गठबंधन करने की प्रवृत्ति बढ़ी। इसके अलावा मुग़ल सत्ता के विभिन्न भागीदार (*ज़मींदार, मदद-ए माश* प्राप्तकर्ता, आदि) एक दूसरे के अधिकारों और इलाकों को हड़पने का प्रयत्न करने लगे।

आलम मुख्य रूप से यह विश्लेषित करना चाहते हैं कि अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में सामाजिक और राजनैतिक संतुलन किस प्रकार बिगड़ गया? दूसरे शब्दों में किन कारणों से प्रारम्भिक अठारहवीं शताब्दी में मुग़ल साम्राज्य का पतन हो गया। उनका मानना है कि सत्रहवीं शताब्दी के अंत और अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में अवध और पंजाब में निश्चित आर्थिक विकास देखने को मिलता है। आलम का अध्ययन सतीश चंद्र और अन्य विद्वानों के 18वीं शताब्दी के अंत के वित्तीय संकट के विचार के बिल्कुल विपरीत दृश्य उपस्थित करता है। मुग़ल सत्ता से जुड़े और साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान करने वाले सामाजिक समुदाय इन क्षेत्रों में हुई आर्थिक प्रगति से लाभ उठाने लगे। उनमें से कई लोगों ने इसकी सहायता से अपनी ताकत बढ़ाई और दूसरों के अधिकारों और विशेषाधिकारों को हड़पने का प्रयत्न करने लगे। इन गतिविधियों से साम्राज्य और राजनीतिक ढांचा ढहने लगा।

निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए मुज़फ्फर आलम कहते हैं कि अवध और पंजाब में हुए एक प्रकार के राजनैतिक रूपांतरण और एक नई *सूबेदारी* के तत्वों के उदय और विन्यास में मुग़ल साम्राज्य के पतन के बीच मौजूद थे। वस्तुतः यह उस पतन की अभिव्यक्तियां थी। इन दोनों प्रांतों में स्वतंत्र क्षेत्रीय इकाइयों के रूप में उदय होने के सभी तत्व मौजूद थे। पंजाब में इससे अव्यवस्था फैली पर अवध में एक स्थाई शासन की नींव रखी गई।

क्षेत्रीय राजनीति का स्वरूप

मुग़ल साम्राज्य के पतन की व्याख्या करने के लिए मुज़फ्फर आलम ने 18वीं शताब्दी की क्षेत्रीय गतिविधियों पर नजर डाली। यही दृष्टिकोण चेतन सिंह ने भी अपनाया। उनकी पुस्तक *रीजन एंड अम्पायर* में मुग़लकालीन उत्तर भारत के क्षेत्रीय इतिहास पर नई दृष्टि डाली गई। इसमें मुग़ल राजनीति के साथ-साथ समग्र पश्चिम एशिया में आए व्यापक राजनैतिक बदलाव के संदर्भ में मुग़लकालीन पंजाब *सूबा* के इतिहास का अध्ययन किया गया है। उनका मानना है कि निःसंदेह मुग़लकालीन प्रशासनिक ढांचा क्षेत्रों को मुग़ल प्रशासन से जोड़ता था पर इस प्रकार के परंपरागत एकीकरण की अपनी कुछ समस्याएँ थीं। स्थानीय समाज और राजनीति में कई प्रकार के तनाव होते थे और इससे निपटने के लिए प्रशासनिक व्यवस्था द्वारा मुग़ल सरकारी व्यवस्था के बने बनाए प्रशासनिक विभाजनों और उपविभाजनों का अतिक्रमण भी कर लिया जाता था। आम प्रशासन और राजस्व प्रशासन दोनों क्षेत्रों में व्यावहारिक जरूरतों के कारण ऐसा करना पड़ता था। स्थानीय प्रशासनिक इकाइयों की कार्यपद्धति तथा राजस्व व्यवस्था पर स्थानीयता का असर होता था। समय बीतने के साथ-साथ राजस्व प्रशासन में कुछ प्रथाएं और रिवाज मान्य हो गए और उनसे नियम और कानून विकसित हुए जिन्होंने मुग़ल साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान किया।

चेतन सिंह के अनुसार सत्रहवीं शताब्दी के अंत में सिंधु नदी में गाद जमा होने से पंजाब का जल मार्ग बुरी तरह बाधित हुआ। इससे पंजाब की वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था पर बहुत बुरा असर पड़ा। समकालीन तुर्की में राजनैतिक उथल-पुथल, ईरान के शाह का कंधार पर कब्जा और मुग़लों द्वारा इसे प्राप्त करने के प्रयत्न के कारण थल मार्ग भी अवरुद्ध हो गया। इसी समय उत्तर-पश्चिम पंजाब में यूसुफज़ई विद्रोह (1667) और आफरीदी विद्रोह (1678) भी हुआ। सिंह का मानना है कि इन राजनैतिक गड़बड़ियों का असर पंजाब के समाज और अर्थव्यवस्था पर पड़ा। इनसे व्यापार बाधित हुआ और धीरे-धीरे वाणिज्यिक कृषि पर आधारित पंजाब की अर्थव्यवस्था नष्ट हो गई। उनका निष्कर्ष है कि पंजाब में उत्पन्न सामाजिक विक्षोभ और अंततः साम्राज्य से उसका संबंध विच्छेद एक लंबी प्रक्रिया का परिणाम था। अठारहवीं शताब्दी के पहले से, जब मुग़ल साम्राज्य राजनैतिक रूप से कमजोर होना शुरू नहीं हुआ था ये प्रक्रियाएँ धीरे-धीरे एक निश्चित गति से अग्रसर हो रही थी।

यहीं पर 'साम्राज्य के संकट' के जटिल प्रश्न को सिंह के अध्ययन ने एक नया आयाम दिया। मुज़फ्फर आलम मुग़ल प्रांत अवध और पंजाब का मुग़ल साम्राज्य से संबंध विच्छेद की प्रक्रिया

का आरंभ अठारहवीं शताब्दी की शुरुआत से मानते हैं जबकि सिंह का मानना है कि यह प्रक्रिया साम्राज्य के उत्कर्ष काल में भी चल रही थी। इस प्रकार पंजाब के क्षेत्रीय इतिहास के दृष्टिकोण से साम्राज्य के पतन को देखने पर अलग तस्वीर उभर कर आती है। विभिन्न *सूबों* ने केवल विभिन्न कारणों से ही साम्राज्य से अपने को अलग नहीं कर लिया बल्कि अक्सर यह संबंध विच्छेद राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक गतिविधियों से उत्पन्न होता था जिस पर मुग़ल साम्राज्य का कोई नियंत्रण नहीं था।

अवलोकन

मुग़ल साम्राज्य के विभिन्न प्रांतों और क्षेत्रों में व्याप्त समस्याओं की एक व्याख्या प्रस्तुत करना कठिन है। इन्हीं कारणों से मुग़ल साम्राज्य के पतन का कोई एक कारण नहीं बताया जा सकता है। मुग़ल साम्राज्य के विभिन्न हिस्सों में मुग़ल साम्राज्य के पतन संबंधी किसी एक दृष्टिकोण को ग्रहण करना कठिन है। मुग़ल साम्राज्य केंद्र और क्षेत्र के आपसी संबंध पर टिका हुआ था। 18वीं शताब्दी के आरंभ में यह समझौता टूटने लगा। साम्राज्य के कई हिस्से अपने विकास के मार्ग स्वयं प्रशस्त करने लगे। अठारहवीं शताब्दी के इतिहास से पता चलता है कि वर्तमान सामाजिक ढांचे के अंदर ही विकास की संभावनाओं की खोज शुरू हो गई थी। स्पष्ट रूप से मुग़ल साम्राज्य के पतन का क्षेत्रीय इतिहास का दृष्टिकोण संपूर्ण भारत में मुग़ल साम्राज्य के पतन का कोई एक कारण नहीं मानता है।

विभिन्न क्षेत्र मुग़ल साम्राज्य से इन कई बंधनों से जुड़े हुए थे। सत्रहवीं शताब्दी के दौरान मुग़लकालीन भारत में सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन आने से इस गठबंधन का प्रभाव पड़ना अपरिहार्य था। विभिन्न क्षेत्रों पर विभिन्न तरीकों से प्रभाव पड़ा। कुछ क्षेत्रों ने अपने संबंध मुग़ल केंद्रीय सत्ता से तोड़ लिए जबकि अन्य ने यह बनाए रखे। यह बात तर्क संगत प्रतीत होती है कि मुग़ल साम्राज्य के विकेंद्रीकरण के समय विभिन्न क्षेत्रीय शक्तियों ने केंद्र से पृथक होने के अलग-अलग तरीके अपनाए। निश्चित रूप से साम्राज्य के पतन की मुग़ल केंद्रित विचारधारा के विपरीत, मुग़ल साम्राज्य का ह्रास एक अधिक जटिल प्रक्रिया थी।

इस प्रकार प्रारंभ में यह मत स्वीकार्य था कि मुग़ल साम्राज्य के पतन से प्रशासनिक अव्यवस्था एक प्रमुख कारण था। इस अव्यवस्था ने *जागीर* व्यवस्था में संकट को जन्म दिया जो अंततः क्षेत्रीय शक्तियों के उदय में सहायक हुआ। बाद में आर्थिक ढांचे के अध्ययन से यह मत सामने आया कि साम्राज्य कृषि व्यवस्था के संकट की ओर बढ़ रहा था और इससे आर्थिक ढांचा प्रभावित हो रहा था। इससे जाटों, सतनामियों और सिक्खों का विद्रोह सामने आया जिसने साम्राज्य की नींव हिला दी। पर मुग़ल साम्राज्य के पतन के संदर्भ में कोई ऐसी व्याख्या नहीं विकसित की जा सकी है जो सभी प्रांतों और क्षेत्रों में लागू हो सके। अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में संभवतः मुग़ल व्यवस्था को संभाल कर रखने वाला संतुलन बिगड़ गया। इसके बाद इस व्यवस्था के विभिन्न अंगों का पुनर्गठन होने की प्रक्रिया शुरू हो गई जिसके परिणामस्वरूप साम्राज्य का अंत और क्षेत्रीय शक्तियों का उदय हुआ।

बोध प्रश्न-3

1) औरंगजेब की ईरान के प्रति नीति पर एक टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

2) मुग़ल-मराठा संबंधों का परीक्षण कीजिए।

....

....

....

....

3) इतिहासकारों के अनुसार मुग़ल राज्य के पतन में *जागीरदारी* संकट का मुख्य तर्क क्या है?

....

....

....

....

4) मुज़फ्फर आलम मुग़ल राज्य के पतन की व्याख्या कैसे करते हैं?

....

....

....

....

6.12 सारांश

इस इकाई में हमने अकबर के बहुत छोटी आयु में सम्राट बनने के तथ्य के बारे में पढ़ा। आरंभिक चार वर्षों के लिए बैरम खां ने अकबर के संरक्षक के तौर पर कार्य किया। कुलीन वर्ग विभिन्न गुटों में बंटा हुआ था और प्रत्येक अपनी सर्वोच्चता स्थापित करने के प्रयास में लगा हुआ था। अकबर ने धीरे-धीरे स्थिति पर नियंत्रण प्राप्त किया और अपने लिए कुछ कुलीनों का समूह बनाया जो उसके लिए विश्वसनीय हों। मुग़ल साम्राज्य का एक सीमित क्षेत्र पर नियंत्रण था।

अकबर ने विजय की नीति आरंभ की और पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में विस्तृत क्षेत्रों को जोड़ा, यद्यपि दक्षिण में सफलता केवल दक्खन के कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित थी। विजय के साथ-साथ, सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया भी आरंभ की गई। परिणामस्वरूप, विजित क्षेत्रों को एकीकृत प्रशासनिक व्यवस्था के अंदर रखा गया। अकबर द्वारा संगठित साम्राज्य के अनुरक्षण की सफलता का पता इसके सौ वर्ष से अधिक रहे उत्तराधिकारियों द्वारा लगाया जा सकता है। औरंगजेब के शासन काल के दौरान दक्षिण में (बीजापुर, गोलकुण्डा आदि) और उत्तर-पूर्व में नए क्षेत्र जोड़े गए। मुग़ल शासकों की ध्यान देने योग्य उपलब्धि उनके द्वारा स्वायत्त सरदारों की मदद से साम्राज्य का विस्तार और सुदृढ़ीकरण करने में स्थित थी।

समग्र विशलेषण के अनुसार, यह इकाई उत्तर-पश्चिम सीमा के भू-राजनैतिक और व्यावसायिक महत्व को उजागर करने की कोशिश करती है, और जिस पर नियंत्रण करने के लिए मुग़लों, सफवियों और उज़बेगों के मध्य संघर्ष का कारण बना रहा। यह इकाई मुगल साम्राज्य के पतन पर इतिहासकारों के विभिन्न दृष्टिकोणों पर चर्चा से समाप्त होती है। यह विवाद कभी न समाप्त होने वाला चिरकालिक है और 18वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के संबंध में कोई एक अंतिम व्याख्या प्रस्तुत करना बहुत मुश्किल है।

6.13 शब्दावली

अकबरनामा	अकबर के शासनकाल का आधिकारिक अभिलेखन, जिसे अबुल फज़ल द्वारा फारसी में लिखा गया था
परगना	कई गांवों को मिलाकर बनाई गई एक प्रशासनिक इकाई
राज-प्रतिनिधि/संरक्षक (Regent)	वह आधिकारी जो एक राज्य या साम्राज्य के वैध-सम्राट के नाबालिग होने या अन्य कारकों की वजह से शासन करने में असमर्थ होने के कारण प्रतिनिधित्व करता है
सूबा	प्रांत; अकबर ने संपूर्ण साम्राज्य को 12 प्रांतों में विभाजित कर दिया और जिनको *सूबा* कहा गया। दक्खन की विजय के बाद 3 नए *सूबों* को शामिल कर लिया गया तथा अब इनकी संख्या 15 हो गई थी

6.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 6.2
2) देखें भाग 6.2
3) देखें उप-भाग 6.3.2
4) देखें उप-भाग 6.3.4
5) देखें भाग 6.4

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 6.5
2) देखें भाग 6.6
3) देखें भाग 6.7
4) देखें भाग 6.7

बोध प्रश्न-3

1) देखें भाग 6.8
2) देखें भाग 6.9
3) देखें भाग 6.11
4) देखें भाग 6.11

6.15 संदर्भ ग्रंथ

हसन, मोहिबुल, (1985) *बाबर फाउंडर ऑफ द मुग़ल एंपायर इन इंडिया* (नई दिल्लीः मनोहर पब्लिकेशन).

खान, ए. आर., (1977) *चीफ्टेनस इन द मुग़ल एंपायर इन द रेन ऑफ अकबर* (शिमलाः आई आई ए एस).

बेनी, प्रसाद, (1962) *हिस्ट्री ऑफ जहांगीर* (नई दिल्लीः इंडिया प्रेस).

त्रिपाठी, आर.पी., (1963) *राइज एंड फॉल ऑफ द मुग़ल एंपायर, 1526-1727* (आगराः शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी).

वर्मा, रमेश चंद्र, (1967) *फॉरेन पॉलिसी ऑफ द ग्रेट मुग़लसः सम आस्पैक्टस ऑफ अफगान डेसपोटिज़्म इन इंडिया* (आगराः शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी).

6.16 शैक्षणिक वीडियो

डिक्लाइन ऑफ द मुग़ल एम्पायर-1 | इग्नू एस ओ एस एस
https://www.youtube.com/watch?v=hAzVkgIdcqc

डिक्लाइन ऑफ द मुग़ल एम्पायर-2 | इग्नू एस ओ एस एस
https://www.youtube.com/watch?v=0CM6WrvsV-8

टॉकिंग हिस्ट्री |9| दिल्लीः द मुग़ल एंपायर अंडर हुमायूं | राज्यसभा टी वी
https://www.youtu.be/SeCpvMT_vA4

द मिथ एंड रियलिटी ऑफ एंपरर औरंगजेब – ऐन इलस्ट्रेटेड लेक्चर | हिंदु लिट फॉर लाइफ 2019
https://www.youtube.com/watch?v=riEfw0JbtB0